THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

152

YUDHIṢṬHIRAVIJAYA

of

MAHĀKAVI ŚRĪ VĀSUDĒVA

With Hindi Commentary

By

Prof VRAJĒŚACANDRA ŚRĪVĀSTAVA,

M A Śāstrī, Sāhityaratna.

D A V College, Kanpur.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1968

प्राक्कथनम्

विविधभाषाजननीस्वरूपायामस्या सुरभारत्या न जाने कियन्तोऽमूल्याः ग्रन्थाः अद्यापि विपश्चिन्मतितिरोहिताः विद्यन्ते येषामुद्धारः संस्कृतभाषा-रक्षणाय संस्कृतसाहित्यपिपठिषूणां कृते च अद्यतनैः विद्वद्वरेण्यैः सरल-संस्कृतभाषामाध्यमेन राष्ट्रभाषाहिन्दीभाषामाध्यमेन वा कर्तव्यः इत्यस्ति साम्प्रतिकी आवश्यकता। अस्माकं प्रियदेशस्य विविधप्रान्तेषु जातैः जायमानैश्च बहुभिः कविभिः लेखकैश्च प्रणीताः प्रणीयमानाश्च अनेके ग्रन्थाः अद्यापि समाजे, अन्धकारगर्ते यत्र-तत्र निमग्नाः, विकीर्णाः सन्ति, तान् प्राकाश्यमानेतुमस्माकमेव संस्कृतानुरागिणा परममुत्तरदायित्वमिति विमृश्य महाभारतकथासारस्वरूपमेतन्महार्घं ग्रन्थरत्नं मया राष्ट्रभाषायां व्याख्यातम्।

महाकविवासुदेवप्रणीतस्य युधिष्ठिरविजयमित्याख्यस्य महाकाव्यस्य वैशिष्ट्योपयोगित्वोत्कृष्टतादिप्रतिपादनाय मया भूमिकायां भृशं भूयिष्ठं च लिखितमस्ति। अत्र त्वहमेतदेव प्रार्थये भगवन्तं सच्चिदानन्दस्वरूप यदस्माकं समाजे विद्यमाना येऽद्यतना आत्मविस्मृताः स्वसंस्कृतिपरित्या-गिनः शान्त्यहिंसोपासकाः युधिष्ठिरम्मन्याश्च कर्णधारास्ते इमं ग्रन्थमधीत्य महाभारतोद्दिष्टसनातनसिद्धान्तान् आदर्शांश्च हृदयङ्गमय्य स्वराष्ट्रियजीवने व्यवहरन्तु येन देशस्य साम्प्रतिकी दयनीया सामाजिकराजनीतिकसांस्कृ-तिकस्थितिः स्वस्थतामुपगच्छेदिति।

अत्र नाहं कदापि चौखम्बाविद्याभवनवाराणस्याः प्रकाशकमहोदयान् विस्मर्तुं शक्नोमि यैरेवविधोऽमूल्यो ग्रन्थः हिन्दीव्याख्यया विभूषयितुं मह्यमदीयत। निश्चितमेव सन्ति भाजनानि ते महोदयाः बहुशः धन्यवादानाम्।

अन्ततः, विपश्चितः प्रति इयमस्ति मदीया विनम्रा प्रार्थना—यद्यस्मिन् व्याख्याग्रन्थे क्वचिद्, कदाचिद्, कश्चिद्दोषः समापतेच्चेषां दृष्टिपथे तर्हि मदीयमल्पज्ञत्वम् अथ च बालोत्साहं मनस्याकलय्य क्षन्तव्योऽसौ विबुधै-स्तैरिति शम्।

विजयादशमी वि० सं० २०२५	विदुषामाङ्किङ्करः **व्रजेशचन्द्रश्रीवास्तवः**

भूमिका

काव्यशास्त्र की उपादेयता

सासारिक प्राणियो के समस्त कार्य कलाप सुख व शान्ति की प्राप्ति के लिये ही इस ससार मे प्रवर्तित एव सम्पादित होते आ रहे हैं। ससार के भौतिक पदार्थों से मानव को शारीरिक सुख तो अवश्य प्राप्त होता है पर उसको आत्मिक सुख व सन्तोष 'लोकोत्तर निपुण कविकर्म' ही प्रदान कर सकता है। जीवन के उद्देश्यरूप चतुर्वर्ग फलप्राप्ति भी काव्य के द्वारा सभव है—'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव ' ' ' ॥' सा० द० १।२

'धर्मार्थकाममोक्षाणा वैचक्षण्य कलासु च।
करोति प्रीति कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्' ॥ काव्यालंकार १।२

इतना ही नहीं, पाश्चात्य आलोचक भारतीय आलोचको के समान इस मत से भी सहमत हैं कि काव्य केवल आत्मिक सन्तोष ही नहीं प्राप्त कराता प्रत्युत् जीवन के व्यवहार-ज्ञान से भी परिचय कराता है—

"It (Poetry) nourishes and instructs our youth; delights our age; adorns our prosperity, comforts our adversity; entertains at home; keeps us company abroad, travels with us, watches, divides the time of our earnest and sports, ... in so much as the wisest and the best learned have thought her the absolute mistress of manners, and nearest of kin to virtue." Ben Johnson

काव्यशास्त्र की उपादेयता मम्मट ने इन शब्दो मे व्यक्त की है—

'काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥'

काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसकी उपादेयता कुछ विषयो के अन्दर सीमित नहीं की जा सकती। वह तो समस्त ज्ञान-विज्ञान का सारतत्त्व होता है। काव्य-रचना व पठन-पाठन इसीलिए विश्व के प्रत्येक राष्ट्र मे अनादिकाल से होता आया है। अग्रेजी के प्रसिद्ध महाकवि (Wordsworth) का कहना है—

"Poetry is the breath and finer spirits of all knowledge"

यही कारण है कि कष्टप्रद योग तपश्चर्यादि साधनों को त्याग कर सुख-

साध्य काव्य-सेवन के द्वारा ही चरमोद्देश्य प्राप्ति करने के लिए लोगों की प्रवृत्ति होती है। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है—

'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥' काव्यालंकार ५।३

राजानक कुन्तक ने भी अन्य शास्त्रों को कडवी दवा के समान तथा काव्य को मधुर दवा के समान अविवेकरूपी रोग का नाशक कहा है—

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ॥' वक्रोक्तिजीवित।

काव्य-लक्षण

काव्य क्या है? इस विषय को लेकर अनेक अलंकारशास्त्रियों ने अपने-अपने लक्षण दिये हैं। 'कवि' और 'काव्य'—दोनों ही शब्द अति प्राचीन हैं। वेद में 'कवि' शब्द का प्रयोग 'सर्वज्ञ परमेश्वर' के लिये प्रयुक्त हुआ है—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (शु० यजु० ४०।८)

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लक्षण देकर रसोत्पादक शब्द को ही काव्य माना है। कोई विद्वान् 'शब्दार्थयुगल' को ही काव्य मानता है पर अनेक लक्षणों के अनुशीलन के उपरान्त दो ही लक्षण 'काव्य-परिभाषा' को सही रूप से प्रस्तुत कर पाते हैं एक तो—वाक्यं रसात्मकं काव्यम् और दूसरा—तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। दोनों ही लक्षणों के अनुसार काव्य में रस-निष्पत्ति प्रधान होती है। रस के बिना काव्य, काव्य नहीं फिर तो वह काव्याभास ही होगा। रस ही काव्य की आत्मा है अतः वास्तविक रूप से काव्य वही है जो पाठक को आनन्दित कर दे, उसकी हृदयतन्त्री को झंकृत कर दे, जैसा कि ध्वन्यालोककार का भी मत है—

'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्'।
(ध्वन्यालोक, १ म उद्योत)

महाकाव्य-लक्षण

पद्यकाव्य के प्रकारों में जो 'सर्गबन्धात्मक' काव्य प्रकार है उसे 'महाकाव्य' कहा जाता है—सर्गबन्धो महाकाव्यम्। चरित्र-वर्णन की दृष्टि से इस 'सर्गबन्ध' रूप महाकाव्य में एक ही नायक का चरित्र चित्रित किया जाता है। यह नायक-चाहे कोई देव-विशेष हो, या प्रख्यात वंश का राजा हो—ऐसा हुआ करता है जिसमें धीरोदात्त नायक के गुण विद्यमान रहा करते हैं। किसी-किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेकों कुलीन राजाओं की चरित्र-चर्चा भी दिखाई

देती है। रसाभिव्यंजन की दृष्टि से शृङ्गार, वीर और शान्त रसो में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रूप में परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनो रसो में से जो रस भी 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' रखा जाये, उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अङ्ग' अथवा 'अप्रधान' रूप में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। संस्थान-रचना की दृष्टि से नाटक की सभी सन्धियाँ महाकाव्य में आवश्यक मानी गयी है। इतिवृत्त-योजना की दृष्टि से कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध-वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। वैसे तो उपयोगिता की दृष्टि से महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण किया जाया करता है किन्तु परम-फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्ध युक्तियुक्त माना गया है।

इन उपर्युक्त स्वरूप-संगत विशेषताओं के अतिरिक्त कतिपय अन्यान्य भी विशेषताएँ हैं जो सर्गबन्धरूप महाकाव्य में पायी जाया करती हैं। जैसे कि (१) महाकाव्य का आरम्भ मंगलात्मक हुआ करता है। यह मंगल या तो नमस्कारात्मक हो या आशीर्वादात्मक हो या वस्तुनिर्देशात्मक हो—महाकवि की इच्छा या विषय-वर्णन पर निर्भर है। (२) किसी-किसी महाकाव्य में 'खल-निन्दा' तथा 'सत्प्रशंसा' भी उपनिबद्ध रहा करती है। (३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में बद्ध पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्गान्त में उस वृत्त को छोडकर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है। (४) आठ सर्गे से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करते और ये सर्ग भी ऐसे हुआ करते है जो न तो बहुत छोटे हो और न बहुत बडे। (५) किसी-किसी महाकाव्य में भिन्न-भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यो से सर्ग-निर्माण हुआ करता है। (६) किसी सर्ग के अन्त में उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है। (७) सर्गबन्धात्मक-काव्य में इन-इन विषयो का यथासम्भव किंवा यथास्थान साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाया करता है—

(१) संध्या (२) सूर्य (३) चन्द्र (४) रात्रि (५) प्रदोष (६) अन्धकार (७) दिन (८) प्रातःकाल (९) मध्याह्न (१०) मृगया (११) पर्वत (१२) ऋतु (१३) वन-उपवन (१४) समुद्र (१५) सम्भोग (१६) विप्रयोग (१७) मुनि (१८) स्वर्ग (१९) नगर (२०) यज्ञ (२१) संग्राम (२२) यात्रा (२३) विवाह (२४) सामाद्युपायचातुष्ट्य (२५) पुत्रजन्म आदि आदि। (८) महाकाव्य का नामकरण संस्कार कवि के नाम पर, वर्ण्य चरित के आधार पर, नायक के नाम के अनुसार, अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता है और (९) महाकाव्य के सर्ग का भी

नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य-वृत्त के अनुसार हुआ करता है (देखिये सा० दर्पण ६।३१५-३२५)।

उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार 'युधिष्ठिर-विजय' अष्टसर्गबन्धात्मक रचना है। इसके नायक उदात्त एवं प्रख्यात-पाण्डुवंशीय राजा युधिष्ठिर हैं। रसाभिव्यंजन की दृष्टि से इसमें, युद्धकाव्य होने के कारण, मुख्यरूप से वीररस का वर्णन है पर आनुषङ्गिक रूप में यथास्थान अन्यान्य रसों का भी वर्णन किया गया है। इसका मंगलाचरण आशीर्वादात्मक है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'आर्या' वृत्त में रचित है पर सर्ग के अन्त में छन्द को नियमानुसार बदला भी गया है। लोकप्रसिद्ध-महाभारत का इतिवृत्त है। इसमें युद्ध-यात्रा, हस्तिनापुर, समुद्र, नदी, तडागादि, गन्धमादन पर्वतादि, सेनानिवेश, छ ऋतुएँ, जलक्रीडा, वनविहार, सायंकाल, चन्द्रोदय, मद्यपान, प्रभात, सेनाप्रयाण, यज्ञसभा, द्वन्द्वादियुद्ध आदि का भी यथास्थान साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। अन्ततोगत्वा युधिष्ठिर नायक की ही विजय होने से इस ग्रन्थ का नाम भी 'युधिष्ठिर-विजय' रखा गया है।

'युधिष्ठिरविजय' काव्य की श्रेष्ठता

इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता अपने कुछ निजी मौलिक तत्त्वों के कारण है। पाठकों ने संस्कृत साहित्य में अनेक प्रकार के महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पू, नाटकादि का अनुशीलन किया होगा। वैसे तो बृहत्त्रयी एवं लघुत्रयी के रचयिताओं के समान इस ग्रंथ में न तो भाव पक्ष की दृष्टि से उतनी प्राञ्जलता और सहृदयहृदय-संवेद्यता है जिससे कि इस ग्रन्थ को हम उस कोटि में रख सकें फिर भी महाकवि वासुदेव द्वारा विरचित इस काव्य में कई निजी विशेषताएँ हैं जिनकी विस्तृत-सोद्धरण-व्याख्या तो हम 'काव्य की समीक्षा' के अन्तर्गत करेंगे पर संक्षेप में मोटे तौर पर हम यहाँ एक आध विशेषताओं की ओर संकेत करना आवश्यक समझते हैं।

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य के इतिहास की ओर सिंहावलोकन करने के पश्चात् एक बात यह देखने में आती है कि अनेक विद्वान् कवियों एवं नाटककारों ने रामायण और महाभारत की कथाओं को लेकर अनेक महाकाव्यों और नाटकों की रचना की है। उन काव्यों में मुख्य कथांश तो छोटा है पर कवि ने अपनी प्रज्ञा व कवित्व शक्ति को प्रकाशित करने के यथा सम्भव एवं यथाशक्ति प्रयास किये हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या सम्पूर्ण महाभारत को काव्यमय रूप प्रदान करने में उन दिग्गज कवियों का असामर्थ्य मुख्य कारण था अथवा कुछ और ? तो सूक्ष्म समीक्षा करने पर यह पता लगता है कि कवियों ने एक आध घटना या कथा को लेकर लिखने में अधिक सरलता का अनुभव किया होगा।

शायद उन्होंने यह भी सोचा हो कि जब सम्पूर्ण महाभारत विद्यमान ही है तो उसी को पुन. लिखने मे क्या प्रयोजन ? अपनी शक्ति को निरर्थक ही क्यो व्यर्थ किया जाये ? अत किसी सरस कथाश को लेकर ही उससे सहृदय या भावुक पाठको का मनोरजन क्यो न किया जाये ? यह बात कुछ हद तक सही भी बैठती है। अत ऐसी स्थिति मे जहा कि प्रकाण्ड-पण्डितो की दृष्टि भी न पहुँची हो (अथवा विशालकाय महाभारत को काव्यबद्ध करने मे हिम्मत पस्त हो गयी हो) महाकवि वासुदेव द्वारा महाभारत के पीयूष-पयोधि को अष्टसर्गीय महाकाव्यरूप गागर मे भर देने का कार्य क्या स्तुत्य नही ? मैं समझता हूँ कवि का यह प्रयास सर्वथा व्यावहारिक, सर्वजनोपयोगी एवं प्रशसनीय है। शायद उसके मन मे ऐसे महाकाव्य की रचना का अकुर सस्कृत साहित्य मे तत्सम ग्रन्थ के अभाव के कारण ही उदित हुआ होगा। कवि वासुदेव ने राजा पाण्डु के शिकार से कथा को प्रारम्भ करके युधिष्ठिर के पुन सिंहासनाधिष्ठित होने तक की कथा को अपने कहाकाव्य मे समाहृत किया है। महाभारत तो विश्वकोष (Cyclopaedia) कहा जाता है और इसी कारण विद्वानो मे 'यन्न भारते तन्न भारते' की उक्ति प्राचीन काल से चली आ रही है। उसके लक्षावधि श्लोको की अतिविस्तृत कथा को सक्षेप मे पाठको के सामने रखना अत्यन्त आवश्यक था। सम्पूर्ण महाभारत को पढना और समझना सबके वश की बात नही क्योकि इसके लिये अधिक समय एव बुद्धि की आवश्यकता है। कवि वासुदेव ने इस कार्य को पूरा करके पाठको की आवश्यकता व जिज्ञासा को पूरा किया है। इस ग्रन्थ की यह उपादेयता ही इसे एक 'श्रेष्ठ-काव्य' घोषित करने के लिए पर्याप्त है।

इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता इसका 'चित्रकाव्यत्व' होना है। वैसे तो मम्मटादि अनेक आलकारिको ने 'चित्र काव्य' को 'अवर काव्य' बतलाया है क्योकि उसमे रस का स्थान कवि का पाण्डित्य ले लेता है। कवि की सप्रयास—रचना के कारण इसमे शब्दचित्र ही देखने को मिलता है और भावचित्र का अभाव सदैव खटका करता है। पर यह वासुदेवविरचित यमकप्रधान चित्रकाव्य इस कोटि का काव्य नहीं कि हम उसे अवर या निम्न मान लें, भले ही कवि की सम्पूर्ण रचना यमकमय हो पर इसकी रचना मे कवि को अधिक प्रयास नहीं करना पडा है। शब्द और भाव का समन्वय इसमे अनूठा है। कवि को शब्द ढूँढने नही पडे है ,पर वे स्वयं ही कवि की लेखनी से निकले हैं—ऐसा लगता है। कवि ने कहीं पर यह भी गर्वोक्ति (हर्षादि के समान) नही प्रकट की है कि वह यमकमय काव्य की अनूठी रचना करने जा रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य तो पाठको के सामने सम्पूर्ण महाभारत को सक्षेप मे रखना है न कि अपना प्रखर पाण्डित्य दर्शाना है। हां, इतना अवश्य है कि कवि के इस

यमकालकार के सर्वत्र प्रयोग के कारण ग्रन्थ मे दुरूहता आ गयी है जो किसी भी टीका के अभाव मे सुलझाना कठिन है पर इतने से ही तो हम इसे 'निकृष्ट-काव्य' घोषित करके हेय नही बतला सकते। संस्कृत साहित्य मे तो एक ही वर्ण को लेकर रचना करने वाले तथा पण्डितजनो को चुनौती देकर रचना करने वाले माघ, भारवि और हर्ष जैसे अनेक कवि हुए हैं जिनके काव्य के अर्थ करने मात्र मे ही टीकाकारो व पाठको को न जाने कितनी माथा-पच्ची करनी पड़ती है। जब उनके पाण्डित्य-प्रधान ऐसे काव्यों को निकृष्ट नही बतलाया जाता तो फिर यह भी भला कैसे हेय हो सकता है। इसमे तो न वह गर्वोक्ति है, न प्रतिस्पर्धा और न ही पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना या लालसा। इसकी प्रतिविचित दुरूहता भी बोध्य है। अत इन सभी तर्कों के बाद हम यह अवश्य कह सकते है कि संस्कृत साहित्य मे यह एक अनूठा चित्रकाव्य है जिसमे शब्द, अर्थ तथा भावो के चित्रो की एक साथ झाकी देखने को मिलती है।

इस काव्य को पढने के पश्चात् हमे बरबस ही यह कहने के लिये बाध्य हो जाना पड़ता है कि यह काव्य वास्तव मे ही अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण श्रेष्ठ है। शृङ्गार-रस के सरोवर मे निरन्तर गोते लगाने वालो को भी इसमे एक अनुपम आनन्द प्राप्त होता है फिर महाभारत की कथा तो वैसे भी कलिमल-कलुष-नाशिनी है। संस्कृत साहित्य प्रेमी पाठको के समक्ष ऐसा काव्य-रत्न अभी तक जो अनुशीलन-परिशीलन, अध्ययन-अध्यापन का विषय नही बन पाया है उसका मुख्य कारण विद्वानो का कतिपय विशिष्ट ग्रन्थो के प्रति पक्षपात ही कहा जावेगा।

कवि-परिचय

(क) जीवन-वृत्त—संस्कृत-साहित्य मे वासुदेव नाम के अनेक कवि हुए हैं जिनमे से ही एक 'युधिष्ठिर-विजय' महाकाव्य के रचयिता भी हैं (द्रष्टव्य-सूची-पत्र History of Classical Sanskrit Literature' by M Krishnamachariar and article on Ramakatha—A study by K R, Pisharoti, Bull of or studies, V iv)।

महाकवि वासुदेव 'रवि'-पुत्र और 'भारतगुरु' के शिष्य थे, जैसा कि 'युधिष्ठिर-विजय' के प्रारम्भ मे ही लिखा गया है—

'वेदानामध्यायी भारतगुरुरभवदाद्यनामध्यायी' ॥ १।६ ॥
'समजनि कश्चित्तस्य प्रवण शिष्योऽनुवर्तकश्चित्तस्य।
काव्यानामाश्रोने पद्मनसो वासुदेवनामा लोके' ॥ १।९ ॥

इनका दूसरा नाम 'महाभारत-भट्टात्रि' भी था जो सम्भवत महाभारत का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के कारण पडा होगा। ये 'त्रावनकोर' मे 'विप्रसत्तम' नामक स्थान मे निवास करते थे। मालाबार की परम्परा इनके बाल-जीवन के विषय मे कुछ कथा की ओर सकेत करती है जिसके अनुसार ये अपने गुरुओ के शिष्यो के द्वारा उच्चारित पुराणो और शास्त्रो के सुनने मे विशेष चाव रखते थे। शिक्षा के अभाव मे ये उन शब्दो का साफ-साफ उच्चारण नहीं कर पाते थे अत इनके साथी भी इनका 'वसु' नाम बिगाडकर और 'वसु' कह-कहकर चिढाया करते थे। ये नित्य ही अपने गाँव से दूर, 'तिरुवील्लक्कावु' मे स्थित मन्दिर मे पूजा के लिये जाया करते थे। नित्य की ही भाति जब एक बार पूजा करके मन्दिर से लौट रहे थे तभी बडे जोरो से वर्षा होने लगी और नौका जिस पर ये बीच मे पडने वाली छोटी सी नदी को पार करते थे, वह दूसरे किनारे पर पडी थी। नदी भी काफी चढ आयी थी। 'भट्टात्रि' लौटकर मन्दिर वापस आ गये और वह रात उन्होंने वहीं गुजारी। वर्षा जोरो से हो रही थी और उनके शरीर पर एक ही भीगा कपडा था। दु खी होकर उन्होंने अपने इष्टदेव की प्रार्थना की। आराध्यदेव ने उन्हे लकडियाँ और अग्नि प्रदान की जिससे उन्होंने अपने शरीर को गर्म किया। उसके द्वारा दिये गये फलो से उन्होंने अपनी क्षुधा मिटाई। फल खाने के बाद ही वह ईश्वर की प्रेरणा मे उच्चकोटि के कवि बन गये। प्रात काल भगिन मन्दिर साफ करने आयी। उसने 'भट्टात्रि' से यह आश्चर्यकारी बात सुनकर उसके द्वारा फेंके गये जूठे और बचे हुए फलो को खा लिया। कहते हैं वह भी एक उच्चकोटि की कवयित्री हो गयी (Travancore State Manual, II. 427)। इस कथा से यह सिद्ध हो जाता है कि महाकवि वासुदेव दक्षिण-भारत के निवासी थे। अत 'काव्य-माला' बम्बई के सम्पादक शिवदत्त और काशीनाथ का यह तर्क, कि काश्मीर को छोडकर अन्यत्र इसका प्रचार कम होने के कारण तथा काश्मीरिक राजानक-रत्नकण्ठ लिखित व्याख्या प्राप्त होने के कारण इस कवि के आश्रयदाता राजा कुलशेखर और कवि दोनो ही काश्मीरी होने चाहिये, असगत प्रतीत होता है—"काश्मीरमन्तरास्य काव्यस्य विरलप्रचारत्वेन काश्मीरिकावेवैतौ पार्थिवपण्डितौ भवेताम्। अत एवास्योपरि काश्मीरिकराजानकरत्नकण्ठकृतैव व्याख्या समुपलब्धा।"

(ख) स्थितिकाल—महाकवि वासुदेव ने अपने आश्रयदाता का नाम 'युधिष्ठिर-विजय' मे कुलशेखर बतलाया है तथा अपने अन्य दो ग्रन्थो मे 'राम' नामक शासक बतलाया है—'तस्य च वसुधामवत· काले कुलशेखरस्य वसुधामवत.'॥ दोनो ही राजा ९ वी शताब्दी मे विद्यमान थे अत· महाकवि

का भी यही समय ठहरता है।[1] संस्कृत-साहित्य-जगत में कुलशेखर नामक कई विद्वान् कवि और राजा हो चुके हैं (द्रष्टव्य Article by A.S Ramnath Ayyar, Tr Arch Jl Vol V pt. 2)। महाकवि वासुदेव के आश्रयदाता राजा कुलशेखर 'मुकुन्दमाला' के रचयिता कुलशेखर से भिन्न हैं क्योंकि वह (मुकुन्दमाला का रचयिता) वैष्णव-सन्त था और वासुदेव के आश्रयदाता से काफी पहले हुआ था। महाकवि वासुदेव के आश्रयदाता राजा कुलशेखर को कुछ विद्वानों ने 'सुभद्राधनञ्जय' और 'तपतीसंवरण' नामक दो नाटकों का रचयिता माना है। महाकवि वासुदेव केरलनिवासी थे अत. उनके आश्रयदाता भी केरलवासी ही थे। इस तर्क के आधार पर 'काव्यमाला' बम्बई के सम्पादक शिवदत्त और काशीनाथ का यह कहना कि कवि वासुदेव १२ वीं शताब्दी में हुए होंगे, असगत प्रतीत होता है—'यदि च सिंहलद्वीपतो नि सारित कुलशेखर-नृप एवाय भवेत्तर्हि सिंहलद्वीपेतिहाससवादाद्वादशशतिकायामासीत्' इति—Indian Antiquary Vol VI p 143 (1877) लिखित एवाय कुलशेखरो भवेत्, तर्हि युधिष्ठिरविजयकर्तुर्वासुदेवकवेरपि द्वादशशिस्ताब्दशतिका समयोऽवसीयते'।

(ग) रचनायें— महाकवि वासुदेव की तीन प्रामाणिक रचनायें मानी जाती हैं—युधिष्ठिरविजयम्, शौरिकथोदयम्, त्रिपुरदहनम्। कवि की एक और भी रचना बतलायी जाती है—'नलोदय'—जिसे कुछ विद्वान् कालिदासकृत भी बतलाते हैं।

'युधिष्ठिरविजयम्' आठ आश्वासों का एक महाकाव्य है। यह 'आर्या' वृत्त में रचित है। इसमें तत्कालीन शासक 'कुलशेखर' बतलाया गया है। इस महाकाव्य में महाभारत की 'राजा पाण्डु के शिकार से लेकर राजा युधिष्ठिर के युद्धोपरान्त राज्याभिषेक तक' की कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ पर राजानक रत्नकण्ठ की टीका के अतिरिक्त 'सोवकनाथ', पुत्र 'सुदर्शन' निवासी 'सततुर' ('श्रीरगम्' के निकट) की भी एक टीका प्राप्त हुई है।

'शौरिकथोदय' और त्रिपुरदहन' नामक काव्यों में शासक राजा का नाम राम बतलाया गया है। ये 'राम' और 'कुलशेखर' दोनों ही नाम एक राजा के हैं। 'शौरिकथोदय' नामक काव्य में हरिवंश से सम्बन्धित कृष्ण के जीवन का वर्णन है। उसमें जन्म से लेकर बाणासुर-विजय तक की कथा का उल्लेख हुआ

---

[1] For the identification of Kuls'ekhar and Rāma, see A S Ramnath Ayyar, Nalodaya and its author (J My, XIV, 302–11)

काव्य मे किया गया है। इस ग्रन्थ पर 'मुक्तिस्थल' निवासी, 'ईशान' पुत्र नीलकण्ठ की टीका प्राप्त हुई है। 'त्रिपुरदहन' काव्य मे शकर द्वारा तीन पुरो के दाह की कथा वर्णित है। इस पर भी एक टीका रची गयी है। टीकाकार ने अपना नाम तो नही दिया है पर अपने को 'निखप्रिय' का पुत्र वतलाया है। ये तीनो ही रचनायें यमक-काव्य के उदाहरण हैं—

'कीर्तिमदभ्रा तेन स्मरता भारतसुधामदभ्रान्तेन।
जगदुपहामाय मिता पार्थकथा कल्मषापहा सा यमिता ॥'
'ववन्धुरेव वन्धुरे स्ववर्त्मनि स्थिति जना।
पिनाकिनापि नाकिनाममोदि मोदकारिणा ॥'

श्री ए० एस० रामनाथ अय्यर ने अपने एक लेख (Nalodaya and its author Jmy xiv 362) मे महाकवि वासुदेव की एक अन्य भी रचना—नलोदय—वतलायी है जिसे कुछ विद्वान् कालिदासकृत मानते हैं। मालावार की एक पाण्डुलिपि (DC, 7886, R no 1852) मे ये तीनो ही काव्य एक साथ लिखे हुए पाये गये हैं। अत संभव है कि श्री अय्यर का यह अनुमान कुछ हद तक सही हो।

'नलोदय' चार सर्गों का एक छोटा सा काव्य है। इसमे महाराज नल का जीवन-चरित वर्णित है। इसमे कवि का मुख्य-लक्ष्य अपने विभिन्न छन्दो के रचना-कौशल को प्रदर्शित करना है। इस पर लगभग २० टीकायें पायी गयी हैं।

रामर्षि ने 'नलोदय' पर रचित अपनी टीका (१६०७ ई०) मे इसको नारायणपुत्र रविदेव की रचना वतलाया है—

'इति वृद्धव्यासारमजमिश्ररामर्षिदाधीच्यविरचिताया रविदेवविरचितमहाकाव्यनलोदयटीकाया यमकबोधिन्या नलराज्यप्राप्तिर्नाम चतुर्थ आश्वास ।'

(JBAS, Extra No. 1887, p. 337)

परन्तु 'विष्णु' नामक एक अन्य टीकाकार, रविपुत्र वासुदेव को इस ग्रन्थ का रचयिता मानते हैं—

'इति नलोदये वासुदेवकृते चतुर्थः परिच्छेद।
रवितनुभूयमिताया कृतेर्गतिश्शब्दचित्रभूयमिताया।
जनहासायमिताया धियश्च विदुना मयाधुना यमिताया ॥'

जिस प्रकार वासुदेवविरचित 'त्रिपुरदहन' मे राजा 'राम' का उल्लेख आया है उसी प्रकार इस ग्रन्थ—नलोदय—के प्रारम्भ के श्लोको में तत्कालीन शासक 'राम' का उल्लेख आया है अतः इस साम्य से श्री ए० एस० अय्यर यह निष्कर्ष

निकालते हैं कि 'त्रिपुरदहन' के रचयिता (वासुदेव) की ही कृति 'नलोदय' काव्य भी है जो नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थित था। यदि श्री अय्यर की यह युक्ति सही मान ली जाये तो महाकवि वासुदेव की चार कृतियाँ हो जायेंगी।

राजानक श्री रत्नकण्ठ-परिचय

'युधिष्ठिरविजय' नामक महाकाव्य के प्रस्तुत टीकाकार 'राजानक-रत्नकण्ठ' हैं। ये काश्मीर के 'धौम्यायनगोत्र' के विद्वद्वर राजानक श्रीकण्ठ के पुत्र थे। ये एक उच्च कोटि के कवि और अलङ्कारशास्त्री थे। इन्होंने सर्ग-समाप्ति, टीका प्रारम्भ तथा चतुर्थदिवाससमाप्त्युत्तर में जो कुछ लिखा है उससे इनका समय १७ वीं शताब्दी ठहरता है—

'शिष्यहिताभिधटीका तु राजानकशङ्करकण्ठात्मजराजानकरत्नकण्ठेन गङ्गाधर-शिष्याध्यापनाय अवरङ्गशाहिभूपे पृथ्वीं शासति सति १५९३ शालिवाहनशके विरचिता'—सर्गसमाप्तिलेख।

'रामाङ्केषुशशाङ्कै (१५९३) प्रमिते वर्षे शकेन्द्राणाम्।
अवरङ्गशाहिभूपे शासति सति मेदिनीचक्रम्॥
धर्मात्मजविजयाख्ये सुगभीरे सन्निबन्धेऽस्मिन्।
टीका शिष्यहितैषा विधीयते रत्नकण्ठेन॥' टीकाप्रारम्भश्लोक।

'वस्ववह्निसप्ताब्ज (१७२८) मिते वर्षे विक्रमभूभृत।
कृतैषा रत्नकण्ठेन टीका शिष्यहिताभिधा॥
गङ्गाधरस्य पाठार्थं सुशिष्यस्योपयोगिनी।
टीकैषा विहिता तेन मज्जनानन्ददायिनी॥' चतुर्थदिवाससमाप्त्युत्तर।

इसके अतिरिक्त काश्मीर में एक 'आनन्द' नामक 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार १६६५ ई० में हुए जिन्हें आज भी काश्मीरी पण्डितों की परम्परा राजानक रत्नकण्ठ का समकालीन और मित्र मानती है। (Stein's Kashmir's Catalogue, Introduction XXVII)। जिसके अनुसार राजानक रत्नकण्ठ का समय भी १७ वीं शताब्दी निश्चित होता है।

टीकाकार श्री राजानक रत्नकण्ठ की इस टीका के अतिरिक्त अन्य भी कई कृतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनके द्वारा सूर्य की स्तुति में १६८०–१ ई० में 'रत्नशतक' या 'चित्रभानुशतक' की रचना की गयी। १६८१–२ ई० में इन्होंने रत्नाकर प्रणीत 'हरविजय' महाकाव्य पर टीका लिखी। १६८०–१ ई० में 'जगद्धर'कृत 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' और 'यशस्कर' कृत 'देवीस्तोत्र' काव्यों पर अपनी टीकायें

लिखी। १६८०-१ ई० में 'जगद्धर' कृत 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' और 'यशस्कर' कृत 'देवीस्तोत्र' काव्यों पर अपनी टीकाएँ लिखी। इन्होंने 'मम्मट' कृत 'काव्यप्रकाश' पर भी अपनी एक टीका लिखी है जिसका नाम कुछ लोग 'सारसमुच्चय' और कुछ लोग 'सङ्केत' बतलाते है—

'काव्यप्रकाशसङ्केतो ग्रन्थकारकृतो मया।
प्रलेखि रत्नकण्ठेन वर्षे खागाह (१५७०) सम्मिते॥'

प्रथमोल्लाससमाप्तिलेख ।

'काव्य-प्रकाश' पर लिखित टीका का अन्य एक सबल प्रमाण एक पाण्डुलिपि है जो कश्मीर में उपलब्ध हुई है जिसके प्रथम उल्लास में इस प्रकार का उल्लेख आया है—

'इति श्रीमद्राजानकालटमम्मटरुचककविरचिते निजग्रन्थकाव्यसङ्केते'—
(Stein's Kashmir's Catalogue, XXV)।[१]

कवि वासुदेव का पाण्डित्य

महाकवि वासुदेव ईश्वर की प्रेरणा से एक उच्च-कोटि के कवि हुए थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा विरचित तीन यमकमय-काव्य ही उनके प्रकाण्ड-पाण्डित्य के परिचायक है। वे चित्रकाव्य रचना में सिद्धहस्त हैं, पर उनका चित्रकाव्य केवल शब्द-चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता उसमें शब्द और अर्थ का सुभग-समन्वय है। अत: अन्य चित्रकाव्यों की अपेक्षा कवि-वासुदेव विरचित चित्रकाव्य विलक्षण एवं अद्भुत है।

महाकवि के तीन ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से बतलाये जाते है। तीनों ही काव्यों की विशेषता यह है कि वे यमकमय हैं। कवि को केवल यमक-रचना में ही नैपुण्य नहीं प्राप्त है प्रत्युत् नाना-प्रकार की वृत्त-रचना में भी वे उतने ही प्रवीण हैं। यदि 'नलोदय' काव्य को हम वासुदेव रचित ही मान लें, जैसा कि श्री अय्यर का मत है तो निश्चित ही उसके द्वारा हमें उनकी प्रतिभा का सहज-आभास हो जावेगा। यही कारण है कि प्राय: २० टीकायें इस छोटे से काव्य पर रची जा चुकी हैं। टीकायें अधिक उसी काव्य पर लिखी जाती हैं जो या तो अत्यधिक लोकप्रिय हो, महत्त्वपूर्ण हो या क्लिष्ट हो।

प्रस्तुत महाकाव्य कवि वासुदेव की बहुश्रुतता एवं अगाध ज्ञान का द्योतक है। उन्हें महाभारत का पूर्ण ज्ञान है बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि महाभारत में उनकी पूर्ण पैठ है और इसी कारण संभवत: उनका दूसरा नाम 'महाभारत-भट्टात्रि' पड़ा था। इतनी विशाल एवं विस्तृत कथा को क्रमबद्ध रूप

१. रत्नकण्ठ के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये देखें—
'Introduction to Rājtarangini, VII' By Dr. M. A. Stein, Ph. D.

से अद्भुतीय काव्य में समाहृत कर देना कोई कम आश्चर्य की बात नहीं। संस्कृत-साहित्य में वैसे अन्य प्रसिद्ध कवियों में प्राय यही देखा गया है कि वे अत्यल्प कथा को कोरी कल्पना का बाना पहनाकर चमत्कारी तो बना देते है पर उससे पाठकों का कोई विशेष लाभ नहीं होता। युधिष्ठिर-विजय महाकाव्य की रचना कवि ने व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर की है। उसने 'जगत् के उपहास के लिये नहीं' बल्कि जगत् के उपकार के लिये इस काव्य की रचना की है। अत इसमें कवि ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के साथ-साथ पाठकों के लाभ को भी ध्यान में रखा है।

'युधिष्ठिर-विजय' महाकाव्य के अनुशीलन से यह पता चलता है कि कवि वासुदेव अनेक विषयों के ज्ञाता हैं। वे वेद, पुराण, स्मृति, राजनीति, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, युद्ध-शास्त्र एव दर्शन-शास्त्रादि मे भी समानरूप से पैठ रखते हैं। महाभारत के साथ-साथ उनका पौराणिक ज्ञान भी अत्यन्त गहन है। ग्रन्थ के विस्तार के भय से उन्होंने अपने इस ज्ञान को पाठकों के सम्मुख सकेत-रूप में ही प्रस्तुत करने का सदैव प्रयास किया है। सातवे आश्वास मे कवि ने भीम के मुख से नरसिहावतार, दाशरथावतार की ओर सकेत किया है—

'मुञ्चति नैष भवन्तु प्रद्वेष्येन च यादवर्षभवन्तु।
नौज्झसिंहावतार हरिं हि दाशरथौ हर स्वमिहाकारम् ॥' ८-५५ ॥

कवि अपने पौराणिक ज्ञान से पाठकों को सदैव सक्षिप्त भाषा में ही परिचित कराता है। भगवान् विष्णु ने पुराणों के अनुसार १० अवतार धारण किये है जिनका वर्णन कवि ने सक्षेप में ३रे आश्वास में, युधिष्ठिर की अग्रपूजा-शका के समाधान के रूप में, भीष्मपितामह के मुख से करवाया है। कवि वासुदेव ने क्रमश मत्स्यावतार (३ ४१), कच्छपावतार (३ ४२), सूकरावतार (३ ४३), नरसिहावतार (३ ४४), वामनावतार (३ ४५), भार्गवावतार (३ ४६), रामावतार (३ ४७), बलरामावतार (३ ४८), कृष्णावतार (३ ४९) एव कल्कि-अवतार (३ ५०) की सकारण एव सप्रयोजन व्याख्या प्रस्तुत की है जो उनके अगाध-पौराणिक-ज्ञान का ज्वलन्त उदाहरण है।

कवि वासुदेव वेद एव स्मृति-मार्ग के अनुयायी है अत यत्र-तत्र वे अपनी बात की पुष्टि के लिये मनुस्मृति को ही उद्धृत करते हैं। महाराज पाण्डु सन्तान के अभाव में क्यों दुखी रहते थे? इसका उत्तर वे मनुस्मृति के एक वाक्य को उद्धृत करके देते है—

'विफलेहा नाम नृणा जानिमकृत्वा पितामहानामनृणाम् ॥' १ १६ ॥

इसी प्रकार राजा पाण्डु की मृत्यु पर रानी माद्री का सती हो जाना भी स्मृति-मार्ग का अनुसरण ही है। स्मृति का कहना है कि जो पतिव्रता अपने पति

का मरने के बाद भी अनुसरण करती है वह स्वर्ग में अपने पति के साथ रमण करती है—

'रमते नाकमिनार मृतमप्यन्वेति याङ्गना कमितारम्' ॥ १ २५ ॥

महाकवि वासुदेव एक कुशल शासक 'कुलशेखर' (अथवा 'राम') की राजसभा मे निवास करते थे। अत राजनीति-दर्शन मे वे उतने ही निष्णात थे जितना कि वेद, पुराण एव स्मृति आदि मे। कवि के इस ज्ञान के परिचय के लिये युधिष्ठिर-विजय का चौथा आश्वास विशेष महत्त्व का है। महाराज युधिष्ठिर वनवास के १२ वर्ष बिता रहे है। यह देखकर द्रौपदी को यह शंका होने लगती है कि भला शत्रुओ का नाश हो भी सकेगा कि नही। वह सहसा उद्विग्न हो उठती है और राजा युधिष्ठिर को आवेश मे आकर राजनीति का उपदेश देने लग जाती है। वह कहती है—

'राजन्! आपका तो धर्म शत्रुओ का नाश करना है न कि योगियो के समान जगलो मे अन्न खाते हुए पडे रहना। हे राजन्! सौभाग्यश्री केवल सत्यवादी एव स्वाध्यायनिष्ठ पुरुषो के द्वारा नही प्राप्त की जाती। उसके लिए तो प्रयास करना पडता है, युद्ध करना पड़ता है—

'सत्यगिरा जपना वा केवलमाप्ता जनाधिराजपताका' (४ २४)।

द्रौपदी का कहना है कि राजधर्म सिधाई से पालन नही किया जा सकता, उसमे तो कठोरता अपनाना आवश्यक है। लोक मे देखा जाता है कि लोग तेजस्वी सूर्य को तो प्रणाम करते हैं पर इन्द्र को नही—

'भवति महाराज नता तीक्ष्णे न मृदौ कृतोपहारा जनता।
त्रिजगद्भानु नमति त्रिसन्ध्यमिन्द्र न तत्प्रभानुन्नमति ॥' ४ २५ ॥

कवि द्रौपदी के मुख से पाठको को यह भी बतलाता है कि 'जो लोग शत्रुओ के प्रति क्षमाभाव धारण करते हैं, वे राजनीति नही धारण कर सकते।' इस प्रकार कवि राजनीति के ज्ञान मे भी पूर्ण परिचित है। वह कोरा कल्पना-प्रेमी कवि ही नही बल्कि शासन, राज्य और व्यवहार के ज्ञान से परिपूर्ण है।

'युधिष्ठिर-विजय' यद्यपि एक युद्ध-काव्य है फिर भी कवि ने महाकाव्य के लक्षणो को निभाने की दृष्टि से इसमे यथास्थान वात्स्यायन के कामशास्त्र का भी अनुसरण किया है जिससे कि उसका इस क्षेत्र मे भी नैपुण्य प्रदर्शित होता है। द्वितीय आश्वास मे उसने पानगोष्ठी के बाद सुरतवर्णन किया है जिसमे क्रमश रतिकूजन, अधरदंशन, कम्प का 'कल-कल' एव रति-कलह का सुन्दर वर्णन हुआ है। 'मद-पान मे मतवाली स्त्रियाँ रति के लिये शयनो पर लेट गयी (२ १०५)। प्रेमियो ने वधुओ के वस्त्रो को खीचा (२ १०६)। रतिक्रीडा मे वीणा को भी

पराजित करने वाला स्त्रियों का रतिकूजन हुआ। प्रियतमों के द्वारा पान किया गया स्त्रियों का अधर और अधिक लालिमा को धारण करने वाला हुआ (२ १०७)। उस रतिनाटक में रोमपंक्ति और वलियों के साथ उन स्त्रियों के कुचभार भी नृत्य करने लगे (२ १०९)। रति के पसीने के कारण उनकी सारी सजावट मिट गयी और वे और अधिक सुन्दर लगने लगीं' (२ १११)। इस प्रकार के वर्णन कामशास्त्र से सर्वथा अभिज्ञ कवि के द्वारा ही बन सकते हैं। कवि के इस क्षेत्र में पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये इतना ही पर्याप्त है।

वैसे तो कवि के पाण्डित्य प्रदर्शन के उदाहरण के लिये सम्पूर्ण ग्रन्थ ही है फिर भी कवि ने कई एक स्थानों पर अपने श्लोकों में, क, इ, अ, उ आदि वर्णों के द्वारा भी कई-कई अर्थों की कल्पना की है जो बड़े ही चमत्कारी हैं। उदाहरण के लिये पाठकगण छठे आश्वास का १०२ श्लोक ले सकते हैं। कवि ने अपनी प्रखर बुद्धि के आधार पर कहीं-कहीं श्लेष के द्वारा कई अर्थों की कल्पना की है। कवि के श्लोकों का यह 'अर्थ-गौरव' कुछ स्थानों पर तो महाकवि 'भारवि' का अनुकरण करता है। उदाहरण के लिये यह ही श्लोक देखें—

'चतुरम्बुधिमध्यगता जगतोऽपरमा परमा परमाप रमा।
अपि पाण्डुसुता गहने विपिने मधुरामधुरामधु रामधुरा।।' ३ ११३ ।।

इस श्लोक में 'मधुरामधुरा—' पदों में अनेकार्थता दर्शनीय है। विस्तारभयात् उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। पाठकगण टीका में यह बुद्धि-व्यायाम प्राप्त कर सकते हैं।

महाकवि वासुदेव भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखा में निष्णात है। इस छोटे से महाकाव्य में यद्यपि इस सबके प्रदर्शन के लिये उन्हें अवसर कम मिला है फिर भी उन्होंने वेदान्त, सांख्य, मीमांसा, योग, व्याकरण, दर्शन आदि में अपनी पैठ का परिचय यथास्थान तो दिया ही है।

कौरव-सभा में श्रीकृष्ण के विराट्-स्वरूप के प्रदर्शन पर महापुरुषों और मुनियों आदि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से भगवान् की स्तुति की है—'हे अज ! हे देव ! यह (जगद्रूप) व्यक्ति आपकी मायारूप शक्ति में ही स्फुरित हुई है जिस प्रकार शुक्ति में चाँदी का आभास होता है। (आपका) ध्यान करने वाले तथा शुद्ध-ज्ञान से युक्त पुरुषों के द्वारा ही यह जगद्रूपा व्यक्ति बाधित हो सकती है'।

'व्यक्तिरसावाध्यातृ' स्वच्छज्ञानान्वितस्य सा बाध्या तु।
शक्तिरज तव देव प्रस्फुरिता शुक्तिकासु रजतवदेव' ।। ६ १३९ ।।

इस श्लोक में कवि का वेदान्त-दर्शन सम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहा है। वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म ही एक सत्य है और दृश्यमान सम्पूर्ण जगत्

उनकी माया का खेल है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है उसी प्रकार ब्रह्म में मिथ्या-जगत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म और जीव के बीच का यह मायारूपी पर्दा ज्ञानरूप प्रकाश से ही दूर किया जा सकता है।

कवि ने ६ठे आश्वास के श्लोक ११९ में भगवान् श्रीकृष्ण को 'सर्वलोक-सामान्य' कहकर उन्हें सारे जगत् में व्याप्त बतलाया है। यह विचार या सिद्धान्त सांख्यदर्शन का है। उसके मत में परमात्मा हर स्थान पर मध्यस्थ या द्रष्टृत्व-रूप में विद्यमान है। इसी की प्राप्ति या तादात्म्य, 'कैवल्य' कही गयी है। 'कैवल्य' का लक्षण भी 'सांख्य-सप्तति' में इसी प्रकार का दिया हुआ है—'कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च'। इसके अतिरिक्त कवि वासुदेव का सांख्य-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान इस श्लोक में और भी अधिक उत्कर्षता एवं उत्कृष्टता के साथ प्रतिबिम्बित हुआ है—

> 'सविकाशं वै जनयरजसो रक्षा च महति सत्वेऽज नयन् ।
> भुवनवितान तमसि क्षपयन्ननु तत्त्वमच्युतानन्तमसि' ॥ ६ १४० ॥

सांख्य-दर्शन में प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रज और तम बतलाये गये हैं जिनके क्रमशः प्रकाश या ज्ञान, प्रवृत्ति एवं मोहरूप कार्य हैं। यह जगत् इन्हीं तीन गुणों से बना है। परमशक्ति में जब सत्त्वगुण उदित होता है तो वह विष्णु-रूप में जगत् की उत्पत्ति, रजोगुण उदित होने पर ब्रह्मारूप से स्थिति और तमोगुण उदित होने पर रुद्ररूप से जगत् का संहार करती है।

इसी प्रकार कवि वासुदेव ने अपने इस ग्रन्थ के द्वारा मीमांसा-दर्शन का भी ज्ञान प्रदर्शित किया है (देखें ६ १४२), वेद कर्म-काण्ड का विधान करते हैं। अतः श्रेष्ठ-यज्ञ के द्वारा ही स्वर्ग या ईश्वर की प्राप्ति होती है—यह मीमांसकों का मत है। इसी कारण मीमांसक लोग वेदों को स्वतः प्रामाण्य एवं अपौरुषेय मानते हैं और यज्ञों को मुक्ति का साधन।

कवि के योग-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान के लिये निम्न श्लोक उद्धृत किया जा सकता है—

> 'उन्मज्जोरन्धान्तस्त्वा हृदि मरुतश्च मुनिजनो रुद्ध्वान्त ।
> अविकारमणीयांस सकलं वा स्मरति देव रसणीयासम्' ॥ ६.१४३ ॥

योगी लोग ईश्वर के दर्शन भिन्न प्रकार से करते हैं। वे समाधि में रेचक, पूरक और कुम्भक के क्रम में प्राणायाम के द्वारा अपनी वायु को वश में करके परमात्मा के अणुरूप का दर्शन करते हैं।

महाकवि वासुदेव के व्याकरण-दर्शन-सम्बन्धी पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये हम यह श्लोक उद्धृत करते हैं—

> 'दूरागमक्षरतया प्रवदनेऽक्षराम्यक्षरतया ।
> रूप नादमय ते शब्दे वेत्तासि ये जना दमयन्ते' ॥ ६ १४१ ॥

कवि ने इस श्लोक में वैय्याकरणों के दर्शन की मीमांसा की है। वैय्याकरण शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं। प्रत्येक शब्द का नाद है जो 'स्फोट' कहलाता है। यह नित्य है। अकार, उकार, मकारादि वर्ण तो ध्वन्यात्मक हैं परन्तु इनसे भी परे एक रूप है जो इन्द्रियों का विषय नहीं उसे 'परनाद' कहते है।

महाकवि वासुदेव की पाण्डित्य-चर्चा इतने से ही समाप्त नहीं हो जाती। जिस प्रकार कोई गोताखोर जितना ही निपुण होता है उतना ही समुद्र के अन्दर घुसकर मुक्ताचयन कर पाता है, उसी प्रकार से महाकवि के इस महाकाव्य के अन्दर, जो पाठक जितना ही अधिक चतुर होगा, उतना ही गहराई से अवगाहन करके मोतियों को चुन सकने में समर्थ होगा। कवि वासुदेव में बड़ी बात को संक्षेप में कहने का एक अपना तरीका है, ढंग है। वह जिस भी बात का उपसंहार करते हैं उसे विचित्र-भङ्गी-भणिति के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं जिससे उसमें एक विशेष चमत्कार आ जाता है। देखिये कवि इस भाव को कि 'सहदेव ने शकुनि को मारा' किस प्रकार से प्रकट करता है—

> 'शकुनि देवनमूल भृशोऽपि यद्विविभिरादृदे बलमूलम् ।
> त नानाक्षमतेषु स्थिरमय माद्रीसुतस्य नाशमतेषु' ॥ ८ ६९ ॥

इसी प्रकार 'अर्जुन ने शेष राजाओं की सेना को नष्ट कर डाला'— इस भाव को भी रूपकालङ्कार के माध्यम से कितनी निपुणता के साथ प्रकट किया है—

> 'कि क्रियते लापाना बहुलतया लद्धल वतेलापानाम् ।
> वासविहव्यभासिप्रस्तमभूदहितविग्रहव्यग्राग्नि' ॥ ८ ७० ॥

कवि के कतिपय विचार व सूक्तियाँ

प्रत्येक कवि के अपने विचार एव सिद्धान्त होते हैं जिन्हें वह पाठकों के सामने सीधे नहीं रख सकता और यदि रखता भी है तो पाठक उसे कोरा उपदेश समझकर उस पर ध्यान ही नहीं देते। अत कवि जो कुछ भी कहना है वह अपने काव्य के माध्यम से कहता है। जैसे कोई चतुर वैद्य कड़वी गोलियों को शहद आदि मीठी वस्तु के साथ रोगी को प्रदान करता है उसी प्रकार चतुर

कवि भी अपने उपदेश-परक वाक्यो या विचारो को सरस-काव्य के साथ मिलाकर पाठको के पास तक पहुँचाता है—

"Instructions can be admitted but in the second place, for poesy only instructs as it delights" (John Dryden)

कवि वासुदेव ने भी अपने कुछ विचारो को पाठको के सम्मुख रखा है। महाकवि 'कर्मवाद' मे विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि ससार मे प्राणियो के वश मे केवल प्रयत्न करना है पर उसका फल तो दैवाधीन होता है। अत. फल की चिन्ता नही करनी चाहिये—उदयो दैवप्रभव प्रयत्नमात्रे वय सदैव प्रभव (६.८०)—। उनका यह विचार गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' से मेल खाता है—Action is thy duty, reward is not thy concern कवि वासुदेव का तो यहाँ तक कहना है कि कर्म ब्रह्मादि देवताओ की अपेक्षा नही करता, वह तो स्वय फल-दाता है—यतनः सुकृतोऽतियाति केशव दैवम्—। मनुष्य को इस जन्म मे भी जो कुछ प्राप्त होना है वह उसके पूर्व जन्म के कारण है। इस प्रकार जीवन मे कर्म प्रधान है—

'विधिना वैमुख्येन स्फुटलक्षणसिद्धदेववैमुख्येन ।
देहभृतापाद्यानि श्रेयास्यायुर्धनप्रतापाद्यानि ॥'

कवि का अपना विचार है कि इस संसार मे केवल वे ही लोग विद्वान् हैं जो सज्जनो के हित मे लगे रहते हैं। सज्जनो की रक्षा मे जो तनिक भी शिथिलता दर्शाते हैं वे पाप के भागी होते है—

'साधुहितानि यतन्ते ये कर्तुं जगति पण्डिता नियत ते' ॥ १.५९ ॥
'न हि सवादत्याग सज्जनरक्षासु मार्दवादत्याग' ॥ २ २९ ॥

साथ ही उनका यह भी मत है कि नीच पुरुष के साथ उपकार नही करना चाहिये क्योकि वह उसकी कीमत नही समझता। अत. प्रयास निष्फल हो जाता है—

'उपकारेऽपि महति मलिना मोघाः' ॥ २.११३ ॥

'मित्र' के सम्बन्ध मे उनकी धारणा है कि जो विपत्ति से छुटकारा दिलवाये वही सच्चा मित्र है—

'सुहृदो नाम सहाया विपदो मोक्षाय देहिनामसहाया' ॥ ६ ८७ ॥
(A friend in need is a friend indeed.)

कवि वासुदेव ने ६ठे आश्वास मे भगवान् कृष्ण के मुख से 'विश्वबन्धुत्व' की भावना को उन्मीलित किया है। उनके मत मे ससार मे वही सुखी रहता है

जिसके मन मे अपने भाईयो के प्रति प्रेम होता है। 'प्रेम' सगठन की आधारशिला है और जहाँ सगठन है वहाँ पर दुख या क्लेश का लेशमात्र नही होता—

'जगति हि स मुदा रमते बन्धुरन यस्य मानसमुदारमते' ॥ ६ १०७ ॥

राजाओं के लिए उन्होंने 'जागरूकता' और 'सावधानी' का उपदेश दिया है। जहाँ पर राजा जागरूक नही होता, अपने विषयभोग मे लीन रहता है, उस राज्य मे शत्रुओं के अनेक सकट आते है। राजा का 'राजत्व' तो तभी है जब वह हर प्रकार से सावधान और जागरूक रहे—

पार्थिवभावो भवेद्यदा सावधः' ॥ ६ १२७ ॥

इस प्रकार महाकवि वासुदेव का यह काव्य 'व्यवहारविदे' रूप प्रयोजन को सम्यक् रूप से सिद्ध करने मे सफल हुआ है।

ग्रन्थ की सामान्य-समीक्षा

(क) रसनिरूपण—'रस' काव्य की आत्मा होती है। जिस काव्य मे रस नही होता उसे 'काव्याभास' कहा जाता है। अत सस्कृत-साहित्य मे सदैव से रस के महत्व को ध्यान मे रखकर काव्यो की रचना होती आयी है। काव्यो मे मुख्यरूप से कौन रस लाये जा सकते है, इसका विश्लेषण भी आलकारिको और आलोचको ने अपने ग्रन्थो मे किया है। आदि नाट्य-शास्त्री भरतमुनि का कहना है कि 'अङ्गीरूप से काव्यो मे तीन मे से-शृङ्गार, वीर, शान्त—किसी एक का वर्णन किया जाना चाहिये'। मनुष्य के जीवन मे शृङ्गार प्रधान होता है और फिर ऐश्वर्य-सम्पन्न राष्ट्र मे लोगो की शृङ्गारप्रियता और भी अधिक बढ जाती है। सभवत इसी कारण सस्कृत काव्यो मे शृङ्गार-रस की भरमार है। वीर-रस के नाटक तो प्राय इने-गिने ही हैं और शान्त-रस के तो 'न' के बराबर है। शान्त-रस को सभवत लोगो ने भरतमुनि के 'शान्तोऽपि नवमो रस' लिखने के कारण रस माना ही नही और फिर शान्त-भाव तो यतियो और मुनियो का विषय हो सकता है, सहृदय-सामाजिको को भला इससे क्या लेना-देना।

अस्तु, 'युधिष्ठिर-विजय' इन आक्षेपो से परे है। इसकी कथावस्तु महाभारत से ली गयी है और वह भी महाभारत की कोई शृङ्गार-प्रधान (नल-दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि जैसी) घटना नही अपितु आद्योपान्त महाभारत का सक्षिप्त-साहित्यिक-वर्णन। 'युधिष्ठिर-विजय' महाकाव्य वीररस-प्रधान काव्य है। इसमे युद्धो का वर्णन अधिक है अत यत्र-तत्र वीर और रौद्र-रस की ही निर्झरिणी बहती दिखती है।

पर यह जानकर शृङ्गार-प्रेमी पाठकों को निराश होने की आवश्यकता नहीं। इसमें यत्र-तत्र शृङ्गार-रस भी पूर्णरूप से विकसित हुआ है क्योंकि यह तो एक महाकाव्य है। इसमें तो जीवन के समस्त पहलुओं पर विचार करना कवि का कर्तव्य था। कवि वासुदेव ने विविध नायिकाओं के शृङ्गारिक हाव-भाव के चित्रण मे भी विशेष रुचि दिखाई है। जिससे यह ज्ञान हो जाता है कि यह कोई रूखा-सूखा कवि नहीं अपितु जीवन के सरस एवं गुदगुदे चित्र भी प्रस्तुत कर सकता है। कोई नायिका अपने पति के मुख से किसी दूसरी नायिका का नाम सुनकर क्रोधित हो उठती है और कहती है—'तुम गोत्रस्खलन मे चतुर हो। इस विषय में तुम्हारा जैसा कोई नहीं। तुम मुझे प्रणाम करते अच्छे नहीं लगते क्योंकि जिसके सामने उसकी प्रिया नहीं वह किसी अन्य के सामने प्रणाम करते अच्छा नहीं लगता' इस प्रकार कहकर उस विशाल कुचरूपी कलशोंवाली उस नायिका ने अपने क्रीडा-कमल और चरणों से उसे ताडित किया—

> 'अलमुपयातु गोत्रस्खलन त्वं समस्त्वया तुङ्गोऽत्र।
> स त्वमरमणीय स्याः प्रणमन्मम सनिधौ न रमणी यस्य॥
> इति केलीकमलेन प्रियमन्या चलितचञ्चलीकमलेन।
> पृथुकुचकलशोभ्या पद्भ्या चाताडयत्सकलशोभाभ्याम्'॥ २ ७३,७४॥

नायिकाओं के उद्दाम-यौवन के चित्रण में भी कवि सिद्धहस्त है—

> 'बध्वा घटमानाभ्यामुरोरुहाभ्या कयापि घटमानाभ्याम्।
> जगले रन्तु गतया विजिगीषुभ्या परस्पर तुङ्गतया'॥ २ ६५॥

शृङ्गार-रस की पराकाष्ठा द्वितीय आश्वास के अन्तर्गत 'सुरत-वर्णन' में देखी जा सकती है—२.१०४-१११।

> 'अधरितसारवताल रेणे वलयेन रत्नसारवतालम्।
> सार्धं रोमावलिभिः क्षीणा प्रणतं कुचभरोऽमा वलिभिः'॥ २ ११०॥

महाकवि का करुण-रस अत्यन्त ही मार्मिक है। जहाँ पर जैसा अवसर आता है उसके अनुकूल वातावरण निर्माण करने की कला में वासुदेव सिद्धहस्त है। *द्रौपदी के वस्त्र खींचते हुए दु शासन द्रौपदी को सभा में लाया।* वहाँ पर सारे बूढ़े-बुजुर्गों के बीच में भी अपने को असहाय पाकर उसकी क्या दशा हुई होगी, इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर सकते हैं। वह अपने श्वशुर धृतराष्ट्र और माता गान्धारी से रक्षा के लिए फरियाद करती है पर उसकी कोई भी नहीं सुनता। अधिक क्या कहें, जब उसके पति ही इस समय उससे मुख फेरे बैठे हैं तो शेष सभा क्या करे—

'भरणीयाह तव च स्वसुर न मे श्रूयते त्वया हन्त वच ।
गान्धार्यम्ब तवार्ये न समोपेक्षा युते त्वय,वत वार्ये' ॥ ३ ७४ ॥

इसी प्रकार करुण रस के लिये 'अर्जुन का विलाप' भी दर्शनीय है जब कि उसके प्रिय पुत्र अभिमन्यु का अधर्म और अनीति से वध कर दिया जाता है और अर्जुन यह जानकर फूट-फूटकर रोने लग जाते है। उस समय एक सच्चे पिता का अपने प्रिय पुत्र के वियोग मे रुदन और दुख देखा जा सकता है—

'शोशति नामात्र मयि प्रदिश मुसेन्दोर्विभावना मात्रमपि ।
एहि वृषा सौभद्र मैव रोष्व महनि पामो भद्र' ॥ ७ ८९ ॥

वीर-रस तो इस काव्य का प्रमुख रस है। यह तो सर्वत्र दर्शनीय है। फिर भी उदाहरण के लिये हम उस समय का वर्णन प्रस्तुत करते है जब युधिष्ठिरादि श्रीकृष्ण को दूत बनाकर पाँच गाँव प्राप्त करने के लिये दुर्योधन के पास भेज रहे हैं। अपने भाइयो मे ही वैर की कल्पना करके भीम जैसे क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति का भी मन विचलित हो जाता है और वह भी श्रीकृष्ण से सन्धि का प्रस्ताव ले जाने को कहने लगता है। पर भगवान् कृष्ण के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा के स्मरण कराये जाने पर वह पुन' 'वीर भाव' को प्राप्त कर लेता है। देखिये उसके उस समय की यह उत्साहपूर्ण उक्ति—

'विदलितमस्तककुम्भिव्रातभ्रमणभ्रमत्समस्तककुम्भि ।
उज्वलकङ्कत्वाणि प्रधानान्यचिराद्भयानक करपाणि ॥
रणभुवि केशव सानुक्पङ्कुपुरीनल्कपालकेशवसामृक् ।
जवभागदयालूना द्विषा हति पातयामि गदया लूनाम्' ॥ (६ ९२–९३)

युद्ध मे मरे हुए वीरो और पशुओं के चित्रण मे बीभत्सता दर्शनीय है। बडे-बडे घोडे शत्रुओ के वार के कारण बहते हुए रक्त वाले घावो के साथ भूमि पर गिर पडे। कष्ट के कारण वे उस समय अपने पैरो को थोडा-थोडा हिला रहे थे पर कुत्ते तो उनकी चर्बी को खा-खाकर अति हर्षित हो रहे थे। समर-भूमि मे मरे हुए वीरो की अस्थि को खुरेदते-खुरेदते कुत्तो के जबडे कमजोर हो गये थे तथा मास-लोलुप कक पक्षियो के समूह रक्त चाट रहे थे—

'गुरुमत्सरसादश्च पतिता क्षरितासृजश्च सरसादश्च ।
दुधुवु पादानश्वा हर्षाद्ववनि स्म कृतवसादान श्वा' ॥ ७ १५ ॥
'अशनैरस्थिरदन्तश्वाना श्वानो बभूवुरस्थिरदन्त ।
लोहितपङ्कं कवल चक्रे च मव्यलोलुप कङ्कवलम्' ॥ ७ १८ ॥

हास्य-रस की दृष्टि से विराट-पुत्र उत्तर का तुच्छप्रलाप विशेष उल्लेखनीय है। कौरवो की अपार सेना को देखकर वह एकवारगी भयभीत हो जाता है

तथा अन्त में मैदान छोडकर भागने लगता है। बृहन्नला से किया गया उसका प्रलाप निश्चय ही पाठको के लिये उपहास का विषय बन जाता है। कोई भी पाठक उसकी इस कायरता पर हँसे बिना नही रह सकता। वह बृहन्नला से अनुनय-विनय करता है—हे बृहन्नले! दया करो और रथ लौटा लो, शत्रुओं के समूह इधर ही आ रहे हैं। अपनी माँ के पास जाने के लिए उत्सुक तुम मुझको छोड दो। मैं अभी बच्चा हूँ। अत्यधिक साहस मैं भला कैसे कर सकूँगा'—

'या हि घृणामावलयस्यन्दनमायान्ति वैरिणामावलय ।
त्यज मामम्बालोल कथ नु कुर्या पराक्रम बालोऽलम्' ॥ ६ ३४ ॥

उत्तर की इस उक्ति मे 'त्यज मामम्बालोल' 'बालोऽल' आदि पद विशेषरूप मे दर्शनीय हैं। पता नही युद्ध को उसने खेल का मैदान समझा था या गुडियो-गुड्डो का खेल! अन्त पुर मे उच्चारित उसके उत्साही वचनो के साथ इन वचनो की जरा तुलना कीजिए। आप स्वय हँस देगे।

इसी प्रकार भयानक (३-१०१, ५-२६), रौद्र (८-४९) और शान्तरस (३ ४१-५०, ४७६-८१) भी यथास्थान देखे जा सकते हैं। अन्तत, हम कह सकते हैं कि रस की दृष्टि से महाकवि वासुदेव का यह ग्रन्थ 'नवरसरुचिर' है, इसमे कोई सन्देह नही।

(ख) अलंकार-वर्णन – शब्दार्थशरीरभूत काव्य की आत्मा 'रस' है तथा 'अलङ्कार' उस शरीर के कटककुण्डलादिवत् आभूषण हैं। रसपूर्ण-काव्य के लिये अलकारो की स्थिति कोई अनिवार्य नही है। पर हाँ, उसकी साज-सज्जा से कविता-कामिनी का शरीर और अधिक आकर्षक तथा मनोहर हो जाता है— 'रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्'—सा० द०।

'युधिष्ठिर-विजय' एक चित्रकाव्य है अत इसमे अलकारो का महत्त्व और भी अधिक बढ जाता है। पर जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि इस काव्य मे कवि का केवल उद्देश्य अपने पाण्डित्य को ही प्रदर्शित करना है जो वह अलकारो की जबर्दस्ती ठूँस-ठाँस करता उसने तो महाभारत-कथा की सुबोधता को बनाये रखने का विशेष ध्यान दिया है। कवि वासुदेव ने अपने अन्य ग्रन्थो के समान इस काव्य मे भी यमक का प्रतिश्लोक मे प्रयोग किया गया है। उसकी इस यमकप्रियता के कारण ही इस काव्य मे थोडी जटिलता दृष्टिगोचर होती है। यमकालकार के अतिरिक्त इस काव्य मे श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अर्थान्तरन्यास अलकार का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है।

कवि की उपमाओ मे औचित्य है। अर्जुन द्वारा स्वयवर-भूमि मे लक्ष्य-वेध किये जाने पर द्रौपदी अपनी ललित गति से उसी प्रकार अर्जुन के पास

जाती है जिस प्रकार कोई हस्तिनी अपने पति हस्ति के पास मन्द गति से आती है और वह (द्रौपदी) अर्जुन के कण्ठ में जयमाल डालकर उसी प्रकार खड़ी हो जाती है जिस प्रकार लक्ष्मी विष्णु के समीप मुख नीचा करके खड़ी रहती है—

'तदनु सुवेशी करिणं करिणीव मदेन मरुतने सीकरिणम्' ।
'आननमानमयन्ती तस्थौ कृष्णा रमोपमानमयन्ती' ॥

कवि ने इस उपमा में द्रौपदी के मन्द गति से अर्जुन के पास जाने और उनके पास मुख नीचा करके खड़े हो जाने के मनोवैज्ञानिक कारण की ओर भी दबे रूप में संकेत किया है। इसी प्रकार कीचक द्वारा लुभाई जाती हुई द्रौपदी की उपमा सीता से और कीचक की उपमा रावण से देकर कीचक और सीता के चरित्र की ओर भी संकेत किया है। कवि की यह उपमा दोनो के प्रति पाठकों के मन में क्रमश घृणा, तिरस्कार और श्रद्धा के भाव उभारने में समर्थ है।

"कृष्णा कीचकमेत रावणमिव नैव जानकी चकमे तम्" ॥ ५ ८२ ॥

कवि वासुदेव अपनी उपमाओं के आधार पर ही अपने पात्रो का चरित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते है। कीचक जब अपनी हरकतो से बाज नहीं आता तो भीम को उसका ठीक उसी प्रकार वध करना पड़ता है जिस प्रकार भगवान् राम ने दशमुख का वध त्रेतायुग मे किया था। यहाँ पर भी कवि की उपमा अत्यन्त ही औचित्यपूर्ण है—

"प्रममाथारघुनाथ स्वबलेन दशानन यथा रघुनाथ" ॥ ५ ९७ ॥

कवि के उपमानो के अनेक क्षेत्र हैं। उसकी उपमायें वेद (४ १), स्मृति, प्रकृति, व्याकरण (६ ७०) और दर्शनादि से सम्बन्धित हैं।

उत्प्रेक्षालकार के प्रयोग मे कवि की प्रतिभा विशेषरूप से दर्शनीय है। उत्प्रेक्षा कवि की सूझ-बूझ और कल्पना की तीक्ष्णता या उर्वरता का प्रतीक होती है। इस अलकार का प्रयोग भी इस काव्य मे प्रचुरता से हुआ है। विस्तार-भयात्, इसका एक ही उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं। सायंकाल सूर्य अस्त होने जा रहा है। कवि इस स्वाभाविक नियम पर उत्प्रेक्षा करता है कि मानो सूर्य युद्धभूमि मे (शत्रुओ के नाश के कारण) उदित प्रकाश-पुञ्ज के कारण तिरस्कृत हो गया है और इस लिए जैसे कि लोक मे किसी से लज्जित व्यक्ति अपने को छुपाता फिरता है उसी प्रकार सूर्य भी शर्म के कारण छुप जाना चाहता है। कवि की इस उत्प्रेक्षा मे कितनी स्वाभाविकता है और साथ ही कितना अनूठापन—

"अथ रविरस्तमहास्तद्द्युतिभिरिवाबजृम्भिताभिरस्तमहास्त" ॥ ७ ६८ ॥

श्लेषालंकार के प्रयोगों में 'अर्थ-गौरव' दर्शनीय है—

"गुरुमहिमा ननु परमस्त्रय्या त्व बोधित पुमाननुपमरम" ॥४ ७७ ॥

अर्जुन द्वारा की गयी शकर-स्तुति के इस अश में 'त्रयी' पद के श्लेषालकार के द्वारा तीन अर्थ—तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण (अ, उ, म)—किये गये है जिसके द्वारा कवि का यमकालकार के प्रयोग के साथ श्लेष के प्रति भी अतिशय-प्रेम प्रदर्शित होता है। श्लेष का चमत्कार ३रे आश्वास के ११३ श्लोक मे विशेष रूप से देखा जा सकता है (उद्धरण 'कवि के पाण्डित्य' प्रकरण में दिया जा चुका है)।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ मे कलापक्ष की दृष्टि से कवि ने अनेक अलकारो का समावेश किया है। उपर्युक्त अलकारो के अतिरिक्त रूपक (१ ७७, २ ८०, ३ ५३), अर्थान्तरन्यास (२ ४८, २ ११३, १४, २ २५), स्वभावोक्ति (१ ८४), समासोक्ति (२ ४६), पर्यायोक्त (२ ५५, ७ ४३), विरोध (२ ६०), उन्मीलित (२ ६६), तद्गुण (२ ७८), भ्रान्तिमान् (२ ८१, ८४), सहोक्ति (२ १११, २ ६५), यथासख्य (४ ६९-७३) तुल्ययोगिता (७ ५, ८ २६), काव्यलिङ्ग (७ ११२), अर्थापत्ति (८ ५२), अप्रस्तुत प्रशसा (६ १८) और व्यतिरेक (२ ८८, ८ १०) अलकारो का उल्लेख भी यथास्थान बडी कुशलता से किया गया है।

(ग) दोषादि—जिस प्रकार 'अलकार' काव्य-शरीर के उत्कर्षविधायक होते हैं उसी प्रकार 'दोष' रसापघातक। 'मुख्यार्थहतिर्दोष'—मम्मट, 'रसापकर्षका दोषा'—वि० कविराज। जब हम कवि वासुदेव की इस कृति की 'सामान्य-समीक्षा' करने चले हैं तो न्यायानुसार हमे 'दोषो' की ओर भी दृष्टिपात करना पडता है। 'ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही जो हर प्रकार से मनोहर हो'—नास्ति तज्जगति सर्वं मनोहर च यत्। गुण और दोष की न्यूनाधिकरूपेण स्थिति तो प्रकृति का नियम है। ससार मे बडे-बडे लोकप्रिय लेखको के काव्य भी इस नियम से अछूते नहीं हैं फिर इस कृति की तो बात ही क्या। पर हाँ, इतना अवश्य कहना पडेगा कि कवि वासुदेव की इस रचना मे 'दोष' 'दोष' नही रह पाये है प्रत्युत् चित्रकाव्य के पोषक बन गये हैं। 'पुनरुक्त', 'कथित पदत्व', 'अप्रयुक्तत्व' और 'निहितार्थत्व' आदि दोष यमक-रचना मे दोष नही माने जाते हैं। कष्ट-साध्य ऐसी रचना के करने वालो को इतनी छूट (concession) हमारे आलोचको और अलकारशास्त्रियो ने दे रखी है। वैसे तो यदि देखा जाये तो कवि ने प्रथमाश्वास के द्वितीय श्लोक मे 'अङ्गज' पद के प्रयोग मे ही 'अप्रयुक्तत्व' दोष उत्पन्न कर दिया है पर वह क्षम्य हो जाता है। क्योंकि मम्मट का अपने

ग्रन्थ काव्यप्रकाश मे कहता है कि 'अप्रयुक्तत्वनिहितार्थौ श्लेषादौ न दुष्टौ'। इसी प्रकार तृतीय आश्वास मे श्लोक १०५ मे आये हुए 'कुपित' पद मे भी 'पुनरुक्तत्व' के दोष की शंका नही की जा सकती है। चित्रकाव्य मे 'विसर्गाभाव' भी दोष नहीं माना जाता अत. ऐसे स्थानो पर भी यह ग्रन्थ दोषमुक्त हो जाता है। देखिये—'मृगयामङ्गरमेन स्वैर व्यहरज्जितारिमङ्गरमेन' (१ ११) श्लोक के 'जितारिमगरमेन' (·) मे विसर्ग का अभाव।

कवि वासुदेव को अपने चित्रकाव्य की सुरक्षा के लिये व्यजन-परिवर्तन भी करना पड़ा है। 'डलयोरभेद', 'रलयोरभेद' 'बवयोरभेद' एव 'नकार-मकार का अभेद' आदि अनेक स्थानो पर देखा जा सकता है। कवि को इस प्रकार के प्रयोग जानबूझ कर अपने यमकालकार के बन्ध को बनाये रखने के लिये ही करने पड़े हैं। पर इसमे भी किसी प्रकार के दोष की शंका पाठकगण नही कर सकते क्योकि यमक-रचना मे इस प्रकार व्यजन-परिवर्तन करना दोष नहीं माना जाता है।

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस काव्य मे यत्र-तत्र जटिलता अवश्य आ गयी है। 'क्लिष्टत्व' दोष वैसे तो 'चित्र काव्य' मे गुण ही माना जायेगा क्योकि पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ तो उसकी रचना ही की जाएगी। पर इतना भी मानना पड़ेगा कि ऐसे दोष के कारण पाठक को बुद्धि-व्यायाम अधिक करना पड़ता है। परिणामस्वरूप रसानुभव मे व्याघात उत्पन्न होता है। बिना टीका के वासुदेव कवि की इस कृति का अर्थ लगा सकना कठिन है, जिसके कारण सुबोधता मारी जाती है। यहाँ तक कहीं-कही पर तो अर्थ लगाने के लिये लिंग-विपरिणाम भी करना पड़ता है जैसे कि इस श्लोक मे—

"यशो वै रमणीय पौरव भवतां न कै रमणीय" ॥ ६ १०६ ॥

'अणीयम्' नपुसकलिंग का विशेषण होने के कारण 'रमणीय' के स्थान पर 'रमणीयम्' के रूप मे 'लिंग-विपरिणाम किया गया है। ऐसा किये बिना अर्थ स्पष्ट हो ही नहीं सकता।

अन्तत हम यह कहेंगे कि काव्य की चमत्कारिता के कारण ही कई दोष (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) इसमे नही आ पाये हैं। फिर भी जटिलता तो है ही पर वह भी कुछ हद तक क्षम्य है क्योकि 'चित्रकाव्य' तो दुरूह होता ही है।

(घ) भाषा शैली—महाकवि वासुदेव की भाषा मे निश्चय ही वह लालित्य नही आ पाया है जो सस्कृत के अन्य मूर्धन्य कवियो की कृतियो मे।

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि उन्हे हर प्रकार की भाषा लिखने का कमाल हासिल है। वह अत्यन्त छोटे-छोटे असमस्त प्रयोग भी करते हैं और भीमादि की ओजस्वी वक्तृता के समय समस्त पदमयी भाषा का भी प्रयोग करते है। उनकी भाषा पात्रो के अनुसार है। भाषा के पढने मात्र से ही पात्रो का चरित्र पाठको के सामने उभर आता है। युधिष्ठिर की भाषा अपने स्वभाव के अनुकूल शान्त एव गम्भीर है तो भीम की भाषा उत्तेजनापूर्ण। कर्ण का डींग मारने का स्वभाव, उसका पाखड और अहमन्यता उसकी उक्तियो से ही पता लग जाती है।

कवि वासुदेव के इस काव्य मे यत्र-तत्र क्रिया-विशेषणो का प्रयोग बहुलता से हुआ है। कही-कही पर पाठको को नये-नये अव्यय जैसे 'अमादि' भी देखने को मिलते हैं। कवि समूहार्थक पदो मे एकवचन का ही सर्वत्र प्रयोग करता है जैसा कि पाणिनि का नियम है 'जातावेकवचनम्'।

(ङ) **प्रकृति-चित्रण**— प्रत्येक भारत-वासी का प्रकृति से अनादिकाल से सम्बन्ध रहा है। प्रकृति की गोद मे ही वह खेला है एव बढा है। अपने सुख-दुःखादि की छाया उसको प्रकृति के पदार्थों मे भी दिखलायी देती रही है। शायद इसीलिये संस्कृत-साहित्य का कवि प्रकृति-चित्रण को अपने काव्यों मे विशेष स्थान देता है। प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण किये बिना जैसे उसकी कृति ही अधूरी रह जाती है। प्रकृति मानव जगत् की सहचरी है। वह उसके सुख-दुःख मे सदैव साथ रहती है। कवि वासुदेव ने भी अपनी कल्पना से भारत की छ ऋतुओ का साहित्यिक-वर्णन प्रस्तुत किया है जिसका वर्णन हम सक्षेप मे प्रस्तुत करेंगे।

'वसन्तर्तु के आगमन पर चम्पक की कलियाँ विकसित होने लगी। सूर्य, शशी और आकाश स्वच्छ हो गये। कुरबक के वृक्ष भी फूलने लगे। विरही जन तो उन्हे देख-देख कर दीनालाप करने लग गये। आम के बौरो मे कोयले चोच मारने लगी। इस ऋतु मे नवीन पत्तो के ऊपर भौंरो की पक्ति बैठने लग गयी। अशोक के पुष्प (अपनी सफेदी के कारण) मानो विरही पथिकों की हँसी उडाने लगे' (२ ४२-४५)।

'ग्रीष्मर्तु मे चारो ओर भौरो का शब्द होने लगा [और धूप और तेज हो गयी। शिरीष के फूलो मे बैठे हुए भौंरे ठडक के कारण फूलो को छोडना नही चाहते' (२ ४७, ४८)।

'वर्षाकाल मे मेघो के उठने पर हंसो को कष्ट होने लगा और वे मानसरोवर की ओर जाने की तय्यारी करने लगे। अन्य नदियो के स्वाद को त्याग देने वाले चातको के मुख मे जलधारा वेग से गिरी। केतकीपुष्प मार्ग मे खिलने लगे जिन्हे पथिक सहन न कर सके। वर्षाकाल मे कामी पुरुषो ने अपने घर के दरवाजे बन्द कर लिये। केतक-पुष्पो की सुगन्धि चारो ओर फैलने लगी और सर्वत्र बादल छा गये' (२ ५०-५३)।

'शरदऋतु मे भ्रमर, हस और चक्रवाको से पूर्ण जलाशय, कमलो, पक्षियो एव जलचरो से व्याप्त धरती आभूषणो से सुसज्जित नायिका के समान सुन्दर लगने लगी। इस ऋतु मे विरही पुरुषो को दुःख होने लगा। आकाश स्वच्छ रहने लगा। रात्रि मे आकाश मे नक्षत्र-समूह स्पष्टतया ऐसे दिखाई देने लगे मानो मरीचि आदि सप्तर्षियो ने बलि के रूप मे अपने घरो मे मुक्ता-पंक्तियाँ बिखेर दी हो। इस ऋतु म तोते पक्षी धान की बालो पर चोच मारने लगे। कामदेव विरही जनो पर अपने बाण छोडने लगे' (२ ५४-५७)।

'हेमन्तर्तु के आगमन पर ठंडी वायु के कारण स्त्रियाँ अपने पतियो के वश मे हो गयी' (२ ५८)।

'शिशिरर्तु मे 'कुन्द' पुष्प वनभूमि मे खेलने लगे। हिमपात के कारण भूमि ऊँची-नीची हो गयी। इस काल मे प्रेमिकाओ ने तरुणो के प्रति अपने क्रोध को त्याग दिया' (२.५९)।

इस प्रकार कवि ने प्रेमियो के मन पर पडने वाले छ ऋतुओ के विभिन्न प्रभावो का वर्णन अपनी अनूठी कल्पना से किया है। कवि के ये वर्णन उसकी सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति के परिचायक हैं।

इसी प्रकार कवि के सन्ध्या, रात्रि, चन्द्रोदय (२ ८९-९८), प्रभात (२ ११३, १४), साय (६ ११), सूर्यास्त (७ ६८) वर्णनादि भी यथास्थान, प्राकृतिक-चित्रण की दृष्टि से दर्शनीय हैं।

कथा-सार

प्रथम आश्वास

नियमानुसार, सर्वप्रथम कवि वासुदेव ने मंगलाचरण की रचना के बाद अपने गुरु व तत्कालीन शासक का परिचय प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् महाकवि राजा पाण्डु के शिकार से कथा का प्रारम्भ करता है। महाराज पाण्डु को श्रीव्यास ने अपनी माता की आज्ञा से उत्पन्न किया था। शिकार के समय राजा पाण्डु ने पर्वत पर मृग-दम्पति को देखा और मोहवश मृगी का वध कर दिया। परिणामत मृग ने उसे शाप दिया कि 'यदि तुम अपनी प्रिया के साथ कभी भी संभोग करोगे तो तुम्हारा भी अन्त हो जावेगा'। यह सुनकर राजा पाण्डु अपनी दोनो स्त्रियो—कुन्ती तथा माद्री—के साथ पर्वत पर तपस्या करने लगे, अपने पति को पुत्र के अभाव मे दुःखी देखकर कुन्ती ने 'धर्म' के द्वारा युधिष्ठिर, 'वायु' के द्वारा भीम और 'इन्द्र' के द्वारा अर्जुन को उत्पन्न किया। इसी प्रकार माद्री ने भी अश्विनीकुमार की सहायता से नकुल और सहदेव को जन्म दिया। एक-बार राजा पाण्डु ने दुर्भाग्य से काम के वशीभूत होकर माद्री के साथ संभोग किया जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई। इसके पश्चात् दुःखी पाण्डवो को व्यास-मुनि वारणावत नगर मे ले आये। पाचो पाण्डवो ने अपने गुरु से शस्त्रो की शिक्षा प्राप्त की। गुणो मे अधिक बढे-चढे पाण्डवो को देखकर दुर्योधन के मन मे ईर्ष्या का अंकुर उत्पन्न हुआ। उसने भीम को समाप्त करने के लिये कई योजनाएँ बनाई—जैसे भोजन मे विष देना, गगा जी मे बहाना, लाक्षागृह जलाना आदि—पर कोई भी योजना सफल न हो सकी। लाक्षागृह जला दिये जाने पर विदुर के सकेत मे पाण्डव सुरग के द्वारा बाहर निकल आये। मार्ग मे भीम को हिडिम्बासुर की बहिन मिली और उसने भीम से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। इसी बीच हिडिम्बासुर अपनी बहिन को खोजते हुए आया। दोनो मे घनघोर युद्ध हुआ। भीम ने अपनी शक्ति से हिडिम्बासुर को मार डाला और उसकी बहिन हिडिम्बा को लेकर अपने भाइयो के साथ चल पडा। घटोत्कच की उत्पत्ति के बाद हिडिम्बा लौट गयी। तत्पश्चात् पाण्डव एकचक्रा नगरी मे निवास करने लगे। एक दिन कुटिया मे रोते हुए ब्राह्मण से कुन्ती ने उसके दुःख का कारण जानकर बकासुर के वध के लिये अपने बेटे भीम को भेजा। भीम और बकासुर का भयकर युद्ध हुआ। अन्ततः भीम की विजय हुई। तत्पश्चात् एक दिन पाण्डवो ने पाञ्चाल नगरी मे होने वाले द्रौपदी-स्वयवर का शुभ-समाचार सुना और हर्षित होकर लम्बे

मार्ग को जल्दी-जल्दी तय करके पाञ्चाल नगरी पहुँचे। मार्ग में नदी पार करते समय चित्ररथ नामक गन्धर्व को अर्जुन ने परास्त किया। ब्राह्मण-वेषधारी पाण्डव पाञ्चाल नगरी में एक कुम्हार के घर ठहरे। स्वयंवरोत्सव में दूर-दूर से राज-समूह आया हुआ था। दुर्योधन भी अपना भाग्य आजमाने के लिये स्वयंवर में पहुँचा। शर्त के अनुसार क्रमशः राजागण लक्ष्य-वेध करने के लिये आये पर लक्ष्य-वेध कौन कहे उनमें से अधिकांश तो धनुष की प्रत्यञ्चा ही न चढ़ा सके। सारी सभा के निराश हो जाने पर अर्जुन अपने स्थान से उठा और उसने स्वयंवर की शर्त पूरी की। नियमानुसार द्रौपदी ने उसके कण्ठ में जयमाल डाली। यह देखकर अन्य राजागण द्वेष के कारण अर्जुन से युद्ध करने का विचार करने लगे परन्तु अर्जुन ने उसी धनुष को लेकर राजाओं को भागने के लिये बाध्य कर दिया। महान् संकटों के बाद पाण्डव द्रौपदी को लेकर उसी कुम्हार के घर आये। तत्पश्चात् सारा समाचार जानने के बाद राजा द्रुपद ने पाण्डवों को सत्कार के साथ अपनी नगरी में बुलाया। उन पाँचों पाण्डवों ने भार्या द्रौपदी के साथ कुछ समय के लिये वहीं निवास किया।

द्वितीय आश्वास

पाँचों पाण्डव जब राजा द्रुपद की नगरी में सानन्द निवास कर रहे थे तभी मत्सरी दुर्योधन ने द्रुपद के नगर को चारों ओर से घेर लिया। पाण्डवों ने वहाँ पर भी अपनी अतुलित शक्ति के सामने कौरवों को भागने के लिये बाध्य कर दिया। जब राजा धृतराष्ट्र ने विदुर के मुख से यह समाचार सुना तो वे बड़े दुःखी हुए। धृतराष्ट्र ने भावी-संकट के निवारण के लिये युधिष्ठिर को अपने पास बुलाया और उन्हें आधा राज्य प्रदान किया। वे पाँचों पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में सानन्द रहने लगे। एकबार नारद मुनि पाण्डवों के पास आये और उन्होंने पाण्डवों को सुन्द-उपसुन्द आदि की कथाओं के माध्यम से एकता का उपदेश दिया। नारद-मुनि के उपदेश को सुनकर पाण्डवों ने इस नियम की रचना की कि 'जिस किसी भी एक के द्वारा शय्या पर उपभोग की जाती हुई द्रौपदी को जो कोई देखेगा, वह एक वर्ष तक सन्यासियों की वृत्ति का सहारा लेकर वनवास करेगा' (२।१४) एकबार जब युधिष्ठिर अपने शयनागार में द्रौपदी के साथ रमण कर रहे थे तभी नगर के निकट किसी ब्राह्मण की आवाज अर्जुन को सुनायी दी, 'हाय ! मैं मारा गया। मेरा यज्ञ नष्ट हो गया। मेरी गायों को ये चोर चुराये लिये जा रहे हैं'। ब्राह्मण के इस दीनालाप को सुनकर अर्जुन ने बिना कुछ आगा-पीछा सोचे युधिष्ठिर के शयनागार से अपने धनुष को उठाकर चोरों का पीछा किया और ब्राह्मण की गौओं की चोरों से रक्षा करके गायें ब्राह्मण को सौंप

दीं। शर्तें के अनुसार अर्जुन संन्यासी-वृत्ति धारण कर वनवास के लिये चल पडे। वे जब गंगा के निकट पहुँचे तो नागपुत्री उलूपी उन्हें पाताललोक ले गयी। वहाँ पर अर्जुन के द्वारा उलूपी से 'इरावन्त' नामक तेजस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसके पश्चात् अर्जुन पृथिवी की प्रदक्षिणा करते हुए पाण्ड्य देश के राजा के नगर (मणिपुर) पहुँचे। वहा पर कुछ दिन निवास करने के बाद वे यादवों के 'प्रभास' नामक नगर मे आये। श्रीकृष्ण के परामर्श से वहा पर उन्होंने सुभद्रा का हरण किया। भगवान् कृष्ण ने क्रुद्ध हुए यादवों को समझा-बुझाकर शान्त किया। सुभद्रा के साथ अर्जुन ने जब हस्तिनापुर मे प्रवेश किया तो कुन्ती और द्रौपदी के हर्ष का ठिकाना न रहा। सारी प्रजा हर्ष से पुलकित हो उठी। थोडे दिनो बाद सुभद्रा ने अभिमन्यु को जन्म दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ वहाँ पर कुछ दिन के लिये निवास किया और प्रकृति के अनेक रमणीय पदार्थों का आनन्दानुभव किया। कवि वासुदेव ने इस आश्वास मे अपनी प्रकृति-सम्बन्धी सूक्ष्म दृष्टि का उन्मीलन किया है। काम-क्रीडाएँ, वन-विहार, विविध-नायिका-वर्णन, पानगोष्ठी और सुरत-वर्णनादि के द्वारा कवि ने शृङ्गार-रस का प्रचुर-परिपाक दर्शाया है। अर्जुन और कृष्ण दोनों ने ही यमुना नदी के तट पर आनन्द-भोग करते हुए बहुत समय तक निवास किया।

तृतीय आश्वास

इसके अनन्तर अर्जुन और कृष्ण ने खाण्डव-वन मे प्रवेश किया। अग्निदेव ने प्रकट होकर उन दोनो को अपने दर्शन दिये और उनसे कहा कि 'भगवन्! मैं इस वन को जलाने मे असमर्थ हूँ क्योंकि तक्षक नामक नाग इस वन मे निवास करता है। इन्द्र से उसकी परम मित्रता है अतः मैं इस वन को आज तक जला नहीं सका हूँ। इसलिये भगवन् आप इसे जलाने का कष्ट करें।' अग्निदेव की यह बात सुन कर अर्जुन ने खाण्डव-वन जलाने की प्रतिज्ञा की। इस कार्य के सम्पादन के लिए अग्नि ने अर्जुन को गाण्डीव, तरकस, अश्व तथा ध्वज युक्त रथ प्रदान किया। वन को जलता हुआ देखकर अपने मित्र तक्षक की रक्षा के लिये इन्द्र ने घोर वर्षा की परन्तु अर्जुन ने 'शरगृह' के द्वारा जल को अन्दर आने से ही रोक दिया। अर्जुन और इन्द्र का घनघोर युद्ध हुआ परन्तु अन्ततः अर्जुन के सामने इन्द्र को भी पराजित होना पडा और तक्षकादि को वन छोडकर भागना पडा। जलती हुई अग्नि से वन मे अर्जुन ने 'मय-दानव' को बचाया अतः बदले मे उसने कृष्ण की आज्ञा से युधिष्ठिर के लिये अत्यन्त सुन्दर 'सभा' का निर्माण किया। महाराज युधिष्ठिर अपनी प्रजा और परिवार के साथ उस भवन मे आकर रहने लगे। एकबार महर्षि नारद का शुभागमन हुआ

और उन्होंने युधिष्ठिर को राजसूय-यज्ञ के सम्पादन के लिये परामर्श दिया। युधिष्ठिर ने इस कार्य में सहायता प्राप्त करने के लिए द्वारिका से श्रीकृष्ण को बुलवाया। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के कहने पर भीम को साथ लेकर अत्याचारी राजा 'जरासन्ध' को नीतिपूर्वक समाप्त किया। सारे राजाओं को वश में कर लेने के बाद राजसूय-यज्ञ की तय्यारी शुरू हुई। 'अर्घ-पूजा' के विषय में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से सलाह की। पितामह भीष्म ने भगवान् श्रीकृष्ण के दशावतार का वर्णन करके उनकी महिमा बतलाते हुए श्रीकृष्ण को ही इस पद के सर्वथा योग्य और अधिकारी बताया। पितामह भीष्म की आज्ञा पर सहदेव ने श्रीकृष्ण की पूजा की पर यह देखकर ईर्ष्यालु चेदिराज शिशुपाल सहसा कुपित हो उठा और उसने इसका विरोध किया। वह श्रीकृष्ण को भला-बुरा कहने लगा। अन्तत भगवान् ने अपने चक्र से उसकी गर्दन काट डाली। दूसरी ओर राजा दुर्योधन युधिष्ठिर की अपार राज्य-श्री को देख-देखकर कुढ रहा था। वह सभा का अवलोकन करते समय कई स्थान पर कारीगरी की भ्रान्ति के कारण फिसल कर गिरा जिसमे सब लोगो ने उसकी हंसी की। लज्जित और निराश दुर्योधन ने युधिष्ठिर को नीचा दिखलाने के लिये अपने मामा शकुनि की सलाह ली। शकुनि ने द्यूत द्वारा युधिष्ठिर को राज्य, धन व स्त्री सहित जीतने का निश्चय किया। इसके लिये युधिष्ठिर को सादर आमन्त्रित किया गया। युधिष्ठिर उस कपट-द्यूत मे एक-एक करके सब कुछ हार गये। दुर्योधन ने दु शासन को द्रौपदी को लाने की आज्ञा दी। दु शासन दीनालाप करती हुई द्रौपदी को खीचता हुआ राजसभा मे ले आया। दुर्योधन ने दु शासन को उसकी साडी खीचने का आदेश दिया। राजसभा मे उपस्थित सभी वृद्ध व अनुभवी लोगो से फरियाद करने के बाद निराश हुई द्रौपदी ने अपने भगवान् श्रीकृष्ण को स्मरण पुकारना प्रारम्भ किया। प्रभु की कृपा से उसका वस्त्र बढता गया। यहाँ तक कि दु शासन उसे खीचते-खीचते थककर पृथ्वी पर मूच्छित हो गिर पडा। दु शासन के इस क्रूर-कर्म को देखकर भीमसेन ने उसके वक्ष स्थल को फोडकर रक्तपान करने की प्रतिज्ञा की। द्रौपदी ने भी दुष्ट दुर्योधन को 'थोडे ही समय मे मृत्यु' होने का शाप दिया। यह देखकर भयभीत धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को वर प्रदान किये। फलत उसके पति पुन बन्धन मुक्त हो गये। जब सारे पाण्डव रथ पर बैठकर जाने लगे तो उन्हे वनवास दिलाने के भाव से दुर्योधन ने पुन द्यूत के लिये ललकारा। इस बार भी युधिष्ठिर को हारना पडा और १२ वर्ष का वनवास और १ वर्ष का अज्ञातवास भोगना पडा। वन जाते हुए पाण्डवो का अनुसरण उनकी दुखी माता कुन्ती ने किया पर मार्ग मे पाण्डवो ने अपनी मा को अपने चाचा विदुर के घर पर ही छोड दिया। सूर्य की आराधना से

उन्होंने एक 'भाण्ड' प्राप्त किया जिसकी सहायता से वह अनेक लोगों को भोजन करा सकते थे। इसके बाद पाण्डवों ने काम्यक वन मे प्रवेश किया। वहाँ पर भीम ने किर्मीर नामक राक्षस का वध किया। पाण्डवो का समाचार सुनकर भगवान् कृष्ण पाण्डवो के पास आये और तत्क्षण ही कौरवो का नाश करने की इच्छा करने लगे पर अर्जुन ने उन्हे अपनी वनवास की अवधि तक रुकने के लिए कहकर शान्त किया। भगवान् कृष्ण भी अर्जुन के द्वारा स्तुति किये जाने पर, रथ पर सवार होकर द्वारिकापुरी लौट गये।

चतुर्थ आश्वास

इसके बाद, पाण्डव जब से वन गये, तब से महाराज धृतराष्ट्र भावी संकट की आशंका से चिन्तित रहने लगे। कर्ण ने दुर्योधन को युद्ध के लिये उकसाया। अत दुर्योधन बडी भारी सेना के साथ युद्ध के लिये चल पडा। मार्ग में उन्हे श्रीव्यास मुनि के दर्शन हुए। सभी ने मुनि को प्रणाम किया। श्रीव्यास मुनि, सेना को रोकने व दुर्योधन को समझाने-बुझाने के अभिप्राय से राजसभा मे पधारे। उन्होंने राजा धृतराष्ट्र से कहा कि 'आप अपने वंश को नाश से बचाइये'। इसके पश्चात् मैत्रेय मुनि का शुभागमन हुआ। उन्होंने धृतराष्ट्र से अपने आगमन का कारण बतलाया। मुनि मैत्रेय ने राजा दुर्योधन से पाण्डवों को उनका आधा राज्य देकर सन्धि करने का परामर्श दिया पर दुर्योधन उनकी बात की अवहेलना करके गर्व से अपनी जाघ ठोकने लगा। यह देखकर मैत्रेय मुनि ने उसकी 'जाघ के चूर-चूर हो जाने' का शाप दिया।

उधर युधिष्ठिर अपने भाइयो के साथ काम्यक-वन छोड़कर द्वैतवन चले आये। एकबार द्रौपदी ने युधिष्ठिर को अनेक उत्तेजक वाक्यो के द्वारा युद्ध करने का परामर्श दिया क्योकि राजलक्ष्मी बिना युद्ध के नही प्राप्त होती है। द्रौपदी के इन विचारो का समर्थन भीमसेन ने भी किया और शत्रु पर आक्रमण करने का प्रस्ताव रखा। दोनो की बात सुनने के बाद युधिष्ठिर ने अपने गम्भीर विचार प्रकट किये। वे बोले—'धर्म महान् है। यदि हम वनवास की अवधि-पालन को छोड़कर युद्ध करेंगे तो निश्चय ही हम धर्म-च्युत होगे। इसके अतिरिक्त शत्रुओ का मुकाबला करने के लिये इस समय हमारे पास योग्य-सेना भी नही है। अत: संग्राम का विचार करना उचित नही।' इसके पश्चात् श्रीव्यास मुनि पाण्डवों के समक्ष प्रकट हुए और युधिष्ठिर को मंत्र प्रदान किया। युधिष्ठिर ने वह मंत्र अर्जुन को देकर भगवान् शंकर की उपासना करने के लिये

हिमालय भेजा। अर्जुन शंकर से अस्त्र-प्राप्ति के निमित्त घोर तपस्या करने लग गये। इसके बाद एक दिन कोई शूकर अर्जुन के निकट आक्रमण के लिये बढ़ने लगा तो अर्जुन ने अपने बाण के द्वारा शूकर का वध किया। इसी बीच विशालकाय किरातवेषधारी शंकर भी प्रकट हुए। किरात और अर्जुन में अहमहमिक भावना से वाग्युद्ध के बाद शस्त्रास्त्र का युद्ध होने लगा। अर्जुन के सारे बाण, धनुष, खड्ग आदि-शस्त्रों को किरात ने ग्रसित कर लिया। अपने सारे शस्त्रों को नष्ट हुआ देखकर अर्जुन भगवान् शंकर की स्तुति करने लगे। थोड़ी ही देर में किरात के स्थान पर उनके उपास्यदेव भगवान् शंकर प्रकट हुए। एकाएक शम्भु को प्रकट हुआ देखकर अर्जुन के हर्ष का ठिकाना न रहा। उनका कण्ठ रुँध गया, नेत्रों में आँसू आ गये। साथ ही अपने पूर्वकालीन कलह से वह लज्जित हो उठा। उसने तदर्थ भगवान् शंकर से क्षमा-याचना की। भक्ति-भाव में विभोर हो अर्जुन ने अनेक प्रकार से भगवान् शंकर की स्तुति की। अर्जुन की शक्ति और अपार भक्ति से सन्तुष्ट हुए शंकर भगवान् ने उसे अपना 'ब्रह्मास्त्र' प्रदान किया और साथ ही उसके गाण्डीव, बाण, खड्ग आदि को भी लौटा दिया। भगवान् शंकर के अपने धाम लौट जाने पर, इन्द्र का सारथि मातलि अर्जुन के पास आया और अर्जुन को रथ पर बैठा कर स्वर्ग ले गया। अर्जुन ने भी ५ वर्षों तक स्वर्ग में निवास करते हुए इन्द्र से अस्त्र-विद्या ग्रहण की। एकबार इन्द्र ने अर्जुन से देवताओं के शत्रु निवातकवचों के वध के लिये कहा क्योंकि देवगण उनके वध में असमर्थ थे। पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके अर्जुन रथ पर सवार होकर दानवों के नगर पहुँचे। अर्जुन और निवातकवचों का भीषण युद्ध हुआ। युद्ध में अर्जुन की विजय हुई। निवातकवचों का वध करके अर्जुन पुनः स्वर्ग चले आये जहाँ पर उनकी खूब पूजा की गयी।

पञ्चम आश्वास

अर्जुन के स्वर्ग चले जाने पर इधर चारों पाण्डव तीर्थयात्रा करते हुए पृथ्वी पर विचरण करने लगे। वे युधिष्ठिरादि हिमाचल पर्वत की तलहटी में स्थित गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे। इस गन्धमादन पर्वत के शिखर पर ही कुबेर का सरोवर था जिसकी रक्षा 'क्रोधवश' नामक राक्षस-समूह करता था। यह पर्वत अपने प्राकृतिक-सौन्दर्य एवं दिव्यतादि गुणों के कारण सभी का मन आनन्दित करने वाला था। इस पर्वत के एक भाग में स्थित बदरिकाश्रम में कुछ समय के लिये पाण्डवों ने मुनियों के साथ निवास किया। एकबार

गन्धमादन पर्वत की चोटी से एक दिव्य पुष्प द्रौपदी के पास गिरा। उसकी अलौकिक सुगन्धि के कारण कौतूहलपूर्ण द्रौपदी ने भीम से उसी प्रकार के अन्य पुष्प लाने के लिए निवेदन किया। द्रौपदी का मनोरथ पूर्ण करने की अभिलाषा से भीमसेन गन्धमादन पर्वत के वन मे पुष्पो को खोजते हुए चल पडे। मार्ग मे उन्हे वानरश्रेष्ठ हनुमान् के दर्शन हुए। अनजाने मे, भीम ने हनुमान् से हट जाने के लिए कहा तथा अपनी बात की अवहेलना किये जाने पर उन्हे कटुवचन भी कहे। अन्त मे वानरश्रेष्ठ हनुमान् की आज्ञा पाकर वह उनकी पूँछ उठाकर उन्हे किनारे खिसकाने लगा पर जब सारी शक्ति लगाने के बाद तिलभर भी पूँछ इधर से उधर न कर सका तो उसे कोई दिव्य-शक्ति मानकर उनका परिचय जानना चाहा। हनुमान् ने उसे अपना परिचय दिया। अपने बडे भाई से मिल कर भीम बडे प्रसन्न हुए। भीम की प्रार्थना पर हनुमान् जी ने अपना समुद्र-लघन करने वाला त्रेतायुग का विराट-शरीर प्रदर्शित किया जिसे देखकर उसकी आँखें बन्द हो गयी। इसके बाद भीमसेन कुबेर की पुष्करिणी पहुँचे और विकसित 'सौगन्धिक' पुष्पो को चुनने के लिए सरोवर मे कूद पडे। भीम को वहाँ के रक्षको ने बहुत रोका, पर जब मना करने पर भीम न माने तो यक्षो का भीम के साथ घनघोर युद्ध हुआ। थोडी ही देर मे भीम ने यक्षो को परास्त कर दिया और फूल चुनकर हर्षित मन से अपनी प्रिया द्रौपदी के पास आये। पुष्पो को प्राप्त कर द्रौपदी भी अत्यन्त हर्षित हुई। इसके बाद पाण्डव 'यामुन' पर्वत पर पहुँचे। शिकार खेलते हुए भीम को वहाँ पर एक अजगर ने पकड लिया। युधिष्ठिर ने सर्प के प्रश्नो का उचित रूप से उत्तर देकर भीम को मुक्त कराया। इसके पश्चात् चारो भाई द्रौपदी के साथ द्वैतवन पहुँचे। इसके बाद एकबार अपनी सम्पत्ति से पाण्डवो को जलाने के अभिप्राय से कौरव-दल ने घोष-यात्रा प्रारम्भ की। द्वैतवन के सरोवर मे गन्धर्वराज चित्रसेन उस समय अपनी स्त्रियो के साथ क्रीडा कर रहे थे। गन्धर्वराज ने दुर्योधन के इस कुभाव को ताड लिया और उसके समीप मे जाते ही अपने बाणो की वृष्टि से आकाश आच्छादित कर दिया तथा उन्हे आगे बढने मे रोक दिया। गन्धर्वराज चित्रसेन ने कर्ण को मैदान से भागने के लिये बाध्य कर दिया तथा दुर्योधन को जीवित ही बाध कर आकाश ले जाने लगा। अन्त मे अर्जुन ने उसे इस विपत्ति से छुटकारा दिलवाया। दुर्योधन इस कर्म मे अत्यन्त लज्जित हुआ और अनशन का विचार करने लगा। एक दिन स्वप्न मे दैत्यो ने उसे पाण्डवो से युद्ध करने के लिये तत्पर हो जाने का आदेश दिया और युद्ध मे स्वय भी कौरवो की मदद करने का वचन दिया। यह देखकर दुर्योधन पुन: नये जोश से हस्तिनापुर आकर रहने लगा। कौरवो के लौट जाने पर

पाण्डव द्वैतवन छोडकर काम्यकवन आकर रहने लगे। पाण्डव शिकार के लिये बाहर गये थे, द्रौपदी कुटिया के दरवाजे पर खडी थी, तभी जयद्रथ उधर से गुजरा। द्रौपदी के सौन्दर्य को देखकर वह मुग्ध हो उठा और उसको अपने रथ पर बलात् बैठाकर चल पडा। भीमसेन ने उसका पीछा करके उसे पकड लिया और उसके सिर पर पाच चोटियां (मूढत्व की सूचक) रख दीं। भीम जयद्रथ को बाधकर तथा अपने रथ पर बैठा कर युधिष्ठिर के पास ले आये। राजा युधिष्ठिर ने दया करके उसे छोड दिया। जयद्रथ अपने अपमान से लज्जित होकर भगवान् शकर की उपासना करने लगा। भगवान् से अर्जुन को छोडकर शेष पाण्डवो के वध का वरदान प्राप्त कर वह अपनी राजधानी लौटा। इस प्रकार पाण्डवो की १२ वर्ष की दीर्घकालीन वनवास की अवधि पूर्ण हुई। एकबार धर्म ने पाण्डवो की परीक्षा ली। वह मृग का शरीर धारण कर किसी ब्राह्मण का अरणि-युग्म लेकर भाग गया। ब्राह्मण की पुकार पर पाण्डवो ने उसका पीछा किया पर वह वन मे उन सबके देखते ही देखते गायब हो गया। युधिष्ठिर ने पानी लाने के लिये एक-एक को क्रमश भेजा, पर यक्षरूपधारी सूर्य के प्रश्नो का उत्तर दिये बगैर जल लेने का आग्रह करने के कारण वे सब धराशायी हो गये। अन्त मे युधिष्ठिर ने उसके प्रश्नो का समुचित उत्तर देकर अपने भाइयो को पुनरुज्जीवित किया और सूर्य से यथारुचि रूप धारण करने की शक्ति प्राप्त कर एक वर्ष का अज्ञातवास बिताने के लिये पाँचो पाण्डवो ने अलग-अलग वेष धारण कर भिन्न-भिन्न नामो से राजा विराट की राजधानी मे प्रवेश किया। वहाँ पर सैरन्ध्री के रूप मे निवास करती हुई द्रौपदी को एक बार राजा विराट के साले कीचक ने देखा और उस पर मुग्ध हो गया। उसने द्रौपदी से विवाह करने का प्रस्ताव रखा पर द्रौपदी ने उसे अपने को पाँच गन्धर्वों की पत्नी बतलाया और दूसरे दिन रात्रि मे नाट्य-गृह मे मिलने का वादा किया। उधर द्रौपदी ने यह समाचार भीम को बतलाया। भीम ने तत्क्षण उसके वध की प्रतिज्ञा की। रात्रि के निबिड अन्धकार मे भीम ने सैरन्ध्री के स्थान पर प्रवेश किया। कीचक भीम को सैरन्ध्री समझ कर जैसे ही आलिगन करने के लिए बढा वैसे ही भीम ने घूँसो के प्रहार से उसे मूच्छित कर दिया। दोनो मे घोर युद्ध हुआ। अन्त मे भीम ने कीचक का वध कर डाला और रसोई घर मे लौट आये। कीचक का वध सुनकर उसके भाई रोने-चिल्लाने लगे और द्रौपदी को उसके वध का कारण मानकर विराट की आज्ञा से उसे भी कीचक के साथ जलाने लगे। वहाँ पर भी भीम ने अन्य कीचको का वध करके द्रौपदी की रक्षा की। इस प्रकार रानी सहित अन्य स्त्रियाँ द्रौपदी को गन्धर्व-पत्नी मानकर उसका सत्कार करने लगी। पाचो पाण्डव सानन्द अज्ञात वास की अवधि बिताने लगे।

षष्ठ आश्वास

इसके बाद दुर्योधन की आज्ञा से उसके गुप्तचर पाण्डवो की खोज करने लगे पर उनको कही न पाकर उन्हे वन मे नष्ट हुआ मानकर लौट आये और दुर्योधन को पाण्डवों के गायब होने और कीचक-वध का शुभ-समाचार सुनाया। कीचक का वध सुनकर दुर्योधन को पाण्डवो के विराटनगर मे अज्ञातवास करने का सशय उत्पन्न हो गया क्योकि कीचक को भीम के सिवा और कोई नही मार सकता था। अत उसने मत्स्य-देश पर चढाई करने का निश्चय किया क्योकि यदि पाण्डव उस नगर मे निवास कर रहे होंगे तो गौओ का हरण होते हुए सुनकर उनकी रक्षा के लिये हमारे सामने आने पर पहचान लिये जावेंगे। परिणामत उन्हे पुन वनवास भोगना पडेगा। इस प्रकार दुर्योधन की आज्ञा से सुशर्मा ने एक ओर से हमला करके विराट के गौ-धन का हरण किया। गौओ की रक्षा के लिए राजा विराट नकुल, सहदेव, भीम और युधिष्ठिर को साथ लेकर चल पडे। दोनो सेनाओ मे घोर युद्ध हुआ। राजा सुशर्मा ने राजा विराट को बाध लिया। युधिष्ठिर की आज्ञा पर भीमसेन ने राजा विराट को छुडाया। दूसरे दिन प्रात काल दूसरी ओर से दुर्योधन ने चढाई कर दी और राजा विराट का गोधन हरण कर लिया। गौओ के अध्यक्ष ने नगर मे जाकर राजकुमार उत्तर को सारा समाचार सुनाया। वह उस समय स्त्रियो के बीच बैठा हुआ था अत बडी शेखी बघारने लगा। द्रौपदी के परामर्श पर 'बृहनडा' (अर्जुन) को उसने अपना सारथि बनाया और युद्ध के लिये चल पडा। समर-भूमि मे कौरवो की अपार-सेना को देखकर विराटपुत्र विलाप करने लगा। उसने अर्जुन से रथ लौटा ले चलने के लिये बारम्बार प्रार्थना की। उसे बहुत प्रलोभन भी दिया पर अर्जुन ने एक न सुनी। उत्तर मारे भय के रोने लगा और रथ छोडकर भागा। अर्जुन ने उसे पकडकर बैठाया और उससे सूत-कर्म करने को कहा। श्मशान पहुँच कर अर्जुन ने अपने शस्त्र शमीवृक्ष से उतारे और उत्तर को अपना वास्तविक परिचय देकर आश्वस्त किया। अपने सामने अर्जुन को खडा देखकर उत्तर का मनोबल बढ गया। अर्जुन ने अपने तीक्ष्ण बाणो से भीष्म और द्रोणाचार्य को विदीर्ण कर दिया। उसने कर्ण, शकुनि, दुर्योधन आदि को घायल कर दिया तथा स्वापनास्त्र छोड कर सबको मूर्च्छित कर दिया। इस प्रकार शत्रु-सैन्य को पराजित करके उसने पुन अपने शस्त्रो को शमीवृक्ष पर बाध दिया और उत्तर को, वास्तविक रहस्य किसी से भी प्रकट करने से मना कर दिया। फिर उत्तर के स्थान पर अर्जुन सूतकर्म सम्पादित करते हुए नगर मे आये। उत्तर की विजय का समाचार सुनकर विराट बडा

हर्षित हुआ। सारी नगरी उसके स्वागत मे सज्जित की जाने लगी। राजा विराट प्रसन्नता के कारण युधिष्ठिर के साथ द्यूत खेलते-खेलते बारम्बार अपने पुत्र की बड़ाई करने लगे। युधिष्ठिर अर्जुन के युद्धकर्म की प्रशंसा करने लगे। क्रुद्ध होकर राजा ने पासा युधिष्ठिर की नाक पर दे मारा। द्रौपदी ने नाक से बहते हुए युधिष्ठिर के रक्त को कपडे से पोछा। इसके बाद अज्ञातवास की अवधि समाप्त होने पर मत्स्यराज विराट के सिहासन पर बैठ गये। परिचय प्राप्त करने पर राजा विराट् ने क्षमा-याचना की और अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर दिया। अर्जुन और दुर्योधन दोनो ही द्वारिका श्रीकृष्ण से युद्ध मे सहायता प्राप्त करने के लिये गये। दुर्योधन ने तो उनकी सारी सेना अपनाई और अर्जुन ने केवल श्रीकृष्ण को ही अपनाया। सुयोधन ने शल्य से वर प्राप्त किया और युधिष्ठिर ने 'कर्ण को हतोत्साह करने का वचन' शल्य से प्राप्त किया। युद्ध के लिये दोनों ओर सेना जुटने लगी। कौरवो की ओर ११ अक्षौहिणी और पाण्डवो की ओर ७ अक्षौहिणी सेना थी। धृतराष्ट्र ने इसी बीच सजय को सन्धि के विचार से पाण्डवो के पास भेजा। लौट कर सजय ने धृतराष्ट्र से सारी बात बतलाई। सभी लोगो ने दुर्योधन को मिलकर आधा राज्य प्रदान करने की सम्मति दी पर अभिमानी दुर्योधन ने किसी की न सुनी। राजा युधिष्ठिर ने भी सन्धि का प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण को कौरवो के पास भेजा। कौरवो की सभा मे जाकर भगवान् कृष्ण ने धृतराष्ट्र व दुर्योधन को युक्ति व तर्क के साथ समझाने का प्रयास किया पर मूर्ख दुर्योधन पर इसका उल्टा ही असर पडा। उसने कर्णादि के परामर्श से भगवान् कृष्ण को बाधने का प्रयास किया। भगवान् ने भी उसके इस अभिप्राय को भाँप कर विराट रूप प्रकट किया जिससे कर्णादि-समूह मूच्छित हो गया। मुनियो, देवताओ आदि ने मिल कर भिन्न-भिन्न रूप से उनकी स्तुति की। इसके बाद भगवान् कृष्ण पाण्डवो के पास आये। भगवान् कृष्ण के परामर्श पर पाण्डव, कोई चारा शेष न रहने के कारण, युद्ध के लिये चल पडे। दोनो पक्षो की सेनाए कुरुक्षेत्र के मैदान मे एकत्रित हुई। कौरव सेना के सेनापति भीष्म-पितामह हुए और कर्ण ने प्रतिज्ञा की कि 'जब तक भीष्म युद्ध करेगे तब तक मैं युद्ध न करूँगा'।

सप्तम आभाग

भीष्म-पितामह के सेनापतित्व वाली कौरव सेना तथा धृष्टद्युम्न के सेनापतित्व वाली पाण्डव सेना कुरुक्षेत्र के मैदान मे आमने-सामने आई। रणभूमि मे मे अपने नाते-रिश्तेदारो को खडा हुआ देखकर अर्जुन अधीर हो उठा। उसके

हाथ से धनुष सरकने लगा। फिर भगवान् कृष्ण ने उसे गीतोपदेश देकर आश्वस्त किया। दोनो सेनाओ में घनघोर युद्ध हुआ। भेरियो के तुमुल नाद से आकाश गुञ्जायमान हो उठा। चारो ओर दौडते हुए हाथी-घोडो से धूलि उठने लगी। वीरो के अस्त्र-शस्त्र के प्रहार से विविध वाहन नष्ट होने लगे। पशुओ के मास का भक्षण करने के लिये मैदान मे पशु-पक्षी आने लगे। चारो ओर सियारो की अमंगलकारी ध्वनि होने लगी। ऐसी स्थिति मे भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर की सेना मे प्रवेश कर अपने बाणो से शत्रुओ को स्तम्भित कर दिया। जब नौ दिन तक प्रचण्ड-युद्ध करते हुए भी भीष्म-पितामह न मर सके तो परेशान होकर पाण्डव भीष्म-पितामह के शिविर मे पहुँचे और उनकी मृत्यु का उपाय पूछा। भीष्म के वचनो के अनुसार दूसरे दिन अर्जुन ने शिखण्डी को आगे करके युद्ध किया। अर्जुन के बाणो से भीष्म धराशायी हो गये। उनकी इच्छा के अनुकूल अर्जुन ने तीन बाणो के द्वारा सुन्दर वीरोचित तकिया प्रदान किया। उनके प्यास लगने पर अर्जुन ने ही उन्हें पानी प्रदान किया। इसके पश्चात् द्रोणाचार्य कौरव-सेना के सेनापति बनाये गये। दुर्योधन ने उनसे युधिष्ठिर को बाँध कर लाने के लिये प्रार्थना की। द्रोणाचार्य ने भी अर्जुन की अनुपस्थिति मे उन्हे बाँधने की अपनी समर्थता प्रकट की। द्रोणाचार्य जैसे ही सात्यकि, सहदेव आदि को घायल करते हुए युधिष्ठिर के समीप पहुँचे वैसे ही उन्हे अर्जुन दिखलाई पडे। अर्जुन ने अपने तीखे बाणो से द्रोणाचार्य को घायल कर दिया। इसी समय सन्ध्या हो जाने से लोग अपने-अपने शिविर चले गये। दूसरे दिन दुर्योधन ने अर्जुन को युधिष्ठिर से दूर ले जाने के लिए त्रिगर्त जनपद के वीरो को नियुक्त किया। प्रातःकाल होते हुए सशप्तको ने अर्जुन को युद्ध के लिये ललकारा।

अपने नियम के अनुसार अर्जुन युधिष्ठिर की रक्षा मे सत्यजित् को लगाकर स्वय सशप्तको की चुनौती का सामना करने चल दिये। द्रोणाचार्य युधिष्ठिर के समीप पहुँचे और सत्यजित् के शिर को अपने बाण से काट दिया। युधिष्ठिर द्रोणाचार्य के बाणो से घायल होकर युद्ध-भूमि से भाग गये। यह देखकर भीमसेन युद्ध करने के लिए आगे बढे और उन्होंने अपने बाणो से सेना को तितर-बितर कर दिया। इसके बाद भगदत्त विशालकाय हाथी पर बैठ कर भीम की ओर आया। उनके हाथी ने पाण्डव-सैन्य को नष्ट करते हुए भीम को भी अपनी सूँड मे लपेट कर बडा कष्ट पहुचाया। भगदत्त के हाथी ने सात्यकि के रथ को उठाकर दूर फेंक दिया। पाण्डव-सेना का हाहाकार सुनकर अर्जुन आये और उन्होंने भगदत्त के फेंके गये सारे शस्त्रास्त्रों को अपने बाणो से काट दिया। इस पर भगदत्त ने क्रुद्ध होकर अर्जुन पर वैष्णवास्त्र छोडा जिसे भगवान् कृष्ण ने अपने वक्षस्थल पर झेला। इसके पश्चात् भगवान् की आज्ञा से अर्जुन ने भगदत्त पर बाण

चलाया जिससे उसकी मृत्यु हुई। फिर अर्जुन ने उसके हाथी को भी मारा। वह चिंघाड़ता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा। भगदत्त को जीतने के बाद अर्जुन संशप्तकों से युद्ध करने के लिये आये। इतने में सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हुए और दोनों सेनायें अपने-अपने डेरों में चली गयीं। दूसरे दिन द्रोणाचार्य ने चक्र-व्यूह की रचना की जिसका ज्ञान अर्जुन, श्रीकृष्ण और अभिमन्यु के सिवा और किसी को न था। धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने निराश होकर अभिमन्यु को व्यूह-भेदन के कार्य में नियुक्त किया। अभिमन्यु चक्र-व्यूह को भेद कर तो घुस गया पर उसकी रक्षा के लिये जैसे ही शेष चारों पाण्डव प्रवेश करने लगे वैसे ही जयद्रथ ने शंकर के वरदान के कारण उन लोगों को प्रवेश करने से रोक दिया। अभिमन्यु ने काल के समान अकेले ही युद्ध किया। उसको किसी भी प्रकार मरता न देखकर महारथियों ने उसे अनीति से मिलकर मार डाला। उसके वध से चारों पाण्डव बड़े दुःखी हुए। अर्जुन जब संशप्तकों से युद्ध करके लौटे तो उन्होंने अपने भाइयों को दुःखी देखकर दुःख का कारण पूछा। अपने पुत्र का वध सुनकर वे बहुत प्रकार से विलाप करने लगे। उन्होंने सायंकाल तक जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा की।

दूसरे दिन प्रातःकाल द्रोणाचार्य ने व्यूह-रचना करके जयद्रथ को बीच में खड़ा कर लिया। अर्जुन ने व्यूह में प्रवेश किया। अपने असंख्य बाणों से अर्जुन ने शत्रुओं को धराशायी कर दिया। युधिष्ठिर ने अर्जुन का समाचार जानने के लिये सात्यकि को व्यूह के अन्दर भेजा। उसका भूरिश्रवा के साथ घोर युद्ध हुआ। भूरिश्रवा ने सात्यकि के मस्तक को काटना चाहा पर इतने में ही अर्जुन ने अपने बाण से उसकी उठी हुई भुजा काट दी। वह भी निराश होकर बाण का आसन बनाकर उपवास करने के लिये बैठ गया पर सात्यकि ने खड्ग उठाकर उसकी गर्दन उड़ा दी। इसके बाद भीम भी अर्जुन के पास आ गये। कर्ण और भीम का घोर युद्ध हुआ। उसने भीम को बारम्बार विरथ कर दिया। भीम को खरी-खोटी सुनाते हुए कर्ण ने छोड़ दिया। उधर भगवान् कृष्ण ने अपने योगैश्वर्य से सूर्य को ढँक दिया। जयद्रथ ने जैसे ही सूर्य को देखने के लिये अपना मस्तक उठाया वैसे ही अर्जुन ने कृष्ण के संकेत पर उसका मस्तक अपने बाण से काट दिया। उस दिन रात्रि में भी युद्ध होता रहा। शत्रु एक-दूसरे का परिचय जानने पर ही शस्त्रों का प्रहार करते थे। रात्रि में घटोत्कच महान् शस्त्रों को लेकर प्रकट हुआ। कर्ण के साथ उसका घनघोर युद्ध हुआ। जब कर्ण उसके प्रहार से परेशान हो उठा तो उसने उस पर उस शक्ति का प्रयोग किया जो उसने बहुत समय से अर्जुन को मारने के लिये सुरक्षित रख छोड़ा था। श्रीकृष्ण की योजना के अनुसार द्रोणाचार्य के वध के लिए युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हतो' कहकर

द्रोणाचार्य को धनुष त्यागने के लिये बाध्य कर दिया। द्रोणाचार्य ध्यानमग्न होकर बैठ गये। इसी बीच धृष्टद्युम्न ने खड्ग लेकर लोगों के मना करने पर भी उनका सिर काट दिया। इसके पश्चात् क्रुद्ध अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र चलाया। उस अस्त्र को, सत्कार करके वीरों ने शान्त कर दिया। थोड़ी ही देर में भयंकर रात्रि हो गयी और लोग अपने-अपने डेरों में लौट आये।

अष्टम आश्वास

द्रोणाचार्य के वध के उपरान्त कर्ण कौरव-सेना का सेनापति बना। उसने एक ही दिन में सारे शत्रुओं को समाप्त करने की मिथ्या प्रतिज्ञा की। महाराज शल्य ने दुर्योधन के आग्रह पर उसका सूत-कर्म सम्पादित किया। कर्ण जब शल्य को अपना सारथि बनाकर युद्ध के लिये चला तो अपने स्वभाववश बड़ी-बड़ी डींग मारने लगा। शल्य को भी युधिष्ठिर से कहे गये अपने वचनों की स्मृति हो आयी और उन्होंने कर्ण को कटूक्तियों के द्वारा हतोत्साह करना प्रारम्भ कर दिया। कर्ण अपने बाणों से शत्रु-समूह को व्याकुल करता हुआ युधिष्ठिर के पास आया और उनके शस्त्रों को काटकर उन्हें शक्तिहीन बना दिया। उसने उन्हें बहुत बुरा-भला कहकर छोड़ दिया। युधिष्ठिर चिन्ता के कारण जाकर शिविर में लेट गये। इसके बाद कर्ण ने अपना भार्गवास्त्र पाण्डव-सैन्य पर छोड़ा जिससे अनेक नृपगण मर-मर कर भूमि पर गिरने लगे। अर्जुन ने जब अपनी सेना में युधिष्ठिर को न देखा तो वे शिविर में गये। वहाँ पर उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर को घायल पड़ा हुआ देखा। अर्जुन ने तत्क्षण ही कर्ण के वध का निश्चय किया और सेना को लेकर कौरव-दल की ओर चल पड़े। भीम ने कर्ण पर पूरी शक्ति से बाण छोड़ा जिससे वह मूर्च्छित हो गया। भीम ने बाण लेकर उसकी जिह्वा काटनी चाही पर अर्जुन का वध्य होने के कारण शल्य के मना करने पर उसे छोड़ दिया। इसके बाद भीम और दुःशासन आपस में भिड़ गये। क्रोध में आकर भीम ने उसे भूमि पर पटक दिया और उसके वक्षस्थल को चूर्ण कर उससे बहने वाले रुधिर का पान कर तृप्त हुआ। उस समय वह रणभूमि में साक्षात् रुद्र के समान लग रहा था। इसके उपरान्त अर्जुन और कर्ण आमने-सामने आये। कर्ण ने अर्जुन पर 'नागमय' बाण छोड़ा। बाण को आता हुआ देखकर भगवान् कृष्ण ने रथ को नीचा कर दिया जिससे वह बाण अर्जुन के मुकुट को छिन्न-भिन्न करता हुआ निकल गया। इसके बाद कर्ण के रथ के पहिये विप्र के शाप के कारण पृथ्वी में धँस गये। उसी समय कृष्ण के इशारे पर अर्जुन ने उसे बाण फेंककर मार डाला। कर्ण के वध के साथ ही साथ कौरव-सेना की आशा भी समाप्त हो गयी। दूसरे दिन दुर्योधन ने

राजा शल्य को अपनी सेना का सेनापति बनाया। उसका वध युधिष्ठिर ने किया। शकुनि को सहदेव ने और अनेक वीर राजाओं को अर्जुन ने समाप्त किया। भीम ने समस्त कौरवों का वध किया। सारी सेना के भाग जाने पर कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा भी युद्ध-भूमि छोड़कर भाग गये। अपने सारी सेना को नष्ट हुआ देखकर दुर्योधन ने अपनी माया से द्वैपायन-सरोवर में प्रवेश किया। युधिष्ठिरादि ने सरोवर के निकट पहुँचकर दुर्योधन को युद्ध के लिये ललकारा। दुर्योधन अपने जीवन की आशा छोड़कर बाहर आया और भीम के साथ गदा-युद्ध करने लगा। दुर्योधन का वध किसी भी प्रकार होना न देखकर श्रीकृष्ण ने भीम को दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करने का संकेत किया। जाँघ पर गदा पड़ते ही वह पृथ्वी पर गिर पड़ा। दुर्योधन के समाप्त हो जाने पर पाण्डवों ने शिविर में प्रवेश किया। अश्वत्थामा ने रात्रि में द्रौपदी के पाँच पुत्रों को सोते समय मौत के घाट उतार दिया। द्रौपदी यह सुनकर अनशन का व्रत लेकर बैठ गयी। भीम ने अश्वत्थामा पर आक्रमण किया। अश्वत्थामा ने भीम पर ब्रह्मास्त्र छोड़ा जिसे श्रीकृष्ण ने बीच में ही आकर रोक लिया। अश्वत्थामा ने अपने सिर पर लगी हुई मणि को द्रौपदी के लिये भीम को प्रदान किया। भीम ने भी उसे ब्राह्मण जानकर छोड़ दिया। इसके बाद धृतराष्ट्र गान्धारी के साथ रण-भूमि में आये। धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर का आलिंगन किया और अपने पुत्रों को नष्ट कर डालने वाले भीम को चूर्ण कर देना चाहा। भगवान् ने उनके अभिप्राय को समझकर लोहमय भीम को आलिंगन के लिए उपस्थित किया। धृतराष्ट्र ने उसे वास्तविक भीम समझकर चूर्ण कर दिया। इसके बाद सबने मिलकर गंगा के तट पर युद्ध में मरे हुए वीरों को जलांजलि-दान किया। पितरों का तर्पण करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने वाद्यों के नाद के साथ अपने पूर्वजों की नगरी में प्रवेश किया और पृथ्वी की रक्षा की। उन्होंने भीष्म-पितामह से प्रश्न करके अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद अश्वमेध-यज्ञ करके वे सुखपूर्वक हस्तिनापुर में निवास करने लगे।

सूक्ति-संग्रह

१ विफलैहा नाम नृणा जातिमकृत्वा पितामहानामनृणाम् ॥१।१६
२ साधुहितानि यतन्ते ये कर्तुं जगति पण्डिता नियत ते ॥१।५९
३ न हि सवादत्याग सज्जनरक्षासु मार्दवादत्याग ॥२।१९
४ सुमन सेवनमन्तर्गत्वा बहु मन्यते रसेष्वनमन्त. ॥२।४८
५ उपकारेऽपि महति मलिना मोघा ॥ २।११३
६ जयति तदा वै रिपुमाँल्लोकतुष्टो भवेद्यदा वैरिपुमान् ॥३।७९
७ ग्रहणं केशान्ताना साध्वीना लालयन्ति के शान्तानाम् ॥४।१४
८ सत्यगिरा जपता का केवलमाप्ता जनाधिराजपताका ॥४।२४
९ भवति महाराज नता तीक्ष्णे न मृदौ कृतोपहारा जनता ।
त्रिजगद्भानुं नमति त्रिसंध्यमिन्द्र न तत्प्रभानुक्षमति ॥ ४।२५
१० को लभते द्विषति दैन्यङ्कृति मानी शम् ॥५।५७
११. क सुहृदा कामयते परकीया पण्डितोऽत्र शङ्कामयते ॥५।८३
१२ ते हि नरो धन्या ये जित्वारीन्व्यापृता न रोधन्याये ॥६।१८
१३ उदयो दैवप्रभव प्रयत्नमात्रे वयं सदैव प्रभव ॥६।८०
१४ यत्न सुकृतोऽतियाति केशव दैवम् ॥६।८१
१५ विधिना वै मुख्येन स्फुटलक्षणसिद्धदेववैमुख्येन ।
देहभृतापायानि श्रेयास्यायुर्धनप्रतापायानि ॥६।८२
१६ सुहृदो नाम सहाया विपदो मोक्षाय देहिनामसहाया ६।८७
१७. जगति हि स मुदा रमते बन्धुरत यस्य मानसमुदारमते ॥६।१०७
१८ अपगच्छति श्रियो धनमत्त ॥६।११?
१९ समरे सन्नाशङ्क क्षत्रयुवा नार्थयते सन्नाश क ॥६।१४
२० ' पार्थिवभावो भवेद्यदा सावन्ध ॥६।१२७
२१ ' '' प्रचुरमदाना प्रवृत्तिरुग्रैवेयम् ॥७।१६
२२ '' अन्तेवासिव्यापत्सु सज्जना न रमन्ते ॥७।११०
२३ '' '' त धर्मं विपदि योद्धुराजावाहु ॥७।११२
२४ रमते नाकमितार मृतमप्यन्वेति याङ्गना कमितारम् ॥१।२५

॥ श्रीः ॥

युधिष्ठिरविजयम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्
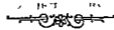
प्रथम आश्वासः

प्रदिशतु गिरिशं स्तिमितां ज्ञानदृशं वः श्रियं च गिरिशस्तिमिताम् ।
प्रशमितपरमदमायं सन्तः संचिन्तयन्ति परमं दमायम् ॥ १ ॥

अनुवाद—शत्रु के अहङ्कार और माया को शान्त करने वाले जिस (ईश्वर) का इन्द्रियजयी साधु और पण्डित ध्यान करते हैं वह गिरीश अर्थात् शङ्कर आप (पाठक) लोगों को अचल ज्ञानदृष्टि और वाणी में प्रशंसा-प्राप्त लक्ष्मी (दोनों को) प्रदान करें।

व्याख्या—महाकवि वासुदेव ने नियमानुसार तीन श्लोकों में ग्रन्थ की निर्विघ्न-परिसमाप्ति के उद्देश्य से अपने इष्टदेव शङ्कर का स्मरण करके, उनसे अपने पाठकों के योग-क्षेम के लिये लक्ष्मी और ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की है तथा प्रकारान्तर से अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण—ज्ञान, ऐश्वर्य एवं अभ्युदय, निःश्रेयस के समन्वय—का उन्मीलन किया है। अपने इष्टदेव शङ्कर को 'प्रशमितपरमदमायम्' पद-विशिष्ट बतला कर उनकी सर्वशक्तिमत्ता की ओर भी संकेत किया है। उसने कामदेव जैसे अपने अनेक रिपुओं के अहङ्कार और मायाजाल को अपनी अचिन्त्य-शक्ति से छिन्न-भिन्न किया है ॥१॥

यो वा मन्दरवपुषं ममर्द मातङ्गवरममन्दरवपुषम् ।
कान्तां चाप धराधः क्षपितो येनाङ्गजोऽपि चापधराद्यः ॥ २ ॥

अनुवाद—और जिसने (शङ्कर) मन्दराचलवत् शरीर, (अथवा—मूर्तिमन्त भय (दरवपुषम्) वाले शत्रु (काम) को) तथा भयंकर शब्द करने वाले (अमन्दरवपुषं) गजवर (गजासुर) को मारा। जिसने हिमाचल से वधू (पार्वती) को प्राप्त किया एवं धनुर्धारियों में अग्रगण्य कामदेव को भी नष्ट कर दिया। ('ऐसा ईश्वर आप पाठकों को उपरि-प्रार्थित वस्तुएँ प्रदान करें—अगले श्लोक तक इसका अन्वय करें')।

व्याख्या—भक्ति-हृद में मग्न कवि ने इस श्लोक में अपने इष्ट-देव की अनेक विशिष्टताओं पर प्रकाश डाला है। उसने भयंकर गजासुर का वध करके उसकी खाल को अपने शरीर का परिधान बनाया है। देवताओं के हित के लिये उमा (हिमाचल पुत्री) से विवाह किया तथा धनुर्धारियों में अग्रगण्य (क्योंकि संसार के योद्धा तो हृदय निशाने पर वार छोड़ते हैं पर काम लोगों के अदृश्य मन को अपना निशाना बनाता है) कामदेव को भी नष्ट कर दिया। इन अनेक पौराणिक-संकेतों के साथ कवि ने महादेव की भक्तवत्सलता, लोकोपकारिता, करुणा आदि अनेक गुणों पर प्रकाश डाला है ॥ २ ॥

टिप्पणी—कवि के यमक अलंकार का चमत्कार सर्वत्र दर्शनीय है पर इस श्लोक के 'यो वा मन्दरवपुः' पदों में भङ्ग-श्लेष के द्वारा अनेक अर्थों की भी उद्भावना की है। (१) यो वा यम महादेवो मन्दरवपुषं मन्दरगिरिवद् वपुर्यस्य स तादृश गजवरम्। (२) य ईश्वरो वामं प्रतीप वैरिणं हरवपुषं हरो मय वपुर्यस्य स तादृश मातङ्गवरम्। (३) 'य अवा' ऐसा पदच्छेद करने पर ऐसा अर्थ भी हो सकता है। ओ विष्णुर्वा शरो यस्य स (') अवाः। पौराणिक-कथानुसार त्रिपुरदाह के समय विष्णु शंकर के शर बने। 'तस्य त्रिपुरदाहे रथचरणपाणिः शरः' इति ॥ २ ॥

शिरसां सकले शकले स्खलिता सरिता वरा च सकलेशाकले।
यस्य च कोटीरमिता स्फुटं विबभ्राम वर्षकोटीरमिताः ॥ ३ ॥
(तिलकम्)

अनुवाद—जिसके सिर के चन्द्र-कला युक्त सम्पूर्ण खण्ड में गिरी हुई नदियों में मुख्य गङ्गा उसके मुकुट को प्राप्त कर असंख्य-करोड़ों वर्ष तक व्यक्त रूप से विचरण करती रही।

व्याख्या—कवि वासुदेव महादेव के माहात्म्य की उद्भावना करते हुए पाठकों को इस बात से अवगत कराना चाहते हैं कि भगवान् के सुन्दर चन्द्र-खण्ड पर गिरी हुई गङ्गा उनके मुकुट को प्राप्त कर चिरकाल पर्यन्त वहीं विचरण करती रही। इस श्लोक में 'शिरस्' पद षष्ठी बहुवचन में प्रयुक्त करके शङ्कर का पुराणोक्ति के अनुसार पञ्चाननत्व होना सूचित किया है ॥ ३ ॥

अस्ति स गजराजगती राजवरो येन गतशुगाजरा जगती।
भीषणमधिकं कवयः स्तुवन्ति जन्यं यदीयमधिकङ्कवयः ॥ ४ ॥

अनुवाद—जिसके अत्यधिक कङ्क-पक्षियों से भरे हुए तथा अत्यन्त भयंकर युद्ध की कवि-गण स्तुति (प्रशंसा) करते हैं, वह गजराज की गति

वाला राजाओं में श्रेष्ठ (कुलशेखर नामक) राजा था जिसने पृथिवी को शोकरहित एवं जरारहित कर दिया।

व्याख्या—'युग्म' के द्वारा कवि तत्कालीन राजा (कुलशेखर) का वर्णन करते हुए कहता है कि उसने (राजा) पृथिवी को अपने शासन-काल में सन्ताप-विहीन बना दिया था, वह महापुरुष था क्योंकि उसकी गजराज के समान गति थी। वह राजा इतना पराक्रमी था कि उसके युद्ध में असख्य शत्रुओं के शव के लोभ से कंक नामक पक्षिगण विचरण किया करते थे। उसके ऐसे युद्ध की कवि-गण अपनी कविताओं में प्रशंसा किया करते थे ॥ ४ ॥

तरवो भूरिच्छायाः समानफलदायिनी च भूरिच्छायाः।
सविनयशोभा जनता यद्राज्ये यस्य भुवि यशोभाजनता ॥ ५ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—जिसके राज्य में वृक्ष घनी छाया वाले, भूमि इच्छा के अनुरूप फल देने वाली तथा प्रजा विनय और सौन्दर्य से युक्त थी। पृथिवी पर उसकी यशोभाजनता थी अर्थात् वह (कुलशेखर) राजा अत्यन्त कीर्त्तिमान् व यशस्वी था।

व्याख्या—उपर्युक्त दो श्लोकों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह सर्वथा एक योग्य राजा व शासक था। उसके राज्य में किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट न था। भूमि शस्य-श्यामला थी एवं वृक्ष हरे-भरे होने के कारण पथिकों को सुन्दर पाथेय प्रदान करने में सर्वथा समर्थ थे। अपने ऐसे आदर्श राज्य में उसने पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर ली थी ॥ ५ ॥

तस्य च वसुधामवतः काले कुलशेखरस्य वसुधामवतः।
वेदानामध्यायी भारतगुरुरभवदायनामध्यायी ॥ ६ ॥

अनुवाद—उस धनी, तेजस्वी, कुलभूषण कुलशेखर (नामक राजा) के शासन-काल में आदि परमेश्वर विष्णु के नाम का चिन्तन करने वाला एवं वेदों का अध्ययन करने वाला 'भारतगुरु' नामक गुरु हुआ।

व्याख्या—महाकवि वासुदेव इस श्लोक में अपने तत्कालीन राजा एवं गुरु के नामों का उल्लेख करते हैं। उनके गुरु का नाम 'भारतगुरु' था। हो सकता है विद्वानों या गुरुओं में अग्रगण्य एवं पूज्यतम होने के कारण यह उनकी उपाधि रही हो। वे ज्ञान एवं ध्यान में समानरूपेण निष्णात थे। साथ ही उनका तात्कालीन राजा कुलशेखर भी 'यथा नाम तथा गुणा' की उक्ति चरितार्थ करता था। अपनी धनिकता एवं तेजस्विता के कारण उसने अपने वंश को वस्तुतः चार चाँद लगा दिये थे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—'कुलशेखर' इस पद में "श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते" इस कारिका के अनुसार श्लेषालङ्कार है जिसके दो अर्थ हैं। (क) कुलशेखर अर्थात् वंशभूषण (ख) 'कुलशेखर' नामक ॥ ६ ॥

यं प्राप रमा चार्यं देवी च गिरा पुराणपरमाचार्यम् ।
यमशुभजन्तोदान्तं परमेश्वरमुपदिशन्ति सन्तो दान्तम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—उस वृद्ध एवं श्रेष्ठ आचार्य (अथवा पुराणों में परम आचार्य) महान् 'भारतगुरु' को, जिसे साधु लोग शान्त-स्वरूप, अमङ्गल से उत्पन्न होने वाले सन्तों के कष्टों के अपहर्ता होने के कारण परमेश्वर कहते हैं, लक्ष्मी और वाग्देवी (सरस्वती) दोनों ने ही प्राप्त किया अर्थात् दोनों ही देवियों ने समान रूप से उसका आश्रय प्राप्त किया।

व्याख्या—प्रस्तुत दो श्लोकों के द्वारा कवि अपने गुरु का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करता है। वे सज्जनों के कष्टों के दूर करने वाले थे। जैसे ईश्वर जन्म-मरणादि की व्यथाओं से रहित है एवं दूसरे भक्तों के कष्टों को दूर करने वाला है। वे परमेश्वर इसलिये भी थे क्योंकि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही देवियों ने (विष्णु की पत्नियों ने) उनका वरण किया था। 'प्रायेण धनिनो मूर्खा निर्धनाश्चैव पण्डिताः' इस सर्वप्रचलित सत्य के वे अपवाद-स्वरूप थे ॥ ७ ॥

ज्ञानसमग्रामेयं निवसन्त विप्रसत्तमग्रामे यम् ।
तिलकं भूमावाहुर्यस्यार्थिषु दत्तभूमिभूमा बाहुः ॥ ८ ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ ब्राह्मणों के गाँव में रहने वाले, ज्ञान से परिपूर्ण एवं अतुलनीय जिस आचार्य 'भारतगुरु' को पण्डितजन भूमि का तिलक (भूषण रूप) मानते थे तथा जिसकी भुजा ने याचकों को प्रचुर-भूमि दान में दी थी।

व्याख्या—आचार्य 'भारतगुरु' अपनी दानवीरता में किसी भी उदार राजा से कम न थे। अत्यधिक धनी होने के कारण वे अपने याचकों को भूमि प्रचुर मात्रा में दान रूप में दिया करते थे। इसी कारण पण्डितजन उन्हें पृथिवी का आभूषण मानते थे ॥ ८ ॥

समजनि कश्चित्तस्य प्रवणः शिष्योऽनुवर्तकश्चित्तस्य ।
काव्यानामालोके पटुमनसो वासुदेवनामा लोके ॥ ९ ॥

अनुवाद—लोक में काव्यानुशीलन में लीन मन वाले उन आचार्य 'भारतगुरु' का कोई श्रद्धालु एवं उनकी रुचि के अनुकूल ही कार्य करने वाला शिष्य उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वासुदेव था।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने 'कश्चित्' इस पद से अपनी जिस विनम्रता एवं भक्ति का संकेत किया है वह महापुरुषों का प्रथम लक्षण है।

इतने जटिल ग्रन्थ की रचना करने वाले महाकवि की यह अभिमानशून्यता उसके सच्चिद्रूपत्व की परिचायिका है। वह अपने गुरु का परम श्रद्धालु एवं विनम्र भक्त है ॥ ९ ॥

कीर्तिमदभ्रां तेन स्मरता भारतसुधामदभ्रान्तेन।
जगदुपहासाय मिता पार्थकथा कल्मषापहा सा यमिता ॥ १० ॥

अनुवाद—स्थिर एवं अनन्त कीर्ति का स्मरण करते हुए, महाभारत नामक प्रसिद्ध इतिहासरूपी अमृत के मद से मतवाले उस वासुदेव ने संसार के उपहास के लिये उस पापहर्त्री संक्षिप्त पार्थकथा (युधिष्ठिरविजय-नामक) को निबद्ध किया।

व्याख्या—यहाँ पर भी 'जगदुपहासाय' इस पद का प्रयोग करके कवि ने अपने अनौद्धत्य को ही सूचित किया है। उसके मतानुसार यह छोटी सी पार्थ-कथा जो कि कलियुग के पापों का नाश करने वाली है केवल संसार में विद्वानों के उपहास का ही विषय बन सकेगी न कि श्रेष्ठ रसपूर्ण काव्यों के समान सहृदय भावुकों के हृदय को आकृष्ट एवं भाव-विभोर बनाने वाली श्रेष्ठ रचना ॥ १० ॥

अथ मृगराजद्विपिन प्रविश्य पाण्डुर्गिरिं विराजद्विपिनम्।
मृगयासङ्गरसेन स्वैरं व्यहरज्जितारिसङ्गरसेन ॥ ११ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर राजा पाण्डु, जिनकी सेना ने शत्रुओं के युद्ध को जीता है, शिकार के व्यसन के लोभ से, सुशोभित जंगलों वाले, सिंह तथा हाथियों से भरे हुए पर्वत में प्रवेश कर (चढ़कर) स्वेच्छापूर्वक विहार करने लगे।

व्याख्या—'अथ' मङ्गलवाची शब्द के द्वारा कवि अब प्रासङ्गिक इतिवृत्त का आरंभ करता है। राजा पाण्डु एक वीर एवं प्रतापी राजा थे जिनकी सेना ने शत्रुओं को युद्ध में परास्त किया था। अपनी अत्यधिक मृगयाप्रियता के कारण ही वे शाप के भागी हुए थे जिसका वर्णन कवि आगे के श्लोकों में करेगा ॥ ११ ॥

टिप्पणी—श्लोक के अन्त में छन्द की पूर्ति की आवश्यकता को ध्यान में रखकर कवि ने विसर्ग का प्रयोग नहीं किया है। यमकश्लेषपूर्ण चित्र काव्यों में विसर्गाभाव दोष नहीं माना जाता है ॥ ११ ॥

यं नरदेवं शस्यस्वमातृवचनेन संपदे वंशस्य।
मुनिवर्योऽजनयत्तं भ्रातृकलत्रे गजत्प्रयोजनयत्तम् ॥ १२ ॥

अनुवाद—जगत् के उपकार में लगे हुए जिस नरदेव (राजा) पाण्डु को

मुनिवर्य श्री व्यास ने अपनी पूज्य माता (सत्यवती) की आज्ञा से वंश के विस्तार (उत्कर्ष) के लिए अपने भाई (विचित्रवीर्य) की भार्या (अम्बालिका) से उत्पन्न किया।

व्याख्या—यह कथा महाभारत के आदिपर्व में आयी हुई है। इस पाण्डु की उत्पत्ति-कथा का उल्लेख करके, महाकवि वासुदेव ने भारतीय, विवाह के आदर्श 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या न सुखार्थे' का उद्घाटन किया है। केवल इन्द्रिय-सन्तोष या तृप्ति के लिये ही महापुरुष सम्भोग-रत नहीं होते प्रत्युत उसके पीछे जगत्-कल्याण की भावना निहित होती है॥ १२॥

टिप्पणी—महामुनि व्यास के शाप से पाण्डु जन्म से पीले थे अतः इनका नाम ही पाण्डु पड़ गया था॥ १२॥

सेन शरेणाकारि व्यसु मुनिमिथुन गतासुरेणाकारि।
तत्र यमाभो गहन शापं मुनिरमुचदसुसमाभोगहनम्॥ १३॥

अनुवाद—उस राजा पाण्डु ने (स्वेच्छा से विनोदार्थ) हिरण-हिरणी के आकार (शरीर) को धारण किये हुए मुनिदम्पती को अपने बाण से प्राण-शून्य (व्यसु) कर दिया। (इस पर) अत्यन्त क्रोध के कारण यमतुल्य उस मुनि ने पाण्डु को प्राणों के समान प्रियतमा (पत्नी) के भोग को (सदा सर्वदा के लिये) समाप्त कर देने वाला शाप दिया।

व्याख्या—यह कथा भी महाभारत के आदिपर्व में आयी हुई है। मृगया-विनोदी राजा पाण्डु के द्वारा अपनी प्रेम-क्रीडा में अचानक ऐसा व्याघात उपस्थित होने पर उस मुनि का यह शाप देना कि तुम जब भी अपनी पत्नी के साथ सम्भोग करोगे तो तुम्हारे प्राण निकल जायँगे सर्वथा युक्तियुक्त ही था॥ १३॥

स स मतव्यजनस्य त्यागं कृत्वा तथा सितव्यजनस्य।
अरतो रामाभोगे पाण्डुश्चक्रे तपांसि रामाभोऽगे॥ १४॥

अनुवाद—और (तब से) वह राजा पाण्डु श्वेत चामर और परिजनों का त्याग करके स्त्री-भोग के प्रति विरक्त हो गया और रामचन्द्र के समान पर्वत पर तपस्या करने लगा।

व्याख्या—चामर की वायु का सेवन राजत्व की निशानी है। शाप के भय से उसने परिजन और राजपाट छोड़कर संन्यास धारण कर लिया तथा प्रायश्चित्त रूप में पर्वत पर तपस्या करने लग गया॥ १४॥

श्रितपर्माद्रीशान्तं पाण्डुं कुन्ती तथैव माद्री शान्तम्।
स भर्तारं भार्ये न कदाचिज्जहतुरभिमतारम्भार्ये॥ १५॥

अनुवाद—पवित्र आरम्भों वाली दोनों साध्वी पत्नियों—कुन्ती तथा माद्री—ने पवित्र पर्वतश्रेष्ठ (परमाद्रीश शतश्रृङ्ग नामक) की चोटी पर बैठे हुए अपने विरक्त पति को कभी भी नहीं छोड़ा।

व्याख्या—जप, तप सेवा, आदि पवित्र कार्यों में लगी रहने के कारण दोनों देवियों को 'आर्य' विशेषण (साधु) प्रदान किया गया। कैसी भी परिस्थिति में अपने पति का त्याग न करके उन्होंने अपने सतीत्व का परिचय दिया ही साथ ही हिन्दू-धर्म के पवित्र आदर्श को भी सामने रखा ॥ १५ ॥

अपि च सुतापे तेन स्थितं सदा पाण्डुना सुतापेतेन।
विफलेहा नाम नृणां जातिमकृत्वा पितामहानामनृणाम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—और फिर पुत्ररहित राजा पाण्डु सदा सताप (दु:ख) में पड़े रहे। क्योंकि इस ससार में पितामह की जाति को उऋण किये बिना मनुष्यों की चेष्टा (व्यवहार) निष्फल है।

व्याख्या—गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी पितृऋण से उऋण न होने के कारण राजा पाण्डु का सदैव सन्ताप में डूबे रहना सर्वथा न्याय्य है। क्योंकि शास्त्रों का वचन है कि "पुत्रे जाते पितृऋणान्मुक्तिः" अर्थात् जब तक पुत्र की उत्पत्ति न हो तब तक पितृऋण से मुक्ति नहीं मिलती, भले ही इस ससार में मनुष्य कितने ही ऐश्वर्य जुटाये या धर्म-कर्म करे ॥ १६ ॥

सततं साशं सन्तं क्षेत्रजमुत्पादयेति सा शसन्तम्।
निजगाद कल कान्तं कुन्ती दधती मनो मदकलङ्कान्तम् ॥ १७ ॥

अनुवाद—'पुत्र उत्पन्न करो' इस प्रकार सदैव आशा के साथ उच्चारण करने वाले अपने साधु पति से वह कुन्ती प्रेमपूर्वक एवं अहङ्कार के कलङ्क से रहित मन को धारण करती हुई बोली।

व्याख्या—कुन्ती का मन अहङ्कार से शून्य बतलाना उसकी अत्यधिक शालीनता को प्रकट करता है। यद्यपि उसने दुर्वासा ऋषि की कृपा से समस्त देवताओं को वश में करने का मंत्र प्राप्त किया है फिर भी उसका मन अपने पति के समक्ष सदैव प्रवण है जो कि एक सती के लिये योग्य ही है ॥ १७ ॥

नरवर विप्रवरेण प्राप्तो मन्त्रो मया भुवि प्रवरेण।
स्यादमुना मम वश्यं दैवतमखिलं कृतावनाममवश्यम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—हे राजन्! पृथ्वी पर प्रवर विप्रवर दुर्वासा मुनि के द्वारा मुझे मन्त्र प्राप्त हुआ था जिसके द्वारा उपस्थित किये गये सारे देवता मेरे वश में निश्चय ही हो जाएँगे ॥ १८ ॥

मुदितविनायकमित्रा वेत्युक्त्वा चोदितार्चनाय कमित्रा।

यमपवमानमघोना पूजामाधत्त सबहुमानमघोनाम् ॥ १९ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—उस कुन्ती ने इस प्रकार कहकर विनायक (गणपति) और मित्र (सूर्य) को सन्तुष्ट करके, अपने पति (कमितृ) के द्वारा अर्चन के लिए प्रेरित किए जाने पर अत्यन्त-सत्कार के साथ, यम, वायु और इन्द्र की विमल (अघोना) पूजा की।

व्याख्या—अपने पति के द्वारा मुनीश्वर-प्राप्त मन्त्र की अर्चना के लिये प्रेरित किए जाने पर ही उस सती ने देवताओं की पूजा की, उसके पहले नहीं क्योंकि सतियों का परमदेव तो उसका पति ही है ॥ १९ ॥

धर्मात्परमत्यन्तं युधिष्ठिरं नाम धर्मपरमत्यन्तम् ।
भीमं च मरुत्तनयं पार्थं शक्रादवाप च मरुत्तनयम् ॥ २० ॥

अनुवाद—उस कुन्ती ने (योग से शरीर धारण किए हुए) धर्म से श्रेष्ठ सत्कर्मों वाले (परमत्यन्त) अत्यन्त धर्मात्मा युधिष्ठिर को प्राप्त किया, (वायु से) वायुपुत्र भीम को और इन्द्र से 'मरुत्त' नामक राजा के समान नीतिज्ञ अर्जुन को प्राप्त किया।

व्याख्या—महाभारत के आदि पर्व में योग के द्वारा धर्म के शरीर धारण करने का उल्लेख है अन्यथा अमूर्त धर्म से पुत्रोत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती थी। देखिये—

"प्रयुक्ता सा तु धर्मेण योगमूर्तिधरेण वै।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां वरम्" ॥ २० ॥

मुदितमना देवाभ्यामश्विभ्यां तदनुशासनादेवाभ्याम् ।
सुललितमितराजनयमकुलं सहदेवमनुजमितराजनयम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—दूसरी (रानी ने) माद्री ने प्रसन्न मन होकर उसकी (पति) आज्ञा से इन दो देवताओं अश्विनी-कुमारों से सुन्दर नकुल और सहदेव को, जो राजनीति का ज्ञाता (इतराजनय) था, उत्पन्न किया।

व्याख्या—कुन्ती ने तीन देवताओं से तीन पुत्रों की क्रमशः उत्पत्ति की जो गुणों में अपने जनक के समान थे। माद्री ने भी अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर अश्विनीकुमार नामक दो जुड़वे देवताओं से दो जुड़वे पुत्रों की उत्पत्ति की जिनमें नकुल बड़ा और सहदेव छोटा था तथा जो अपने पिता के ही समान सुन्दर और योग्य थे ॥ २१ ॥

टिप्पणी—'इतराजनयम्' इस पद में 'इत' का अर्थ 'ज्ञात' किया गया है क्योंकि गत्यर्थक सारी ही धातुओं का अर्थ ज्ञानसम्बन्धी भी होता है। अतः

इतो ज्ञातो राजनयो राजनीतिर्येन स तादृशम् सहदेवमिति ॥ २१ ॥

इत्थं राजा तेषु प्रकाममुदितो मुनेर्गिरा जातेषु।
अहरन्माद्र्या वासः स कदाचित्कुसुमितद्रुमाद्र्यावासः ॥ २२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मुनि दुर्वासा के आशीर्वाद से उन (युधिष्ठिरादि पुत्रों) के उत्पन्न हो जाने पर अत्यन्त प्रसन्न, पुष्पित-वृक्षों से भरे पर्वत पर निवास करने वाले उस (पाण्डु) ने कभी माद्री के वस्त्र को खींच लिया अर्थात् उसे नग्न कर दिया। (उसके साथ एकान्त में रति-क्रीडा करने लगा)।

व्याख्या—पाँचों पुत्रों की उत्पत्ति के बाद राजा पाण्डु का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। उस समय पर्वत पर फूले हुए वृक्षों ने उसके रति-स्थायी-भाव की उद्भावना में उद्दीपन विभाव का काम किया परिणामतः वह काम से पीड़ित होकर मुनि के विषम शाप को भूल गया। उसने अपनी पत्नी माद्री का वस्त्र सहसा खींच कर अपनी काम-वासना तृप्त करना प्रारम्भ कर दिया ॥ २२ ॥

मुनिशापाशन्या स न्यपतच्च प्राप्तकालपाशन्यासः।
तत्र मृतेऽवनिपे तु स्निग्धाः सुहृदोऽप्यवनि पेतुः (?) ॥ २३ ॥

अनुवाद—फिर यमपाश के न्यास को प्राप्त होने वाला वह राजा पाण्डु मुनि के शापरूपी वज्र से (मारा गया पर्वत पर) गिर गया। वहाँ पर उस राजा के मरने पर (उसके) स्नेही मित्र भूमि पर (दुःख के कारण) गिर पड़े।

व्याख्या—राजा पाण्डु के गले में यमराज का फन्दा पड़ चुका था तथा दूसरी ओर मुनि के शाप का वज्र था अतः मृत्यु सुनिश्चित थी। जैसा कि पहले आ चुका है कि मुनि ने शाप दिया था कि जिस प्रकार तुमने मैथुन के समय मुझे मारा है उसी प्रकार अगर तुम भी स्त्री के साथ कभी मैथुन करोगे तो मेरी ही जैसी अवस्था को प्राप्त होगे ॥ २३ ॥

टिप्पणी—यहाँ पर कवि ने वज्र का पर्यायवाची स्त्री-लिङ्ग में प्रयुक्त कर अपनी मर्मस्पर्शी प्रज्ञा का परिचय दिया है। 'अशनि' पद स्त्री-लिङ्ग है जिसके कारण उसकी मृत्यु हुई या स्त्री भी उसके लिये वज्र के समान सिद्ध हुई जो उसकी मृत्यु का कारण बनी। अतः यहाँ पर शाप और स्त्री दोनों ही 'अशनि' इस स्त्री-लिङ्ग-वाची पद से बोध्य हैं। 'अप्यवनि' पद अव्ययीभाव समास के रूप में प्रयुक्त है तथा नपुंसक लिङ्ग है। इसका विग्रह होगा अवनौ इति अप्यवनि ॥ २३ ॥

अथ विधिना विप्राणां पितुस्तनु पाण्डुनन्दना विप्राणाम् ।
प्रणिदधुराशु चितायां निरता तद्युक्तया धुरा शुचितायाम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—तदनन्तर पवित्रता का पालन करने वाले पाण्डु के पुत्रों ने विगत प्राण अपने पिता के शरीर को ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट-विधि से शीघ्र ही (अन्त्येष्टि संस्कार के लिये) चिता पर रख दिया।

व्याख्या—अपने पिता राजा पाण्डु का क्रिया-कर्म, वैदिक-रीति से, पवित्रता का पालन करने वाले योग्य पुत्रों ने सम्पन्न किया ॥ २४ ॥

तत्र शुभानुचितायां पपात माद्री च चित्रभानुचितायाम् ।
रमते नाकमितारं मृतमप्यन्वेति याङ्गना कमितारम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—फिर सुकुमाराङ्गी रानी माद्री अपने लिये अनुचित, अग्नि की चिता पर गिर पड़ी। जो स्त्री मृत पति का भी अनुसरण करती है वह शीघ्र स्वर्ग को प्राप्त कर (पति के साथ) रमण करती है।

व्याख्या—इस श्लोक में महाकवि वासुदेव ने सतियों के लिये स्मृति-प्रतिपादित वाक्य का काव्यात्मक शैली में उद्घाटन किया है। जो स्त्री अपने पति का अनुमरण करती है वह शीघ्र ही स्वर्ग प्राप्त कर वहाँ भी अपने पति के साथ रमण करती है। इसी सिद्धान्त का स्मरण कर रानी माद्री सुकुमार अंगों वाली होने पर भी अग्नि में कूद पड़ी ॥ २५ ॥

अथ स यदा पाण्डुरयात् त्रिदिवं कीर्त्या चकासदापाण्डुरया ।
चेतोभूपरिभूतस्तदैव पार्थो गिरिप्रभूपरिभूत. ॥ २६ ॥

अनुवाद—इसके बाद कामदेव (चेतोभू) से पराजित पाण्डु जब हर ओर से शुभ्र कीर्ति से सुशोभित होते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त हुए तभी युधिष्ठिर पर्वत (गिरिप्रभू) 'शतशृङ्ग' को चले गये।

व्याख्या—कामदेव को 'चेतोभू' इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह 'चेतस्' अर्थात् मन में उत्पन्न होनेवाला है। राजा पाण्डु अपनी पत्नी माद्री के साथ रति-क्रीडा-आसक्त हो जाने के कारण कामदेव से पराजित हो गये थे पर दूसरी ओर अपने शेष-जीवन के शुभ-कर्मों के कारण वे सर्वतः कीर्तिमान् भी थे अत उन्हें स्वर्ग-प्राप्ति हुई। उनके दुःख से दु खी योग्य युधिष्ठिर का पर्वत पर चला जाना उचित ही था ॥ २६ ॥

सकरुणमम्बालतया कृतावलम्बोऽनुजैः सम बालतया ।
कुरुसेनागोपपदं पुरं मुनीन्द्रैरनायि नागोपपदम् ॥ २७ ॥

अनुवाद—व्यासादि मुनीन्द्र लोग, बाल्यावस्था से ही युधिष्ठिर को, जिसका सहारा उसकी माँ ने दुःख से दुःखी होने के कारण लता के समान

करुणापूर्वक ले रखा था, उसके छोटे भाई (भीमादि) सहित, कुरुश्रेष्ठों के स्थान, पर्वत के समीप स्थित (वारणावत नामक) नगर में ले आये।

व्याख्या—माता कुन्ती दुःख के कारण अत्यन्त कृश हो गयी थीं अतः लता के समान अपने बालक युधिष्ठिर का सहारा उन्होंने ले रखा था। यह देखकर व्यासादि ऋषि युधिष्ठिर को उसके भाइयों सहित सहारा देने के लिये वारणावत नगर में लाये जो कि पर्वत के समीप बसा था और वहाँ कौरव निवास करते थे ॥ २७ ॥

यस्य च महितमुदन्तं दुरितौघविघातहेतुमहितमुदन्तम्।
जगतां मङ्गलदमृतं मुनिवचनमवोचदुत्तम गलदमृतम् ॥ २८ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—जिसके (युधिष्ठिर) पूज्य जीवन-चरित को पाप-समूह का नाश करने वाला और शत्रुओं के आनन्द को समाप्त करनेवाला (कहा गया)। जिसके जगत्-कल्याणकारक सत्य को मुनियों का वचन और गिरता हुआ उत्तम अमृत कहा गया ॥ २८ ॥

अथ कुरुराजकुमारैः स्वगुणजितस्कन्ददिनकराजकुमारैः।
द्रोणकृपाचार्याभ्यां प्रापि महास्त्रं गुरुकृपा चार्याभ्याम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अपने गुणों से कुमार कार्तिकेय, सूर्य, विष्णु, पृथिवी और कामदेव को जीत लेने वाले युधिष्ठिरादिकों ने द्रोणाचार्य और कृपाचार्य—पूजनीयों से महास्त्र और गुरुकृपा प्राप्त की।

व्याख्या—युधिष्ठिरादिक राजकुमारों ने अपने तेज, बल, क्षमा, दया और रूपादि गुणों से सारे देवताओं को भी जीत लिया था। उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य की कृपा से महास्त्र की प्राप्ति की थी। गुरु की कृपा साधक के लिये परमावश्यक बतलायी गयी है। बिना गुरु के न तो विवेक होता है और न मोक्ष ही। इसीलिये शास्त्रों में गुरु की स्तुति "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः'''गुरुः साक्षात् परब्रह्म" आदि शब्दों में की गयी है ॥ २९ ॥

गुणसमुदायादेषु प्राप्तयशस्केषु पाण्डुदायादेषु।
सुबलसुतातनयानां प्रद्वेषोऽभूत्तिरस्तततातनयानाम् ॥ ३० ॥

अनुवाद—गुणों के आधिक्य के कारण पाण्डु के इन यशस्वी पुत्रों (युधिष्ठिरादि) के प्रति, अपने पिता धृतराष्ट्र और गुरु (तात) की नीति को तिरस्कृत करने वाले गान्धारीपुत्र (सुबलसुतातनय) दुर्योधनादि के (मनमें) द्वेष उत्पन्न हो गया।

व्याख्या—इस श्लोक में कौरव और पाण्डव के सहज-वैर का कारण

महाकवि वासुदेव ने अत्यन्त सरल शैली में व्यक्त कर दिया है। पाण्डव अपने गुरु और पिता की नीति पर चलने के कारण लोक में यश प्राप्त कर चुके थे जब कि गान्धारीपुत्र कौरव अपनी उद्दण्डता व पिता, गुरु के प्रति अनादर की भावना से लोगों के स्नेह व सराहना से दूर थे। अतः पाण्डवों के प्रति द्वेष हो जाना उनके लिये स्वाभाविक ही था ॥ ३० ॥

यदृच्छया चण्डा ततया विश्वस्त सुप्तमात्तचण्डालतया।
ससृजुर्भीम तोये ते गाङ्गे तद्बलेन भीमन्तो ये ॥ ३१ ॥

अनुवाद—उन क्रूर दुर्योधनादिकों ने अपनी नृशंसता के कारण इत्मीनान से सोते वाले भीम को (एकबार) लता से बाँध कर गङ्गा के जल में छोड़ दिया। तब से वे (दुर्योधनादि) उसके बल से भयभीत रहने लगे।

व्याख्या—दुर्योधनादि सदा से पाण्डवों से द्वेष किया करते थे। उनमें भी वे भीम से अधिक डरा करते थे क्योंकि एक बार उसे मारने के विचार से सोते समय रस्सी से बाँध कर गङ्गा के जल में छोड़ दिया था पर वह अपनी शक्ति के कारण बन्धनों को तोड़कर वहाँ से भी सुरक्षित निकल आया। इसी प्रकार कौरवों ने पाण्डवों को समाप्त करने के लिये अनेक प्रयास किये पर सब असफल रहे जिनका कि क्रमशः सचेपत. वर्णन आगे कवि करेगा ॥ ३१ ॥

निदधुर्व्याहीनस्य स्वपतस्त मर्मसु व्यथाहीनस्य।
विषमपि सुदन्तस्य विषक्षिपुर्भोजने ससूद तस्य ॥ ३२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त उन कौरवों ने भीम को सुख से सोते हुए महान् सर्प के मर्म स्थल पर रख दिया तथा उस कीर्तिमान के भोजन में एकवान के साथ विष भी डाल दिया।

व्याख्या—उन कौरवों ने जब भीम को पूर्वोक्त प्रकार से मरते हुए न देखा तो एक बार महान् सर्प के मर्म स्थल पर रख दिया जिससे कि अति क्रुद्ध होकर वह उसे डस ले पर ऐसा न हो सका। भोजन के साथ विष मिला दिया पर फिर भी वह बच निकला ॥ ३२ ॥

पुनरहिते सभगरे जतुगेह वारणावते सन्नगरे।
व्यधुरधिक पापाक्ते कर्मणि कृतचेतसोऽनुकम्पापास्ते ॥ ३३ ॥

अनुवाद—इसके बाद पापी कौरवों ने अधिक निर्दय कर्म को मन में ठान कर वारणावत नामक सुन्दर नगर के विष युक्त *अशुभ स्थान पर उन* पाण्डवों के लिये लाक्षागृह बनवाया।

व्याख्या—यह लाक्षागृह-निर्माण की कथा भी *महाभारत में अत्यन्त* प्रसिद्ध है। इसके निर्माण के पीछे उन पाँचों भाइयों के एक साथ मार डालने

की योजना उसके मन में थी जो कि विदुर के कारण सफल न हो सकी ॥ ३३ ॥

तत्र पुरि पुरोचनतः पार्थाः पूजामवाप्य रिपुरोचनतः ।
ऊषुरशङ्कावन्तश्छद्मगृहे सति च शोकशङ्कावन्तः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—वहाँ उस नगर में युधिष्ठिरादि, शत्रु की अभिलाषा को पूरा करने वाले तथा दुर्योधन के मित्र पुरोचन से पूजा प्राप्त कर (सत्कृत होकर), हृदय में शोकरूपी शङ्कु (कील) के होने पर भी शङ्कारहित होकर उस छद्मगृह (जतुगृह) में रहने लगे।

व्याख्या—निश्चय ही विदुर के द्वारा पाण्डवों को पुरोचन की उस निर्माण शाला का परिचय मिल गया था। मन से यद्यपि वे सशङ्क थे फिर भी अपने शत्रु को बाहर से निःशङ्क दिखलाते हुए उस जतुगृह में निवास करने लगे ॥ ३४ ॥

विदुरगिरात्राप्तः खनको दाहं निवेद्य रात्रावाप्तः ।
परिखारम्भी तेभ्यः कुहरं तत्राकरोदरं भीतेभ्यः ॥ ३५ ॥

अनुवाद—विदुर की आज्ञा से (विदुर का) कोई आप्त (कुशल) मित्र रात्रि में अग्नि की सूचना देकर (रात्रि में) वहाँ आया और शीघ्र ही उन भयभीत पाण्डवों के लिये उस परिखारम्भी (गड्ढा खोदने वाले) ने कुहर (सुरङ्ग) बना दी।

व्याख्या—यह व्यक्ति विदुर का ही विश्वसनीय मित्र था जिसने कि रात्रि में आग लगाये जाने की सूचना पाण्डवों को दी और उनके निकलने के लिये सुरङ्ग बना दी। इस प्रकार कौरवों का यह प्रयास भी विफल रहा ॥ ३५ ॥

जवजितपरमाश्वस्तं भीमो निलयं च तं च परमाश्वस्तम् ।
धृतसोदर्यं तेन प्रदीप्य निशि निर्जगाम दुर्यन्तेन ॥ ३६ ॥

अनुवाद—वेग में श्रेष्ठ घोड़े को भी जीतने वाला वह भीम उस लाक्षागृह तथा दुर्योधन के अत्यन्त विश्वसनीय पुरोचन को (आग में) जलाकर रात्रि में ही अपने भाइयों सहित उस गुफा से बाहर निकल गया।

व्याख्या—लाक्षागृह में आग से युधिष्ठिरादि की रक्षा करने में दो व्यक्तियों ने ही मदद की। एक तो विदुर या उसका मित्र और दूसरा भीम। भीम पुरोचन की कूटनीति से परिचित हो गया था। अतः उसे भी जतुगृह में डालकर दिवंगत बना दिया। ३६ ॥

गूढाकारो बिलतस्तस्मान्निर्गत्य तेऽन्धकाराविलतः ।

प्रापुर्नौनाधातां गङ्गां तेऽथ सुवदना नाथा ताम् ॥ ३७ ॥

अनुवाद—वे (युधिष्ठिरादि) अपने शरीर को छिपाये हुए प्रसन्न वदन अन्धकार से धूमिल सुरङ्ग से बाहर निकल कर उस गङ्गा के समीप पहुँचे जहाँ पर अनेक प्रकार की वायु चल रही थी उन्होंने उसे (गङ्गा को) नाव से पार किया ॥ ३७ ॥

पथि विषमे धावन्तः पार्थाः पृथया सहैव मेधावन्तः ।
समृगवरक्षोभवनं शिविशुर्देशं हिडिम्बरक्षोभवनम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—बुद्धिमान् युधिष्ठिरादि ऊँचे-नीचे मार्ग पर दौड़ते हुए कुन्ती के साथ ही ऐसे देश में पहुँचे, जहाँ पर हिडिम्बासुर का घर था और सिंहों के क्षोभ से पूर्ण वन थे।

व्याख्या—इस श्लोक से आगे कुछ श्लोकों तक महाभारत की हिडिम्बा और भीम-विषयक प्रसिद्ध कथा वर्णित है। स्थान की खोज में पाण्डव एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ पर हिडिम्बा नामक राक्षसी अपने भाई के साथ निवास करती थी। सिंहों के विक्षोभ से जहाँ पर वन भरे हुए थे ॥ ३८ ॥

अथ रुधिरसुरापायी विजजृम्भे राक्षसो नरसुरापायी ।
दर्पोदनुजां तेभ्यः क्षुधान्वितः प्राहिणोद्दनुजान्तेभ्यः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर मनुष्य और देवताओं को नष्ट करने वाले तथा रुधिर-रूपी सुरा का पान करने वाले उस राक्षस हिडिम्ब ने जँभाई ली। भूखे राक्षस ने अहङ्कारवश, दानवों का अन्त करने वाले पाण्डवों के पास (उन्हें आहारार्थ लाने के लिये) अपनी छोटी बहन हिडिम्बा को भेजा।

व्याख्या—राक्षस हिडिम्ब मनुष्यों और देवों का नाशक था। सोकर उठने पर उसे भूख लगी। अतः क्षुधा मिटाने के उद्देश्य से पाण्डवों को लाने के लिये उसने अपनी बहन को भेजा। पर हिडिम्बा वहाँ पर भीम के रूप को देखकर अनुरक्त हो गयी ॥ ३९ ॥

उन्नतसालसमानं भीमं भीमं समेत्य सा लसमानम् ।
रुचिरतरालापाङ्गी भूता निजगाद गिरमरालापाङ्गी ॥ ४० ॥

अनुवाद—वह हिडिम्बा नामक राक्षसी शोभमान तथा विशाल साल नामक वृक्ष के समान भयङ्कर भीम (पाण्डव) के पास आकर मधुर वाणी, सुन्दर अङ्गों वाली कुटिल कटाक्षों वाली बनकर (भीम से) बोली।

व्याख्या—भीम को मुग्ध करने के लिये उसका उपर्युक्त प्रकार से शरीर बदलना आवश्यक ही था अन्यथा उसे राक्षसी मानकर भीम तुरन्त मार डालता। उसने भीम के पास आकर अपनी बोली सुन्दर बना ली, शरीर के

अङ्ग कोमल, मनोहर बनाये और कुटिल कटाक्षों से वार्तालाप करना प्रारंभ कर दिया ॥ ४० ॥

टिप्पणी—'प्राकारवृक्षयो सालः'। 'साल' का अर्थ वृक्ष वा प्राकार (दीवार) दोनों ही अर्थ शब्द-कोषों में कहे गये हैं। अतः दोनों ही अर्थ इस शब्द के किये जा सकते हैं॥ ४० ॥

अरिसमितावत्रसतः क्रव्यभुजोऽहं वनक्षितावत्र सतः।
श्रुतविमहिडिम्बस्य स्वसा हिडिम्बा नृणां वर हिडिम्बस्य ॥ ४१ ॥

अनुवाद—हे नरश्रेष्ठ! शत्रुओं के युद्ध में न डरने वाले, इस वनभूमि पर सज्जनों का कच्चा मांस (क्रव्य) खाने वाले तथा शत्रुओं के शरीर को पचा जाने वाले हिडिम्ब नामक राक्षस की मैं हिडिम्बा नाम की बहन हूँ।

व्याख्या—ऐसा भयावह वर्णन कर वह भीम को अपने वश में करने का विचार कर रही है। उसका भाई हिडिम्ब वास्तव में एक अत्यन्त ही क्रूर पिशाच है। वह सज्जनों के शरीर को कच्चा ही खा जाता है अतः उसका नाम 'क्रव्यभुक्' (राक्षस) है। इस बात से हिडिम्बा यह संकेत देना चाहती है कि वह तुम लोगों को भी अपनी भूमि पर पाकर छोड़ नहीं सकता ॥४१॥

सरभसमग्रजवाचःश्रवणादस्म्यागता सममजवा च।
भ्रातृसमेतं हि त्वानेतुं साहं त्वया रमे तं हित्वा ॥ ४२ ॥

अनुवाद—अपने बड़े भाई की बात सुनकर मैं पूरे वेग से साभिलाष तुम्हारे पास आयी हूँ। निश्चय ही भाइयों सहित तुम्हें ले जाने के लिये (आयी हूँ)। (अब मैं) उस (हिडिम्ब) अपने बड़े भाई को छोड़कर तुम्हारे साथ रमण करूँगी।

व्याख्या—हिडिम्ब ने निश्चय ही पाण्डवों को लाने के लिये अपनी बहन को भेजा था। पर हिडिम्बा भीम को सहसा देखकर मदनकातर हो गयी। अतः उसने एकान्त में अपने भाई से अलग रहकर रमण करने की इच्छा प्रकट की ॥ ४२ ॥

कियतामारोहरतिः स्कन्धे मम धैर्यमेष मारो हरति।
मण्डलमावामस्याश्चराव भूमेः सुखाय मा वामः स्याः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—हे नरवर! आप हमारे कन्धे पर आरोहण करें। यह कामदेव मेरा धैर्य नष्ट कर रहा है। हम दोनों भूमिमण्डल पर सुखपूर्वक विचरण करें। तुम मेरे प्रति कुटिल मत बनना।

व्याख्या—इन पंक्तियों में कामविधुरा हिडिम्बा के आत्मसमर्पण का भाव स्पष्टतः झलक रहा है। वह भीम से कभी भी मुख न फेरने के लिये प्रार्थना करती है ॥ ४३ ॥

आगमनविलम्बनतस्तस्या इति दारितानननिर्लं वनतः ।
क्षुभितो रक्षोनाथः स्वयमागाच्च येन रक्षोनाय ॥ ४४ ॥

अनुवाद—इसके बाद उसके (हिडिम्बा) के लौटने में विलम्ब होने से व्यग्र हिडिम्बासुर मुख-कुहर को फाड़े हुए वन से स्वयं ही चल पड़ा जिससे (हिडिम्ब) ग्रस्त (पुरुष) की कोई रक्षा नहीं कर सकता।

व्याख्या—अपनी छोटी बहन के आने में देर होने से भूख से पीड़ित राक्षस का और अधिक क्षुभित हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः उसकी खोज के लिये वह स्वयं ही जंगल से निकल पड़ा ॥ ४४ ॥

तदनु च रक्षोभीमौ बलं दधानौ परस्परक्षोभीमौ ।
अक्षतवक्षोभागौ समघटाते जनितमेरुक्षोभागौ ॥ ४५ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त परस्पर-क्षोभी बल को धारण करने वाले, अक्षत वक्ष-स्थल वाले तथा पर्वत में भी महान् क्षोभ उत्पन्न कर देने वाले वे दोनों (पर्वताकार) भीम और हिडिम्बासुर आपस में मिले।

व्याख्या—दोनों ही व्यक्ति समान बल को धारण करते थे, उनके वक्ष-स्थल भी अत्यन्त कठोर थे, उनके युद्ध से पर्वत भी क्षुभित हो जाता था। इस प्रकार दोनों ही व्यक्ति अर्थात् राक्षस और भीम युद्ध के लिये जब आपस में भिड़े तो समीपस्थ वातावरण की कैसी स्थिति हुई—इसका वर्णन महाकवि वासुदेव आगे के श्लोक में करते हैं ॥ ४५ ॥

दुद्रुवुरवनावृक्षा, भुवि पेतुर्भग्नभासुरवना वृक्षाः ।
अगमदिव क्षोभं गौरभियातौ तौ यदा सवक्षोभङ्गौ ॥ ४६ ॥

अनुवाद—वे दोनों (भीम और हिडिम्बासुर) वक्षोभङ्ग के साथ आपस में भिड़े तब पृथिवी पर रीछ भागने लगे। नष्ट हुई शोभा वाले वन के वृक्ष पृथिवी पर गिरने लगे तथा पृथिवी मानो क्षुभित हो उठी।

व्याख्या—उन दोनों वीरों के आपस में इस भयंकर युद्ध को देखकर जंगली पशु भी आतङ्कित होकर इधर-उधर भागने लगे। उनके टकराने से जंगल की शोभा समाप्त हो गयी और वृक्ष भूमिसात् होने लगे। पृथिवी मानो कम्पायमान हो उठी ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—"अगमदिव क्षोभं गौः" इसका प्रयोग कर महाकवि ने 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा'—इस कारिका के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार का सन्निवेश किया है ॥ ४६ ॥

स विधुतदूरस्थलतः प्रमथितपृथिवीतलोऽमृदूरस्थलतः ।
संरम्भी मारुतिना हतो हिडिम्बः पपात भीमाकृतिना ॥ ४७ ॥

अनुवाद—भयङ्कर सिंहनाद वाले भीम के द्वारा मारा गया क्षुद्र हिडिम्बासुर दूरस्थित लताओं को कम्पित करता हुआ, पृथिवीतल को विक्षुब्ध करता हुआ अपने कठोर वक्षस्थल के साथ भूमि पर गिर पड़ा।

व्याख्या—भीम ने भयंकर एवं क्रूर हिडिम्बासुर को उसकी भगिनी के देखते ही देखते समाप्त कर दिया। उसके भारी शरीर के पृथिवी पर गिरने पर दूर तक की लताएँ कम्पित हो उठीं तथा पृथिवी भी क्षुब्ध हो गयी ॥४७॥

अथ कृतनीचारिजया जग्मुः सार्धं निशीथिनीचारिजया।
विप्रभावर्यं ते ददृशुर्व्यास ततो विभावर्यन्ते ॥ ४८ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त नीच शत्रु हिडिम्बासुर को जीतकर युधिष्ठिरादि (पाण्डव) निशाचरपुत्री हिडिम्बा के साथ चल पड़े। फिर उन लोगों ने रात्रि के अन्तिम भाग में ब्राह्मणों की सभा में पूज्य श्री व्यास मुनि को देखा।

व्याख्या—रात्रि के अन्तिम भाग में मुनि का दर्शन होना सौभाग्य का विषय है। परिणामत श्री व्यास के द्वारा उन्हें रहने को सुन्दर-भवन प्राप्त होगा ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—'निशीथिनीचारिजा' का अर्थ राक्षस की पुत्री होता है। इसका दूसरा रूप 'निशीथिनीचरजा' भी हो सकता है। दोनों ही रूपों में समान अर्थ होगा ॥ ४८ ॥

तेन च बन्धावसति स्वयमुपदिष्टा शुभानुबन्धा वसतिः।
भुञ्जाना वन्यं ते तत्रोपु पाण्डवा वनावन्यन्ते ॥ ४९ ॥

अनुवाद—और फिर उन व्यास मुनि ने भाइयों के (कौरव) दुष्ट होने पर स्वयं वन-भूमि के प्रान्त भाग में स्थित शुभरचना वाला निवासगृह बतलाया। वे पाण्डव वहाँ पर जंगली फलों को खाते हुए रहने लगे।

व्याख्या—प्रारम्भ से ही पाण्डवों को कष्टों का जीवन बिताना पड़ा है। राजकुमार होते हुए भी उन्हें जगल में निवास करते हुए जंगली फलों को खाकर ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता था ॥ ४९ ॥

तत्र च सानन्तरजा रेमे भीमेन राक्षसानन्तरजा।
अप्यभवत्समापत्या ततो यथावनुमना सवत्सा पत्या ॥ ५० ॥

अनुवाद—और वहाँ पर राक्षस की छोटी बहिन (हिडिम्बा) ने भीम के साथ रमण किया। तदुपरान्त वह पुत्रवती हो गयी तथा बाद में पति (भीम) से अनुमति प्राप्त कर अपने पुत्र (घटोत्कच) के साथ चली गयी।

व्याख्या—भीम का एक विवाह महाभारत की कथा के अनुसार हिडिम्बा

नामक राक्षसी से हुआ था जिससे घटोत्कच नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वह अपने पुत्र के साथ वापस लौट गयी और जङ्गल में निवास करने लगी। बाद में ब्राह्मण की रक्षा करते समय अपने पुत्र तथा पत्नी (हिडिम्बा) के साथ बहुत काल के उपरान्त भीम का समागम हुआ ॥ ५० ॥

अथ रिपुचक्रान्तरसा भरतवरा जग्मुरेकचक्रां तरसा।
तत्र च विप्रवरस्य न्यवसन्भवनेऽमलच्छविप्रवरस्य ॥ ५१ ॥

अनुवाद—इसके बाद शत्रु-समूह के विनाश में आनन्द प्राप्त करनेवाले भरतश्रेष्ठ (पाण्डव) तुरन्त ही एकचक्रा नामक स्थान को गये। और वहाँ पर निर्मल-चरित्र वाले ब्राह्मणों में अग्रगण्य (विप्रवर) के घर में रहने लगे।

व्याख्या—'अमलच्छवि' पद का अर्थ यहाँ पर निर्मल कान्ति वाले या निर्मल (पवित्र) चरित्र वाले भी किया जा सकता है। 'एकचक्रा' नामक एक नगरी थी जो कि महाभारत में बकासुर के निवास के कारण प्रसिद्ध है जिसका नाश आगे चलकर भीम ने किया ॥ ५१ ॥

निवसुरावासं तं तरुमिव ते प्राप्य मधुकरा वासन्तम्।
पाण्डुसुतेभ्यस्तेभ्यः प्रीतिं प्रापुर्जनाश्च तेऽस्यस्तेभ्य ॥ ५२ ॥

अनुवाद—उन विप्रवर रूप आश्रय को पाकर वे पाण्डव उसी प्रकार से सुखपूर्वक रहने लगे जैसे कि भौंरे वसन्त ऋतु में पुष्पित वृक्षों को पाकर हो जाते हैं। (कुछ दिन बीतने पर पर) वहाँ रहने वाले लोग उन पाण्डु पुत्रों से परिचित होने के कारण प्रेम प्राप्त करने लगे। अर्थात् उन लोगों में पाण्डवों के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि वासुदेव ने उपमा अलङ्कार के द्वारा पाण्डवों के आनन्द को अभिव्यक्त किया है। वसन्त ऋतु में सभी लताएँ और वृक्ष पुष्पित हो उठते हैं। पुष्पों की सुगन्धि के कारण मधुकरों का जीवन उल्लास से भर जाता है क्योंकि उन्हें उनकी अभीप्सित वस्तु (पुष्प-सुगन्ध या पराग) इन दिनों प्रचुरता से प्राप्त होता है। पाण्डव भी मधुकरों के समान ऋषिवर के निवास-स्थान को सहसा प्राप्त कर आनन्दित हो उठे क्योंकि बहुत समय से किसी सुरक्षित आवास के अभाव में उन्हें वन-वन भटकना पड़ रहा था ॥ ५२ ॥

अथ सुजनसभार्यस्य द्विजस्य कुन्ती कदाचन सभार्यस्य।
अशृणोद्रोदं तस्य प्राप च तं श्रवणतत्परोदन्तस्य ॥ ५३ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त साधुजनों की सभा में श्रेष्ठ (आर्य) पत्नी-

सहित इस ब्राह्मण के रोदन को कुन्ती ने कभी सुना। वह (कुन्ती) उस वृत्तान्त को सुनने की इच्छा से उस ऋषि के पास गयी।

व्याख्या—यहाँ से कवि भीम द्वारा बकासुर के वध की कथा प्रारम्भ करता है। यह राक्षस नित्य ही एक मनुष्य अपने आहार के लिये भेंट रूप में लेता था। इस बार क्रमानुसार ऋषि की बारी आयी। पर असहाय होने के कारण वह रोने लगा ॥ ५३ ॥

सोऽपि च मांसादेन त्रासितहृदयोऽब्रवीदिमा सादेन।
आर्ये मे दुरितानां व्यसनमिदं फलमवेहि मेदुरितानाम् ॥ ५४ ॥

अनुवाद—वह विप्रवर राक्षस बकासुर (मांसाद) के कारण कम्पायमान हृदय से बड़े कष्ट के साथ इस कुन्ती से बोला 'हे आर्ये! मेरे संचित हुए पापों का फल यह व्यसन (संकट) है। ऐसा जानो।

व्याख्या—मनुष्य के तीन प्रकार के कर्म संसार में बतलाये गये हैं। एकतो संचित—जो पूर्व जन्म में किये गये, दूसरे संचीयमान—जो इस जन्म में भविष्य के लिये सञ्चित किये जा रहे हैं और तीसरे प्रारब्ध कर्म—जिसे भाग्य की गति कहा जा सकता है। ब्राह्मणश्रेष्ठ ने इस सकट को अपने संचित पापों में से एक फल स्वीकार किया है जिससे कि उसकी निरभिमानिता झलक रही है ॥ ५४ ॥

पीडयतीमं देशं बको नराशोऽतिदुष्कृती मन्देशम्।
अत्र वने कङ्कालं खादन्निवसत्यसावनेकं कालम् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—हे आर्ये! इस मन्देश स्थान को नरभक्षी, महापापी बकासुर पीड़ित करता है। इस वन में वह मनुष्यों की अस्थियों को खाता हुआ चिरकालसे निवास करता आ रहा है।'

व्याख्या—वन के लिये ऋषि ने 'मन्देश' विशेषण प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ है 'मन्द' ईशः प्रभुर्यस्य स तादृशः'। ईश्वर इस वन में रहनेवाले लोगों के पालन करने में कृपण है। अतः यह देश 'मन्देश' है।

टिप्पणी—'अनेकं कालम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र के कारण हुआ है। चिरकाल से लगातार वह राक्षस उसी वन में निवास करता आ रहा है ॥ ५५ ॥

अन्ने शकटाहार्येऽन्यस्य नर दधिकृसररसकटाहार्ये।
समयपदव्या जनता ददाति तस्मै यथापदव्याजनता ॥ ५६ ॥

अनुवाद—हे आर्ये! स्वभावतः (विवश होने के कारण) नम्र, जनता विपत्ति के अनुसार तथा अपनी शर्त के अनुसार गाड़ी में रखे गये दही और

कृसर (भक्ष्य विशेष) के रस के कड़ाह से युक्त अन्न में दूसरे नर को (भक्षण के लिये) बकासुर के लिये दान देती है ।

व्याख्या—इस बकासुर के साथ उस स्थान के लोगों ने यह शर्त रखी थी कि एक राक्षसी यह वन में उत्पात न मचाया करे । हम लोग स्वयं प्रतिदिन एक मनुष्य भोजन के साथ दिया करेंगे । आज इस ब्राह्मण को भी बकासुर के लिये भोजन व पुरुष भेंट में देना है । महाभारत के आदि पर्व में 'बकवध' के समय कुन्ती से ब्राह्मण ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ।
न च मे विद्यते वित्तं सक्रेतुं पुरुषं क्वचित्' ॥ ५६ ॥

हरणीय. सोऽद्यमया शक्त्या पुनरन्नसञ्चय. सोऽद्य मया ।
तस्मै नरकवलाय प्रदातुमीशे नरं न नरकबलाय ॥ ५७ ॥

अनुवाद—हे आर्ये ! इसलिये वह अन्न-संचय आज मुझे परिश्रमपूर्वक अपनी शक्ति से करना है । परन्तु नरकासुर के समान शक्तिशाली, नरभक्षी उस बकासुर के लिये कोई पुरुष नहीं देख रहा हूँ ।

व्याख्या—ऋषि के कहने का अभिप्राय यह है कि अपनी शक्ति के अनुसार परिश्रम करके मैं जिस किसी प्रकार अन्न तो एकत्रित कर लूँगा पर मेरे पास इतना धन नहीं जिससे कि किसी पुरुष को खरीद कर उसे भेंट कर सकूँ । इन्हीं सारी बातों को सोचकर मैं रो रहा हूँ ।

'नरकबलाय' पद में वाचकलुप्तोपमा है । क्योंकि 'इव' पद का समास में प्रयोग नहीं हुआ है ॥ ५७ ॥

इत्थ देव्यमभुजा निवेदिता वचनमाददे व्यग्रभुजा ।
एष मम सुतो देय' सुविद्यया तस्य चालमसुतोदे यः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वह कुन्ती भुजा उठाकर यह बोली 'मेरे इस पुत्र (भीम) को आप नरभक्षी राक्षस के लिये दें । वह अपनी सुन्दर धनुर्विद्या से उस राक्षस के प्राणों (असु) को नष्ट करने में समर्थ है ।'

व्याख्या—ब्राह्मण के उपर्युक्त विषाद-कारण को जानकर कुन्ती ने अपनी उदारता का परिचय दिया । उसे अपने पुत्र भीम की शक्ति व बुद्धि पर पूरा भरोसा था अतः उसे भेंट रूप में भेजकर सदा के लिये उस राक्षस से वहाँ के निवासियों को मुक्ति दिलाने का विचार उसके मन में आया ॥ ५८ ॥

इत्थं तरयाजेय द्विजाय भीम. सपत्नतरयाजेयम् ।
साधुहितानि यतन्ते ये कर्तुं जगति पण्डिता नियत ते ॥ ५९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कुन्ती ने शत्रु-सेना के द्वारा अजेय अपने पुत्र भीम को ब्राह्मण के लिये त्याग दिया अर्थात् उन्हें दान कर दिया। संसार में जो लोग सज्जनों के लिये हित-साधन के प्रयास करते हैं निश्चय ही वे लोग पण्डित (विद्वान्) हैं।

व्याख्या—राक्षस के भक्षण के-निमित्त अपने पुत्र को दान करके जिस साहस वा दानशीलता का परिचय कुन्ती ने दिया उससे उसकी महत्ता ही प्रकट होती है। इस बात की प्रशंसा की पुष्टि कवि ने अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा इस श्लोक में की है। जिसका लक्षण है—

'सामान्य वा विशेषो वा यदन्येन समर्थ्यते।' यहाँ पर विशेष बात की पुष्टि या समर्थन सामान्य बात से की गयी है ॥ ५९ ॥

तस्मै नवधेनुमते भीमेन ततो नराशनवधेऽनुमते।
अन्नं सहितरसालं शकटे राशीचकार स हि तरसालम् ॥ ६० ॥

अनुवाद—भीम के द्वारा उस नवप्रसूत धेनु वाले ब्राह्मण के हित के लिये बकासुर का वध निश्चित हो जाने पर, उस ब्राह्मण ने अत्यन्त शीघ्रता से गाड़ी पर रसाला (भक्ष्य-विशेष) मिश्रित अन्न एकत्रित किया।

व्याख्या—'नवधेनु' पद से ऋषि का ऋषित्व प्रकट किया गया है। ब्राह्मण के पास हवनादि के लिये नवप्रसूता धेनु थी। आश्रमों में धेनु का होना आवश्यक है। ब्राह्मण ने जब भीम के द्वारा राक्षस का वध निश्चित ही होना मान लिया तब बड़ी प्रसन्नता से तुरन्त ही गाड़ी पर अन्न की राशि लगानी प्रारम्भ कर दी ॥ ६० ॥

साम्राम्भोजनवदनः प्रययौ भीमोऽधिरुह्य भोजनवदनः।
दधदम्बासदेशं प्राप च बलवान्बकाधिवासं देशम् ॥ ६१ ॥

अनुवाद—जिसके स्वजनों के मुख अश्रु से भीगे थे—ऐसा भीम भोजन के साथ, अपनी माँ की आज्ञा को शिरोधार्य करके, गाड़ी पर सवार होकर चल दिया। फिर वह पराक्रमी भीम बकासुर के लिए आवासयुक्त स्थान पर पहुँचा।

व्याख्या—भीम एक आज्ञाकारी पुत्र था। अतः उसने अपनी माँ की इस कठिन आज्ञा को भी बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया। फिर भी वह जब वहाँ से चलने लगा तो उसके बन्धुओं व इष्ट-मित्रादि की आँखों से आँसू बहने लगे। और वे लोग बारंबार यह सोचने लगे कि यह राजपुत्र उस नृशंस बकासुर के पास से भला कैसे जीवित लौट सकेगा। उसके स्वजनों की यह आशंका सर्वथा उचित ही थी क्योंकि अपने प्रिय के लिये भला किसका मन चिन्तित नहीं रहता ॥ ६१ ॥

रजनिचराह्वाननत. सोऽन्नं यदनं विदार्य राह्वानतः ।
आन्त्रैराधिककम्बुभुजे रक्षस्यमिथात्यभीतिरधिक बुभुजे ॥ ६२ ॥

अनुवाद—वह भीम बकासुर (रजनिचर) के आह्वान से नत होकर उ राक्षु के मुख से भी विकृत मुख को फाड़कर उस राक्षस के समीप आने के पहले ही निडर होकर पर्याप्त अन्न को खा गया । उसकी (राक्षस) भुजा आँतों के अत्यधिक कंगुओं (वलय) से व्याप्त थी । अर्थात् उसने अपने हाथों में मरे हुए मनुष्यों की आँतों के अनेक वलय आभूषण रूप में पहन रखे थे ।

व्याख्या—भीम ने राक्षस को युद्ध के लिये प्रेरित करने की यह युक्ति निकाली । उसकी आवाज को ही सुनकर वे मुँह फाड़कर जल्दी २ बहुत सा भोजन खा गये । इस कार्य के करने में उन्हें राक्षस से तनिक भी भय न लगा क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था ।

टिप्पणी—वैसे प्राय. 'कम्बु' पद शंख और शम्बूक के अर्थ में प्रचलित है पर यहाँ पर कम्बु का अर्थ 'वलय' है । जैसा कि मेदिनी कोष में वर्णित है 'कम्बु शंखे स्त्रियां पुंसि शम्बूके वलये गजे' ॥ ६२ ॥

विपुलतरेऽशनराशौ नाशं गमिते ततो नरेशानराशौ ।
सविकासे कोपे तौ युयुधाते स्वेदबिन्दुसेकोपेतौ ॥ ६३ ॥

अनुवाद—इसके बाद अत्यधिक भोजन सामग्री के समाप्त हो जाने पर वे दोनों भीम और राक्षस अत्यधिक क्रोध में आकर आपस में युद्ध करने लगे तथा (युद्ध के कारण) उनके शरीर पसीने की बूँदों से भीग गये ।

व्याख्या—अपनी भोजन सामग्री के नष्ट हो जाने पर राक्षस का कुपित हो जाना स्वाभाविक ही था । 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' के न्यायानुसार वह भीम से युद्ध करने लगा । दोनों ही योद्धा अधिक शक्ति-सम्पन्न थे अतः लड़ते-लड़ते उनके शरीर पसीने से भीग गये ।

विपुलोरोदोरक्षं वृकोदरः स्म{द्रि} दृप्तरोदोरक्षम् ।
शत्रुमनायासं तं विक्रम्य यमक्षयं निनायासन्तम् ॥ ६४ ॥

अनुवाद—वृकोदर (भीम) ने उस दुष्ट शत्रु को तत्क्षण, अनायास ही आक्रमण करके यमपुरी पहुँचा दिया । उसका (बकासुर) वक्षस्थल विस्तृत था, बाहु रथांश के समान थे तथा उसने रोदसी (द्यावापृथिवी) की रक्षा कर रखी थी अर्थात् तीनों लोकों को जीतकर अपने वश में कर रखा था ।

व्याख्या—ऊपर की पंक्ति से कवि वासुदेव ने शत्रु बकासुर को अत्यन्त क्रूर, शूर और पराक्रमी बतलाया है पर भीम ने ऐसे योद्धा को भी तुरन्त यमपुरी पहुँचा दिया जिससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि भीम उससे भी कहीं अधिक शक्तिशाली थे ॥ ६४ ॥

गुप्तिमुदग्रामस्य कृत्याम्निधनेन कोविदग्रामस्य।
भीमः स विधायातः सोदर्याणां बभूव सविधायातः॥ ६५॥

अनुवाद—इस प्रकार भीम बकासुर के वध से विद्वत्समूह की महान् रक्षा करके युधिष्ठिरादि के समीप पहुँचे॥ ६५॥

पुरमगमच्छस्तस्य द्विजस्य सदन [स] रागमच्छस्तस्य।
स चकारात्रावासं नानाणापाश्च तस्य रात्रावासन्॥ ६६॥

अनुवाद—कान्तिमान् भीम (बकासुर का वध करके) सस्नेह पूज्य ब्राह्मण के घर गये। वहाँ पर उसने निवास किया और रात्रि में उसकी (भीम) नाना प्रकार की बातचीत होती रही।

व्याख्या—वध करने के पश्चात् भीम का प्रसन्न होना स्वाभाविक इसलिये था क्योंकि उसने अपनी माता की आज्ञा का पालन करके उस गाँव के सारे लोगों की रक्षा की थी। रात्रि में घर पहुँचने पर लोग उत्सुकतापूर्वक उससे सारा वृत्तान्त सुनते रहे। सारी रात्रि ब्राह्मण बात करता रहा। आगे के श्लोकों में वार्तालाप का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

अद्य समुत्सवलोऽलं प्रयाति पाञ्चालनगरमुत्सवलोलम्।
सविलासं देशेभ्यः क्षत्रसमूहः सदूतसंदेशेभ्य॥ ६७॥

अनुवाद—आज हर्षित क्षत्रिय-समूह दूतों के सन्देश प्राप्त करके शान के साथ तथा सेना को साथ लिये हुए उत्सव के कारण गुञ्जित, शब्दायित पाञ्चालनगरी को अपने-अपने देशों से जा रहे हैं।

व्याख्या—दूतों से सन्देश प्राप्त करके सारे राजे-महाराजे विलासपूर्वक सेना सहित पाञ्चालनगर जा रहे थे क्योंकि यहाँ पर द्रौपदी का स्वयंवर होने जा रहा था। पाञ्चालनगरी उस दिन उत्सव के कारण चहल-पहल से भरी हुई थी॥ ६७॥

पद्मनिकाशास्यायाः पाञ्चाल्याः सकलकामुकाशास्यायाः।
तत्र सशोभवितानः स्वयंवरः प्रीतये दृशो भविता नः॥ ६८॥

अनुवाद—वहाँ पर (पाञ्चाल नगर) कमल के समान मुख वाली तथा सारे कामुकों के द्वारा अभिलषणीय द्रौपदी का स्वयंवर होने वाला है जो हम लोगों की दृष्टि को आनन्दित करने वाला है और जहाँ पर ऊँचे २ वितान शोभायमान हो रहे हैं।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने द्रौपदी के सौन्दर्य का वर्णन दो पदों से व्यक्त किया है। उसका मुखमण्डल पद्म के समान कोमल और सुन्दर था

तथा वह अपने सौन्दर्य के कारण सारे कामुकों की आशा बनी हुई थी। सारे लोग उसकी कामना करते थे। उस नगर में स्वयंवर के उपलक्ष में ऊँचे-ऊँचे चँदोवे लगाये गये थे। ऐसा स्वयंवर निश्चित ही पाण्डवादि के नेत्रों को सुख पहुँचाने वाला होगा।

टिप्पणी—'पद्मनिकाशाशया' पद में निकाश पद सदृश का पर्यायवाची है। इस पद में धर्मलुप्तोपमालङ्कार है। जिसका लक्षण है—'प्रस्फुट सुन्दरं साम्यमुपमेत्यभिधीयते' ॥ ६८ ॥

यदि वो रुचिरायात स्वयंवराय श्व एव रुचिरायातः।

स हि बहुवित्तस्वन्नः प्राप्तानां सुलभमत्र वित्त श्व न. ॥ ६९ ॥

अनुवाद—यदि कल होने वाले रमणीय स्वयंवर को देखने की तुम लोगों की इच्छा हो तो चलो। वह स्वयंवर बहुत धन और अन्न से सम्पन्न होगा। (अतः) वहाँ जाने वाले हम लोगों को धन सुलभ होगा (सरलता से प्राप्त होगा—ऐसा जानो)।

व्याख्या—इस श्लोक में ब्राह्मण ने पाण्डवों की इच्छा जानकर उन्हें भी स्वयंवर जाने के लिये प्रेरित किया है। ब्राह्मण की दृष्टि में स्वयंवर में जाना इसलिये आवश्यक है क्योंकि वहाँ धन और अन्न के ढेर लगे होंगे। भोजन तो वह किसी प्रकार एकत्रित कर ही लेता है पर धन से विहीन है जैसा कि बकासुर के वर्णन में आ चुका है। अतः धन सुगमता से प्राप्त होने की आशा से वह वहाँ जाना चाहता है ॥ ६९ ॥

इति सरस सद्यो गा. श्रुत्वा पार्थाः सवान्धससद्योगा.।

प्रययुर्विप्रक्षयत प्रीता पृथया सहा रविप्रक्षयतः ॥ ७० ॥

अनुवाद—पथिकों के समूह के साथ निवास करने वाले युधिष्ठिरादि उस ब्राह्मण की सरस वाणी सुनकर तुरन्त ही, प्रसन्न मन होकर, कुन्ती के साथ सूर्य के अस्ताचल प्राप्त होने तक, ब्राह्मण के घर से चल पड़े। अर्थात् सूर्य डूबने के पहले ही वे चल पड़े।

व्याख्या—पाण्डवों के लिये 'सवान्धससद्योगा' पद कवि ने अभिप्राय विशेष से प्रयुक्त किया है। पाण्डव इस समय ऐसी दशा में थे कि उनका कोई निश्चित ठिकाना न था। पथिक लोग जहाँ भी एकत्रित हो जाते थे वहीं पर वे भी उनके साथ निवास करने लगे थे। 'विप्रक्षयत' पद में 'क्षय' पद का अर्थ 'घर' से है। 'आरविप्रक्षयत' पद में आङ् उपसर्ग के 'पर्यन्त' अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण पञ्चमी-विभक्ति के अर्थ में तसिल् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है ॥ ७० ॥

तै॰ क्षणदावेलायां संछन्नसरित्समुद्रदावेलायाम्।
अधरितसुरसंपद्भिः सुरनद्याः पदमतारि सुरसं पद्भिः॥ ७१॥

अनुवाद—अपने सौन्दर्यादि गुणों से देवताओं को भी जीत लेने वाले उन पाण्डवों ने, नदी, समुद्र, वन और धरती को भी आच्छन्न कर लेने वाली रात्रि-वेला में प्रसन्न मन से पैदल ही गगा-नदी को पार किया।

व्याख्या—पाँचों पाण्डवों में सुन्दरता तो थी ही। इसके अतिरिक्त उनमें ऐसे गुण विद्यमान थे जिनसे देवता भी तिरस्कृत कर दिये गये थे। ऐसे देवसदृश उन पाण्डवों ने पैदल ही रात्रि में नदी पार की। रात्रि की निबिडता का वर्णन करते हुए कवि ने जिस 'संच्छन्नसरित्—' पद का प्रयोग किया है उससे उसकी भयंकरता व घनी व्यापकता का आभास सरलता से ही हो सकता है॥ ७१॥

अथ पृथुरागमदस्त्रीसार्थः पार्थान्रुरुत्सुरागमदस्त्री।
गन्धर्वाधीशस्तां चित्ररथो नाम शास्त्रबाधी शस्ताम्॥ ७२॥

अनुवाद—तदनन्तर पाण्डवों को रोकने की इच्छा से अत्यधिक स्नेह और यौवन-मद से परिपूर्ण स्त्री-समूह के साथ, अस्त्र धारण किये हुए, शत्रु को कष्ट पहुँचाने वाला गन्धर्वों का राजा चित्ररथ उस प्रशस्त गङ्गा की ओर आया।

व्याख्या—चित्ररथ ने पाण्डवों को रोकने की इच्छा की अतः शस्त्र लेकर वह गंगा की ओर आया। कवि ने चित्ररथ के लिये 'शत्रुबाधी' विशेषण का प्रयोग करके उसके अकण्टक एवं शत्रुविहीन-जीवन बिताने का परिचय दिया है॥७२॥

न्यरुणद्वेलातीत समुद्रमिव जिष्णुराहवेऽलाती तम्।
क्षिप्तमहास्त्रस्तस्य व्यधत्त भङ्गं च गुरुमहास्त्रस्तस्य॥ ७३॥

अनुवाद—मशाल लेकर चलने वाले अत्यन्त तेजस्वी अर्जुन ने अपने महास्त्र को फेंककर उस चित्ररथ को वैसे ही रोक लिया जैसे प्रवाह-रहित समुद्र को बाँध दिया जाये और फिर उस भयभीत गन्धर्वराज को अर्जुन ने समाप्त कर दिया।

व्याख्या—अधकार में प्रकाश करने के लिये अर्जुन ने हाथ में अलात ले रखा था—

'उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महायशा॥'

यमकालंकार के अतिरिक्त महाकवि को उपमालंकार भी प्रिय है। चित्ररथ के रोके जाने की उपमा कवि ने 'वेलातीत समुद्र' से दी है। वैसे तो समुद्र को उसकी उद्दाम लहरों के कारण बाँध सकना असंभव है पर जब उसकी लहरें

भी शान्त हो जायें तो उसे भी रोका जा सकता है। चित्ररथ भी समुद्र के समान विशाल शरीर वाला होगा पर अर्जुन के सामने वह अशक्त हो गया। वैसे समुद्र के समान उसे भी रोक सकना मनके लिये सुकर नहीं ॥ ७३ ॥

सस्य च तापत्यागा श्रुत्वा विविधा वितीर्णतापत्यागाः।
प्रययुर्विप्रापेतैर्धौम्योऽथ गुरुश्च वनभुवि प्रापे तैः ॥ ७४ ॥

अनुवाद—उस चित्ररथ के मुख से 'तापती' के नाना प्रकार की तापत्याग-वृत्तान्त रूप वचनों को सुनकर पाण्डव वहाँ से चल पड़े। तदनन्तर ब्राह्मण से रहित वे पाण्डव वन-प्रान्त में धौम्य गुरु के पास पहुँचे।

व्याख्या—'तापती' नाम की महारानी इनके पुरखों की थी। जिसके सम्बन्ध में अनेक अद्भुतपूर्व वृत्तान्त उस चित्ररथ ने सुनाया।

'एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी।
सव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मत ॥
तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृप।
तापत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥

धौम्य ऋषि को अपना गुरु बनाने का वर्णन भी आदि पर्व में इस प्रकार आया है—

'तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं प्रति।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥
तान्धौम्यः प्रतिजग्राह सर्वान्धर्मभृतां वरान्॥ ७४ ॥

ते खलु सद्विजवपुषः पाञ्चालपुरं समेत्य सद्विजवपुषः।
गूढाकारा वासं चक्रुः सम्प्राप्य कुम्भकारावासम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—वे पाण्डव ब्राह्मण का वेष धारण किये हुए थे, अपने शरीर को छिपाये हुए थे एवं साधुओं के समान आचरण करने वाले थे। पाञ्चालपुर पहुँचकर कुम्भकार के घर में उन्होंने निवास किया।

व्याख्या—जैसी कि कथा प्रसिद्ध ही है कि वे पाण्डव अपने शरीर को ढककर ही स्वयंवर को देखने गये थे जिससे कि उन्हें कोई पहचान न सके। निमन्त्रण न होने के कारण वे लोग पाञ्चालराज के यहाँ नहीं ठहरे बल्कि उन्होंने कुम्भकार के घर में ही निवास किया ॥ ७५ ॥

अथ सदनीकच्छत्रा संप्राप्त सकलवनधुनीकच्छत्रः।
सद्यो वसुधापाना धिय दधानः स्मृतोत्सवसुधापानाम् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—इसके बाद राजाओं का (वसुधाप) सब वहाँ (पाञ्चालनगर) आया जिसकी सेनाओं में छतरियाँ शोभायमान हो रही थीं, जो समस्त वन-

नदियों के कच्छ (गहन प्रदेश) की रक्षा करने वाली थीं और जो उत्सव के दिनों में सुधा-पान (अमृत-पान) से सस्कारित बुद्धि को धारण करने वाला था (अथवा उत्सव की याद करके ये देवता ही आये हुए हैं—ऐसी बुद्धि प्रदान करने वाला था)।

व्याख्या—राजाओं के ऐश्वर्य का वर्णन इस श्लोक में किया गया है ॥ ७६ ॥

टिप्पणी—'धियं दधान. स्मृतोत्सवसुधापानाम्' इस यति के श्लेषालकार के कारण दो अर्थ किये जा सकते हैं—

१. स्मृतमुत्सवे उत्सवदिने सुधापानममृतपानं यया सा ताम् । सुधापानेन सजातसंस्कारां धियमित्यर्थः ।

२. स्मृत उत्सवः यैस्तादृशा ये सुधापाः सुधां पिबन्ति इति सुधापाः देवास्तेषां धियं बुद्धिं दधान. प्रदायन् अन्येषामित्यर्थः । अर्थात् उत्सव स्मरण करके ये देवता ही आये हुए हैं इस प्रकार दूसरों को विचार कराने वाला (राजाओं का सघ आया)।

संभृतनरकरिपूरःस्थलस्थितश्रीकटाक्षनरकरिपूरः ।
सह ललनादोहलिना यदुसंघोऽभ्यागमत्स नादो हलिना ॥ ७७ ॥

अनुवाद—स्त्रियों के प्रति कौतुकी हलधर (बलभद्र) के साथ शब्द करता हुआ यादवों का सघ (भी) आ पहुँचा जो कि नरकरिपु (श्रीकृष्ण) के वक्षस्थल पर विराजने वाली लक्ष्मी के कटाक्षरूपी मनुष्यों और हाथियों से भरा हुआ था।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने यादवों के समूह को मनुष्यों और हाथियों से खचाखच भरा हुआ बतलाने के अभिप्राय से लक्ष्मी के कटाक्ष को उपमेय और नर तथा करी का उपमान माना है। नेत्रों में श्वेत और कृष्ण भाग होता है उसी प्रकार से यह समूह भी लक्ष्मी के कटाक्ष के समान चहल-पहल के कारण चचल था और नेत्रों के समान ही दो रंगों मनुष्य और हाथियों-से भरा था ॥ ७७ ॥

वशे पूर्वोर्वरया सहजश्रेण्या ससैन्यपूर्वोर्वरया ।
दूरगिरा कर्णनतः सुयोधनोऽगात्स्वयंवराकर्णनतः ॥ ७८ ॥

अनुवाद—स्वयंवर का समाचार सुनकर दुर्योधन भी आ पहुँचा जिसके साथ राजवश में श्रेष्ठ भाइयों की पक्ति थी। वह सेना से भरी हुई उर्वरा भूमि वाला था और दूर से ही 'जयहो' आदि वाणी के द्वारा कर्ण उसे प्रणाम कर रहा था।

व्याख्या—उपर्युक्त श्लोकों में कवि ने सारे राजाओं के आगमन के साथ उनके अपार वैभव का भी प्रदर्शन किया है। स्वयंवर-सभा में यादव और कौरव के अतिरिक्त अनेक राजगण आये हुए थे॥ ७८॥

अथ रिपुमादधमदा विविशु: परमेण रहसादभ्रमदाः।
रूपरुषा पाञ्चाल्या रङ्गभुव रचितयन्त्रचापा चाल्या॥ ७६॥

अनुवाद—इसके बाद शत्रुओं को दुःख और भ्रमण प्रदान करने वाले पूर्वोक्त राजा अपनी रूप-दीप्ति से तथा मद से पूर्ण होकर बड़ी शीघ्रता से द्रौपदी की रंगभूमि में प्रविष्ट हुए जहाँ पर सखी ने राधायन्त्र और चाप की रचना कर रखी थी।

व्याख्या—ये सारे ही राजा अत्यन्त शूर और पराक्रमी थे क्योंकि इनके शत्रु इनसे सदैव दुःखी रहते थे और भ्रमण किया करते थे। भय के कारण कहीं निश्चिन्तता से रहने में असमर्थ थे। ये सारे राजा सुन्दर भी थे इसी कारण अपने रूप के गर्व में डूबे हुए थे॥ ७९॥

अथ पृथुरूपद्रविणा विनिर्मिता कर्मणा गुरूपद्रविणा।
या स्पृहणीया जगता साक्षाच्छक्तिः शरीरिणी याजगता॥ ८०॥

अनुवाद—इसके बाद महान् रूप-सम्पत्ति वाली, शरीरधारियों के (मानों) अत्यधिक उपद्रवी कर्म से निर्मित की गयी, संसार के द्वारा इच्छा किये जाने वाली तथा काम को प्राप्त हुई मानों साक्षात् शरीरधारिणी शक्ति (द्रौपदी अपनी सखी के साथ रंगभूमि में प्रविष्ट हुई)।

व्याख्या—इस श्लोक की क्रिया अगले श्लोक में मिलेगी। द्रौपदी के मादक रूप का चित्रण कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। वह इतनी रूपवती थी कि उसे देखकर राजाओं के मन में उथल-पुथल होने लगी थी। जन-मानस में वह उपद्रव उत्पन्न करने वाली थी ऐसा लगता था कि मानों वह उपद्रवी पदार्थों से रची गयी हो। सारा संसार उसे प्राप्त करने की अभिलाषा करता था। वह मानों साक्षात् मूर्तिमती काम की शक्ति ही थी॥८०॥

प्रस्तुत श्लोक में गूढोत्प्रेक्षा है। यद्यपि 'इव' पद का प्रयोग मानों के अर्थ कहीं पर भी किया नहीं गया पर फिर भी मानों का अर्थ निकलने के कारण उत्प्रेक्षालंकार की योजना कवि ने इस श्लोक में की है।

महनीयं वरमाल्या सार्धं लब्धुं धृतस्वयंवरमाल्या।
पाञ्चाली रङ्गभुवं प्राप नयन्ती नृपावलीरङ्गभुवम्॥ ८१॥

अनुवाद—प्रशंसनीय वर प्राप्त करने के लिये हाथों में स्वयंवर की माला

लिये हुए अपनी सखी के साथ पाञ्चाली (द्रौपदी) राजाओं की पंक्तियों को सकाम बनाती हुई रङ्गभूमि में आयी।

व्याख्या—द्रौपदी ने जैसे ही स्वयंवर-भूमि में प्रवेश किया तो उसके रूप-लावण्य को देखकर सारे राजागण सकाम होने लगे अर्थात् सबके मन में उसने काम का जागरण कर दिया। यह बात उसके उद्दाम-यौवन, अद्वितीय रूप-माधुरी एवं सम्मोहन-शक्ति का परिचय कराती है ॥ ८१ ॥

सुरभि तरसा रङ्गं द्रुपदसुतः प्राप तरलतरसारङ्गम्।
इष्वासारोपे तामथ नृपसमितिं न्ययुङ्क्त सारोपेताम् ॥ ८२ ॥

अनुवाद—इसके बाद द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न शीघ्रता से घूमने वाले चचल मृगों (या चातक) से भरे हुए रमणीय रङ्गभूमि में आया। और उसने (धृष्टद्युम्न) बलयुक्त (सारोपेता) राजसभा को धनुष चढ़ाने के लिये प्रेरित किया।

व्याख्या—धनुष चढ़ाकर लक्ष्यवेध करने वाले युवक को द्रौपदी वरण करेगी इस प्रकार की शर्त के अनुसार सबसे पहले रंगभूमि में आकर धृष्टद्युम्न ने राजाओं को धनुष चढ़ाने के लिये कहा ॥ ८२ ॥

तदनु बलोपेतेन प्रयुज्यमानाः शरव्यलोपे तेन।
चेलुरगुर्वामोदात्सुरभौ रङ्गे नृपा सुगुर्वामोदात् ॥ ८३ ॥

अनुवाद—इसके बाद उस बलवान् धृष्टद्युम्न के द्वारा लक्ष्यवेधन (शरव्य-लोप) के लिये प्रेरित किये गये राजा गण अत्यन्त हर्षपूर्वक अगुरु की आमोद से सुगन्धित रङ्गस्थल की ओर चल पड़े।

व्याख्या—सभी राजागण लक्ष्यवेध करके सुन्दरी द्रौपदी के साथ विवाह करने के विचार से अत्यन्त प्रसन्न थे। पर उन सबको निराशा ही हाथ लगी जैसा कि आगे के श्लोक में आयेगा ॥ ८३ ॥

स धनुः सारवदन्तः क्षत्रियलोको विकृष्य सारवदन्तः।
सहसालसदोरङ्गः पपात सक्षोभिताखिलसदोरङ्गः ॥ ८४ ॥

अनुवाद—वह धनुष अन्दर से अत्यन्त बलवान् व कठोर था। उसे खींचने पर क्षत्रिय-समूह के दाँत 'कटकट' का शब्द करने लगे। उन लोगों की भुजाएँ व अंग शिथिल पड़ गये तथा सम्पूर्ण सभा व रंगस्थल को संक्षुब्ध करते हुए वे सब सहसा पृथिवी पर गिर पड़े।

व्याख्या—वैसे धनुष बाहर से देखने में साधारण ही था अतः पहले तो सभी राजागण प्रसन्न हुए पर वास्तव में वह अन्दर से अत्यन्त कठोर था, अतः

थे सब के सब उसे चढ़ा सकने में असमर्थ एवं अशक्त थे। उनके सहसा पृथिवी पर गिर पड़ने से सभा में खलबली मच गयी ॥ ८४ ॥

दृष्ट्वा चापान्तरसा नरपतिपङ्क्तीर्निरस्तचापान्तरसाः ।
छन्नो रूपान्तरतः पार्थ उदस्थात्ततो गुरूपान्तरतः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—तुरन्त ही चाप से अलग हो जाने वाले तथा उसके आकर्षण के लिये इच्छा को त्याग देने वाले उस राजगण को देखकर ब्राह्मणवेष से ढके हुए शरीर वाला तथा गुरु की सेवा में रत अर्जुन (अपने स्थान से) उठा।

व्याख्या—जब अर्जुन ने देखा कि सारे राजा निराश और हताश हो चुके हैं। धनुष की कठोरता के कारण उनमें उसके आकर्षण के प्रति कोई भी चाव शेष नहीं रह गया है तो वह उसे खींचने के लिये अपने गुरु के पास से उठा ॥ ८५ ॥

जगृहे चापमुदंसः क्षत्रियलोकं विधाय चापमुदं सः ।
धृतरभसं सद्यस्तन्निशितशरैर्लक्ष्यमकृत ससदस्तम् ॥ ८६

अनुवाद—उन्नत स्कन्धों वाले अर्जुन ने तुरन्त ही बड़े वेग से क्षत्रिय-समूह को दुःखी करते हुए उस धनुष को उठा लिया और सभा में तीक्ष्ण बाणों से उस लक्ष्य को भी विच्छिन्न कर दिया। अर्थात् लक्ष्यवेधन किया।

व्याख्या—अपने प्रतिद्वन्द्वी तथा ब्राह्मण-वेषधारी युवक के द्वारा एक बारगी ही धनुष को उठा लिया जाना वास्तव में ही क्षत्रियों के मन में वेदना और ग्लानि उत्पन्न करने वाला था। प्रतिज्ञा के अनुसार शेष सारे क्षत्रिय द्रौपदी के साथ पाणिग्रहण करने के अयोग्य रहे। धनुष का उठाना और तीक्ष्ण बाणों के द्वारा लक्ष्य वेध कर देने से निश्चित ही अन्य क्षत्रियों के मधुर-स्वप्न टूट गये ॥ ८६ ॥

तदनु सुकेशी करिणं करिणीव मदेन मस्तके शीकरिणम् ।
मदनापादन्या सा गत्यार्जुनमेत्य मृदुलपादन्यासा ॥ ८७ ॥
असभुवि भ्रमरचितां मालामस्यांसयोर्विभ्रमरचिताम् ।
आननमानमयन्ती तस्थौ कृष्णा रमोपमानमयन्ती ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात्, मद के कारण जलकणों से युक्त सिर वाले हाथी के पास जैसे हथिनी जाती है उसी प्रकार सुन्दर बालों वाली द्रौपदी कामोत्पादक चाल से कोमल पग रखती हुई अर्जुन के पास जाकर बड़ी कला से बनायी गयी तथा सुगन्धि के कारण भौंरों से घिरी हुई माला उस (अर्जुन) के स्कन्धदेश पर डालकर लक्ष्मी के समान अपने मुख-मण्डल को झुकाये हुए खड़ी रही।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोकों में कवि ने अत्यन्त ही सरस भावों या गति-विधियों को अत्यन्त ही साहित्यिक शब्दों में उपनिबद्ध किया है। इस श्लोक के द्वारा किसी भी नववधू का सात्विक लज्जादि भावों से ओतप्रोत मानस का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। अपनी अभिलाषा पूर्ण होने पर एक सुशील, आदर्श हिन्दू नारी के समान वह मन्द-मन्थर गजगतिवत् धीरे २ पैरों को पृथिवी पर रखती हुई अर्जुन के पास गयी तथा गले में सुन्दर माला को डालकर उसके सामने सिर झुकाये हुए खड़ी रही। उसके इस व्यवहार के द्वारा उसके आन्तरिक गुण-सम्पत्ति का भी आभास पाठकों को लग ही जाता है।

दोनों के वरण के दृश्य को कवि ने अत्यन्त ही सुन्दर कल्पना-कूचिका से चित्रित किया है। उसके सामने सिर झुकाये खड़ी हुई द्रौपदी ऐसी लग रही थी जैसे मानों विष्णु के सामने जयमाल डालती हुई लक्ष्मी खड़ी हो। इसके अतिरिक्त ऊपर के श्लोक में अर्जुन के पास जाती हुई द्रौपदी की हथिनी से उपमा देकर कवि ने उसके हृदय के सात्विक श्रद्धा या प्रेम की जो झलक दी है वह भी आदर्शमय है। हथिनी सदैव ही अपने पति करी की अनुगामिनी होती है। दोनों के सहवास-प्रेम का उदाहरण प्रायः दम्पतियों के प्रेम वर्णन में दिया जाता है॥ ८८॥

गृह्णति विप्रे महति द्रुपदसुता तत्क्षणेन विप्रेमहति।
तज्जनतत्परमबलन्नरेश्वराणां रणाय तत्परमबलम्॥ ८९॥

अनुवाद—उस समय द्रौपदी के द्वारा एक ब्राह्मण रूपधारी अर्जुन के अतीव प्रेमपूर्वक ग्रहण कर लिये जाने पर, राजाओं की श्रेष्ठ सेनाएँ अर्जुन को डराने-धमकाने लगीं और उसे युद्ध के लिये पुकारने लगीं।

व्याख्या—प्रतिद्वन्द्वियों ने अपनी शक्ति को जब पहचान लिया तो खिसियाकर अन्ततः उसे युद्ध के लिये ललकारने लगे। ईर्ष्यालु प्रतिद्वन्द्वियों की प्रायः ऐसी ही स्थिति होती है॥ ८९॥

सकलजनाभिमतेन प्रवर्तमाना सराजनाभिमतेन।
दृष्ट्वाद्विजवरवरणास्तस्थुर्यदवस्तथैव विजवरवरणाः॥ ९०॥

अनुवाद—सब लोगों के द्वारा स्वीकरणीय तथा श्रीकृष्ण की बुद्धि से प्रवर्तित यादवगण विप्रश्रेष्ठ के वरण को देखकर उसी प्रकार (उदासीन) वेग, शब्द और रण के बिना खड़े रहे।

व्याख्या—श्रीकृष्ण को विप्र के रूप का पता था अतः उनकी आज्ञा मानकर यादवगण बिना किसी शब्द के या युद्ध की ललकार के बिना उसी प्रकार उदासीन होकर खड़े रहे॥ ९०॥

टिप्पणी—विजया जयो येषा, रवः शब्दः, रणः समासः येषां ते तादृशा 'विजयरवरणाः' इति ॥ ९० ॥

तत्र च मानवहास्या वस्त्राण्यपास्य सकलमानवहास्याः ।
विप्रवरा जान्य ते चक्रुः सुघसीकृदस्य राजाल्यन्ते ॥ ९१ ॥

अनुवाद—रङ्गस्थल पर युधिष्ठिरादि विप्रश्रेष्ठ अपने वस्त्र (कौपीनादि) आदि तथा आसनों (वृसीः) को त्याग कर राजाओं की पंक्ति के अन्त में एक ओर इकट्ठे खड़े हो गये। वे विप्रवर मानी स्थिति को धारण करने वाले थे (अथवा जिनके आस्य मुख स्वाभिमानपूर्ण थे) तथा उन्हें देखकर सारे लोग हँसने लगे थे।

व्याख्या—क्षत्रिय होने के कारण युधिष्ठिरादि से प्रतिद्वन्द्वी राजाओं की ललकार सहन न हो सकी क्योंकि वे स्वाभिमानी थे अतः वे लोग अपने साधु-वेष को छोड़कर युद्ध के लिये एक ओर खड़े हो गये ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—'मानवहास्याः' समास में आस्य पद के श्लेषालङ्कार से दो अर्थ किये जाते हैं—

१. मानवहास्या' मानवहा मानधारिणी आस्था स्थितिर्येषा ते ।

२. मानवहम् आस्य मुख येषां ते तादृशा. ॥ ९१ ॥

तांस्तु हसन्नाहवतः पार्थो विप्रान्निवार्य सन्नाहवतः ।
अतिकुपितानापततस्तमेव चापं प्रगृह्य तानाप ततः ॥ ९२ ॥

अनुवाद—इसके बाद पार्थ (अर्जुन), युद्धार्थ के लिए सन्नद्ध, टूट पड़ने वाले तथा अति कुपित उन विप्रों को मुस्कराते हुए युद्ध से रोक कर उसी (पूर्वोक्त, सज्जीकृत) धनुष को लेकर उस राज-समूह के पास पहुँचे।

व्याख्या—विप्रों को युद्ध के लिये तय्यार देखकर अर्जुन के मुस्कराने का कारण उन लोगों का अति क्रोध था। युधिष्ठिरादि सारे भाई अपने वस्त्रादि उतारकर एक किनारे खड़े हो गये जो स्थिति वास्तव में हास्यास्पद थी। अर्जुन ने उन सबको लड़ने से मना किया क्योंकि इन राजाओं को परास्त करने के लिये उन सारे भाइयों की आवश्यकता न थी। अर्जुन स्वयं इतना शक्तिशाली था कि अकेले ही उन सबको पराजित करने के लिये पर्याप्त था। ॥९२॥

स खलु महेष्वासाद्यास्फोलमहास्त्रेषु रणमहेऽत्रासाद्य ।
राज्ञः समुद्भजनानत्राजयदर्जुनोऽथ समुद्भजवान् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—महान् धनुषादि महान् अस्त्रों से पूर्ण इस रणोत्सव में हर्षित एवं भीमसेन-सहित अर्जुन ने सम्यक् वेगवान् राजाओं को प्राप्त कर भागने के लिये बाध्य कर दिया अर्थात् उन सबको दूर भगा दिया।

व्याख्या—इस रण में महान् अस्त्र-शस्त्र राजाओं के पास थे फिर भी अपने धनुष के द्वारा अर्जुन ने जिस किसी भी राजा को प्राप्त किया उसको उसके सामने से भागना पड़ा। इस प्रकार द्रौपदी को साथ लेकर वे लोग सुरक्षित लौटे ॥ ९३ ॥

तदनु समादायातः पाञ्चालीं पाण्डवः क्रमादायातः।
स तदेव कुलालस्य स्थानं क्रियमाणशात्रवकुलालस्य ॥ ९४ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर शत्रु-कुल को निश्चेष्ट बनाने वाला अर्जुन पाञ्चाली (द्रौपदी) को लेकर पूर्ववत् उसी कुलाल (कुम्हार) के स्थान पर आया।

व्याख्या—इस कुलाल का वर्णन पहले ही आ चुका है। पाञ्चाल नगरी में राजा द्रुपद के यहाँ रहना उचित न समझा अत: अपने पूर्वोद्दिष्ट स्थान पर ही वह पुनः लौट आया ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—'क्रियमाणशात्रवकुलालस्य –' पद के अन्त में कवि ने छन्द की दृष्टि से विसर्गों का प्रयोग नहीं किया है, पर यह कोई दोष नहीं क्योंकि यमक में विसर्जनीयाभाव वर्जित नहीं है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण इस काव्य में अन्य स्थानों पर भी द्रष्टव्य हैं ॥ ९४ ॥

वसतौ कौलाल्यां ते कौ लाल्यां तेजसा वधूमादाय।
ऊषु स्वच्छादनतः स्वच्छादनत' शरीरयात्रां दधतः ॥ ९५ ॥

अनुवाद—निर्मल वस्त्र से अपने को ढके हुए तथा अपना जीवन-यापन करते हुए तेजस्वी वे युधिष्ठिरादि कुलाल के घर में लालनीय-वधू (द्रौपदी) को लाकर भूमि पर रहने लगे।

व्याख्या—अपने शरीर को निर्मल साधु-वेष से ढके रहने का कारण ऊपर आ चुका है। यद्यपि उनकी वधू लालनीय थी फिर भी उन्हें कुलाल के गृह में जिस किसी प्रकार भूमि पर ही रहते हुए (शयनादि) अपनी शरीर यात्रा चलानी पड़ी। यह वास्तव में भाग्य का फेर ही कहा जायगा जैसा कि कहा भी गया है—नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ ९५ ॥

तदनु द्रुपदेन पुरं गमितैः सविचारमुदारमुदा गमितैः।
नरदेवसुतैरुदवाहि वधूर्विधिनैव च सा वचसादिमुनेः ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त राजा द्रुपद ने उन लोगों को पहचान कर हर्षित मन से अपने नगर बुलवाया। राजपुत्र युधिष्ठिरादि ने भी आदि मुनि श्री व्यास की आज्ञा से विधिपूर्वक वधू द्रौपदी के साथ विवाह सम्पन्न किया।

व्याख्या—युधिष्ठिरादि राजपुत्रों का एक ही वधू (द्रौपदी) के साथ विवाह करने का कारण यहाँ पर कवि ने स्पष्ट किया है। एक तो उनकी माता कुन्ती पहले ही अनजाने में 'वस्तु को पाँचों बाँट कर खा लो' ऐसी आज्ञा दे चुकी थी और दूसरी ओर आदि मुनि श्रीव्यास की आज्ञा थी। ऐसा कहा भी गया है कि 'आज्ञा गुरूणामनुलंघनीया' अतः इस शास्त्रविधान के अनुसार उन पाँचों राजकुमारों ने उस एक से विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ९६ ॥

> रराज सा च पाण्डवैररजसास्तथैव ते।
> अनेन सा जनेन पूरनेनसा दधौ श्रियम् ॥ ९७ ॥

अनुवाद—(उस नगर में) वह द्रौपदी पाण्डवों के साथ सुशोभित हुई और वे (पाण्डव) भी उसी प्रकार (पूर्ववत्) रजोगुण (लोभमोहादि) से अलग रहे। इन निष्पाप पाँचों पाण्डवों से उस नगरी ने शोभा प्राप्त की अर्थात् इन लोगों के कारण उसका सौन्दर्य और भी बढ़ गया।

व्याख्या—पाँच लोगों के बीच में एक पत्नी के होने पर भी लोभमोहादि विकारों से अलग रहना अत्यन्त संयमी और महापुरुषों का नियम है। पाण्डव इन्हीं गुणों से पूर्ण थे। विवाह के पश्चात् उनमें कोई विकार न आया। दूसरे उन लोगों के वहाँ रहने से नगरी पवित्र होकर और अच्छी लगने लगी क्योंकि वे पापरहित थे। भला जहाँ सज्जन निवास करते हों वह स्थान पवित्र और सुन्दर कैसे न होगा ॥ ९७ ॥

इति प्रथम आश्वास ।

द्वितीय आश्वासः

अथ गिरिवप्राकारं द्रुपदपुरस्य क्षणादिव प्राकारम् ।
कुरवः क्रुद्धा मानस्पर्धा बद्ध्वा न्यरौत्सुरुद्धामान. ॥ १ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर उद्भट तेजस्वी क्रुद्ध कौरवों ने मान की स्पर्धा से बंधकर, पर्वत के शिखर के आकार के समान द्रुपदपुर के प्राकार (चहार-दीवारी) को थोड़ी ही देर में घेर लिया।

व्याख्या—कौरव भी अत्यन्त तेजस्वी थे अत: कवि को उनके लिये 'उद्दामा' विशेषण प्रयुक्त करना पड़ा। वे लोग भी पाण्डवों की तरह स्वाभिमानी थे। इन्हें क्रोध इस बात से आ रहा था कि हमारे सामने ही पाण्डव वधूरत्न को ज़बर्दस्ती ले गये। अतः उसे पुनः प्राप्त करने की आशा से उन्होंने राजा द्रुपद का नगर घेर लिया ॥ १ ॥

दर्पमसहमानेन द्विषतां पार्थाः प्रसह्य सह मानेन ।
नगरे रुद्धे तिलतां नेतुमरिचमूं निरीयुरुद्धेतिलताम् ॥ २ ॥

अनुवाद—जब युधिष्ठिरादि भी नगर के अन्दर घेर लिये गये तो वे लोग भी शत्रु के घमण्ड को न सह सकने के कारण हठात् स्वाभिमानपूर्वक, शस्त्र-रूपी लताओं को उठाने वाली शत्रु की सेना को चूर्ण करने के लिये बाहर निकल पड़े।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में पाण्डवों के अदम्य साहस और शत्रु से पराभूत न होने वाले स्वाभिमान का वर्णन है। इस श्लोक में कवि ने अन्तिम पद में रूपक अलंकार की योजना की है। शत्रु की सेना ने जो शस्त्र उठा रखे थे वे मानों लम्बी २ लताएँ थीं। शस्त्रों में लताओं का आरोप होने से रूपकालंकार है। जिसका लक्षण है—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' ॥ २ ॥

तैः कृतसेनानाशाः कुरवो ययुरेव साध्वसेनानाशाः ।
शत्रुषु समुदस्तेषु न्यवसन्पार्थाः पुरेऽत्र समुदस्तेषु ॥ ३ ॥

अनुवाद—पाण्डवों के द्वारा नष्ट हुई सेना वाले कौरव निराश होकर भयपूर्वक भाग गये। फिर उन शत्रुओं के चले जाने पर उस नगर में युधिष्ठिरादि प्रसन्न होकर रहने लगे।

व्याख्या—पाण्डवों की शक्ति से कौरव भयविह्वल होकर भाग गये। इस प्रकार द्रुपद राजा के नगर की रक्षा पाण्डवों ने की। और शत्रु के चले जाने के पश्चात् आनन्द से रहने लगे ॥ ३ ॥

वृत्त पुत्राणां त पार्थाना चोदयं रिपुत्राणान्तम्।
विदुरगिरा जातान्तस्तापः शुश्राव तदनु राजा वान्तः॥ ४॥

अनुवाद—इसके बाद राजा धृतराष्ट्र ने अन्दर से दुःखित होते हुए विदुर की वाणी से अपने पुत्रों (कौरव) का वृत्तान्त और युधिष्ठिरादि का शत्रु-रक्षण रूप उदय सुना। फिर इसे सुनकर वे बड़े दुःखी और खिन्न हुए।

व्याख्या—धृतराष्ट्र ने जब सुना कि भाईयों-भाईयों में घोर युद्ध हुआ और पाण्डवों ने कौरवों को हराकर राजा द्रुपद की रक्षा की तो उन्हें वास्तव में बड़ी ग्लानि का अनुभव है॥ ४॥

व्यसन भावि दुरन्त विचिन्त्य च प्राहिणोद्विमा विदुरं तम्।
कुरुभर्ता पार्थानामानयनार्थं गुरुप्रतापार्थानाम्॥ ५॥

अनुवाद—तेजस्वी कुरु-पिता धृतराष्ट्र ने भावी दुर्दान्त कष्ट को सोचकर उस विदुर को उन युधिष्ठिरादि को लाने के लिये भेजा जो महान् प्रताप के अर्जन में लगे हुए थे।

व्याख्या—धृतराष्ट्र एक बुद्धिमान् राजा और हितैषी पिता था। इस घटना से उसने भविष्य के संकट का अनुमान कर लिया। अतः पाण्डवों को उनका हिस्सा लौटाने की दृष्टि से विदुर को उन्हें वापस लाने के लिये भेजा॥ ५॥

स च मतिमाननयत्तान्नागपुरं ज्ञातिवर्गमाननयत्तान।
प्रजतो धृष्टद्युम्नसेन· स्यालोऽमूनन्वियाय बन्धुरसेन॥ ६॥

अनुवाद—स्वजनों के सम्मान में यत्नशील उन युधिष्ठिरादि पाण्डवों को बुद्धिमान् धृतराष्ट्र हस्तिनापुर (नागपुर) ले गया। प्रेम के कारण साले धृष्टद्युम्न ने जाते हुए पाण्डवों का अनुसरण किया। उसके पास (धृष्टद्युम्न) सुन्दर सेना (बन्धुरसेन) थी।

व्याख्या—धृष्टद्युम्न स्वयं एक योग्य योद्धा था। उसके पास सुन्दर सेना थी। अपने जीजा के प्रेम के कारण वह भी पाण्डवों का अनुसरण करते हुए हस्तिनापुर तक आ गया॥ ६॥

तर्पितमानवराशी रत्नसमूहेन याच्यमानवराशी।
सति जिनदे याचानां सुहृदा वाक्येन वासुदेवाद्यानाम्॥ ७॥
स्वभुजसमुद्धृतराष्ट्रः प्रदाय राज्यार्धमपि समुद्धृतराष्ट्रः।
सह सपदि व्यासाद्यैर्धर्मजमभिषिक्तमकृत दिव्यासाद्यैः॥ ८॥

अनुवाद—रत्नों के समूह से मानव-समूह को सन्तुष्ट करने वाले और अपनी भुजाओं से राज्यों को वश में करने वाले धृतराष्ट्र ने सहर्ष, श्रीकृष्णादि

मित्रों के कहने के अनुसार, श्रेष्ठ आशीर्वाद देते हुए, स्वर्गलोक वासी देवताओं के द्वारा सेव्य व्यासादि के साथ, तूर्यादि शब्दों के होने पर, धर्मपुत्र युधिष्ठिर को तुरन्त ही आधा राज्य देकर अभिषिक्त किया अर्थात् उसका राजतिलक सम्पन्न किया।

व्याख्या—धृतराष्ट्र एक दानी और प्रतापी राजा था। उसने पृथिवी के मनुष्यों को रत्नों के ढेर दान में देकर प्रसन्न बनाया था। उसने मंगल-वाद्यों के बीच युधिष्ठिर को जो कि भाइयों के बीच सबसे बड़े थे, नियमानुसार आधा राज्य प्रदान किया। इस कार्य में उसे उसके श्रीकृष्णादि मित्रों ने भी अपनी सम्मति प्रदान की तथा मुनिवर्य व्यासादि जिनकी सेवा दिव्य लोकवासी किया करते हैं—इस कार्य में साक्षी रूप से पधारे। सभी लोगों ने युधिष्ठिर को इस पुनीत अवसर पर आशीर्वाद प्रदान किया॥ ७–८॥

युक्त स त्वर्धेन क्षोण्याश्चित्तेन चैव सत्त्वर्द्धेन।
हतदु:सहरिपुरोगः शक्रप्रस्थं विवेश स हरिपुरोगः॥ ९॥

अनुवाद—पृथिवी (क्षोणी) के आधे भाग से युक्त सत्व-सम्पन्न (ऋद्ध) चित्त से युक्त तथा असहनीय शत्रु रूपी रोग को समाप्त करने वाले युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ (शक्रप्रस्थ) में प्रवेश किया। उनके आगे-आगे भगवान् श्रीकृष्ण चल रहे थे।

व्याख्या—युधिष्ठिर धर्मपुत्र थे अतः उनका चित्त सदैव ही सत्त्व गुण से युक्त रहता था। युधिष्ठिर ने अपने स्वभाव व शक्ति से दु:सह शत्रु-रूपी रोग को समाप्त कर दिया था। इसी कारण 'हतदु:सहरिपुरोग:' विशेषण कवि ने प्रयुक्त किया है। 'रिपुरोग:' पद—रिपुरेव रोग:—रूपकालंकार है॥ ९॥

हत्वा भूमावसत: पुरं तदुद्भूतभूतिभूमावसतः।
तानृपिरापादरतस्तदुद्भुतेर्धातृसूनुरापादरतः॥ १०॥

अनुवाद—भूमि पर दुष्टों को मारकर, उत्पन्न हुए लक्ष्मी-बाहुल्य से परिपूर्ण नगर में रहने वाले उन युधिष्ठिरादि के समीप, ब्रह्मा के पुत्र ऋषि नारद उन लोगों को (युधिष्ठिरादि) श्रेष्ठ, महान् लक्ष्मी के आदर के साथ पधारे।

व्याख्या—युधिष्ठिरादि के हस्तिनापुर आने पर वह नगर लक्ष्मी से भरा हुआ था। सारे पाण्डव सुख पूर्वक वहाँ निवास कर रहे थे। ऐसे समय ब्रह्मा के पुत्र नारद वहाँ पर आये। युधिष्ठिरादि ने धन-सम्पत्ति आदि के द्वारा उनका सत्कार किया। देखिये महाभारत आदिपर्व—

'अथ तेपूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया'॥ १०॥

स एव यथमत्यायततः स्नेहात्तेष्यवददेकमत्याय ततः।
सुरललनामोदितयोर्भ्रात्रो सुन्दोपसुन्दनामोदितयो॰॥ ११॥

अनुवाद—फिर नारद मुनि ने पाण्डवों में एकमति (एकता) बनाये रखने के लिये अत्यन्त स्नेह से देवललना के प्रति प्रेम करने वाले सुन्द और उपसुन्द नाम से प्रसिद्ध दो राक्षसों के वध की कथा कही।

व्याख्या—द्रौपदी पाँच लोगों के बीच में एक ही थी। अतः कहीं इन लोगों में कभी फूट न हो जाये अतः इस बात को समझाने की दृष्टि से नारद मुनि ने एक दृष्टान्त का सहारा लिया। सुन्द और उपसुन्द नामक दो राक्षसों की कथा महाभारत में अतीव प्रसिद्ध है। दोनों ही भाइयों में अपार प्रेम था। दोनों एक साथ सोते, जागते और खाते पीते थे पर तिलोत्तमा नामक सुरललना के मोह में पड़कर उन दोनों ने परस्पर कटुता पैदा कर ली और अन्ततः समाप्त हो गये। इस कथा का उदाहरण देते हुए महाभारत में मुनि नारद युधिष्ठिरादि से कहते हैं—

'रक्षन्तौ सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रविभागकम्।
यथा वो न प्रभेदः स्यात्तत्कुरुध्वं महारथा.'॥ ११॥

आदि-पर्व—महा॰

ते मतमादधुरस्य ज्ञात्वा सवादमप्रमादधुरस्य।
द्रुपदसुता प्रत्यमे तस्यव वयस्यवस्थितां प्रत्यमे॥ १२॥

अनुवाद—उन युधिष्ठिरादि ने जागरूकता में अग्रगण्य (श्रेष्ठ) नारद मुनि के उस सवाद (आख्यान) को नव यौवना द्रुपद-सुता (द्रौपदी) के प्रति समझकर उनके सामने ही उनके मत (परामर्श) को स्वीकार किया अर्थात् उनकी बात का पालन करने की प्रतिज्ञा की।

व्याख्या—नारद मुनि अपने समयादि में अग्रगण्य थे। उनके इस दृष्टान्त के भावार्थ को समझकर उनकी सीख को धारण करने की प्रतिज्ञा पाण्डवों ने द्रौपदी के सामने की॥ १२॥

व्यत्ययसनेन समाना पत्नीमस्माकमभिजनेन समानाम्।
अन्तिकमानयमाना धत्स्यामो मुनिवचांसि मानयमानाः॥ १३॥

अनुवाद—श्री नारद मुनि के वचनों को स्वीकार करते हुए हम लोग क्रमशः—एक-एक करके—अपने कुल के सदृश, तथा मानयुक्त पत्नी के पास आ-आकर रहेंगे।

व्याख्या—मुनि के परामर्श को स्वीकार करके उन लोगों ने आपस में यह निश्चय किया की हम लोग क्रमशः द्रौपदी के पास रहा करेंगे। जिससे

कि किसी भी प्रकार कोई वैमनस्य या भेदभाव हम लोगों के बीच कभी न उत्पन्न हो सके। द्रौपदी कुलीन वंश के अनुरूप थी और मान युक्त थी—यह संकेत भी दो विशेषणों से प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

यस्त्ववनावासन्नस्तल्पेऽथ्याया भवेद्वनावास नः।
स शरदमेकां तनुतां व्रतिनामवलम्ब्य वृत्तिमेकान्ततनुताम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—हम लोगों में से जिस किसी भी एक के द्वारा शय्या पर उपभोग की जाती हुई द्रौपदी को जो कोई देखे (अर्थात् ऐसे समय जो भी कोई दिख जाये) वह एक वर्ष तक, निश्चित रूप से, प्रशंसनीय सन्यासियों की वृत्ति का सहारा लेकर वनवास करे।

व्याख्या—यह आख्यान आदि पर्व में द्रष्टव्य है। प्रसिद्ध है कि क्रमशः प्रतिरात्रि पाण्डव द्रौपदी के साथ रमण करते थे क्योंकि उन लोगों ने भेद-भाव या फूट से बचने के लिये ऐसी प्रतिज्ञा कर रखी थी। यदि कोई भी एक के द्वारा सेवित द्रौपदी के कक्ष में प्रवेश करेगा तो उसे एक वर्ष का वनवास भोगना पड़ेगा। इस नियम के अनुसार अर्जुन को एक बार वनवास झेलना पड़ा था जो कथा आगे आवेगी ॥ १४ ॥

इति कृतसमयो निजया देव्या नृपतिर्दधद्रसमयोनिजया।
नितरामरमत नुतया कान्त्या क्रमरम्यभावमरमततनुतया ॥ १५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार प्रतिज्ञा करने वाले राजा युधिष्ठिर ने अत्यधिक कान्ति से प्रशंसनीय अपनी अयोनिज देवी द्रौपदी के साथ क्रमशः सुन्दर भाव के साथ, खूब रमण किया।

व्याख्या—रानी द्रौपदी अपनी अत्यधिक कान्ति के कारण लोगों के द्वारा स्तुत्य थीं। तथा उनकी उत्पत्ति साधारण मानवों के समान दम्पत्ति-संसर्ग से न होने कारण वे अयोनिज थे। कथानुसार वे कलश से उत्पन्न हुई थीं। ऐसी द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर ने भलीभांति रमण किया ॥ १५ ॥

तत्र च रिपुरोपान्ते रममाणे भूमिभर्तरि पुरोपान्ते।
महसा रोदरवस्तु श्रुतः समुद्धूतपुरोदरवस्तुः ॥ १६ ॥

अनुवाद—वहाँ पर (शयनागार में) शत्रु के बाणों के द्वारा अस्पृश्य राजा युधिष्ठिर के रमण करते समय, नगर के निकट अकस्मात् प्रतिध्वनि से नगर के अन्दर की वस्तुओं (घटादि) को भी हिला देने वाला रोने—चिल्लाने का शब्द सुनायी पड़ा।

व्याख्या—राजा युधिष्ठिर के लिये 'रिपुरोपान्त' विशेषण का प्रयोग करके कवि वासुदेव ने उनके चरित्र का यथार्थ-चित्रण प्रस्तुत किया है। 'रिपुरो-

पालो दायुशराजामन्तो यत्र तादृश.' इस विग्रह से यह अर्थ निकलता है कि शत्रु के बाण उनके पास आते ही समाप्त हो जाते थे। बाण उनके शरीर का स्पर्श भी न कर सकते थे। शत्रुओं के द्वारा जो अजेय थे अपने मृदु स्वभाव और गुणों के कारण।

वे जब द्रौपदी के साथ रमण कर रहे थे तभी समय ज़ोर की आवाज़ सुनायी पड़ी। 'पुरोदरवस्तु' में 'वस्तु' पद पुल्लिङ्ग इस कारण है क्योंकि इसका विशेष्य पद 'रोदरव.' पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त है ॥ १६ ॥

आद्रवतामेया गा हरन्ति चौरा इमे हता मे यागाः।
सासिगदासंनाहा द्रुततरमनुयात यावदासन्ना हा ॥ १७ ॥
इति सहसा रोदं त द्विजस्य पार्थोऽशृणोदसारोदन्तम्।
दध्यौ चापाद्येषु क्षितिपगृहादायुधेषु चापाद्येषु ॥ १८ ॥

अनुवाद—दौड़ो २, मेरी बहुत सी गायों को ये चोर चुराये लिये जा रहे हैं। हाय ! मेरा यज्ञ नष्ट हो गया। हाय ! जब तक ये गाँव के निकट ही हैं तब तक दौड़ कर शीघ्र ही खड्ग गदा, और कवच के साथ इनका पीछा करो।

इस प्रकार अर्जुन ने ब्राह्मण की, अकस्मात् विवशता से पूर्ण चिल्लाने की आवाज़ सुनी फिर अर्जुन ने राजगृह से प्राप्त किये जाने वाले धनुषादि शस्त्रों का ध्यान किया।

व्याख्या—किसी ब्राह्मण की गायों को कोई चोर यज्ञ के समय चुरा कर ले गये जिससे वह असहाय होने के कारण चिल्लाने लगा। उसकी उस करुण आवाज़ को सुनकर अर्जुन का ध्यान अपने शस्त्रों की ओर गया जो कि युधिष्ठिर के कक्ष में रखे हुए थे। पर नियमानुसार यदि वह शस्त्र लेने जाता तो उसे एक वर्ष का वनवास करना पड़ता और यदि ब्राह्मण के करुण क्रन्दन की अवहेलना करता तो साधुओं के कर्तव्य से च्युत होता अत: उसने गायों की रक्षा करने का ही निश्चय किया ॥ १७–१८ ॥

न हि संवादत्याग. सज्जनरक्षासु मार्दवाक्त्याग.।
तन्मम भावि प्राय. श्रेयः प्रतिपाद्यः गाः शुभा विप्राय ॥ १९ ॥
इति बलवानुग्राहिप्रतिमं जग्राह मानवानुग्राहि।
अरिपरिभवनोदरत. पार्थश्चाप नरेन्द्रभवनोदरतः ॥ २० ॥

अनुवाद—ब्राह्मण के द्वारा सूचित किये गये दैन्य-संवाद का त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि सज्जनों व साधुओं की रक्षा में ढिलाई करने से महान

अपराध (पाप) लगता है। अतः ब्राह्मण को शुभ गायें वापस दिलाकर निश्चित ही मेरा कल्याण होगा।

इस प्रकार विचार करके मनुष्यों पर अनुग्रह करने वाले तथा शत्रुओं के द्वारा होने वाले तिरस्कार को दूर करने में तत्पर अर्जुन ने राजभवन के अन्दर से महान् सर्प के समान अपने धनुष को उठाया।

व्याख्या—अर्जुन के मुँह से १९ वें श्लोक में ब्राह्मण के दैन्य-सवाद के अनुकूलवर्णनीनता में शास्त्र विधान की युक्ति देकर महाकवि ने सामाजिकों को उपदेश दिया है। जो लोग सज्जनों की रक्षा करने में तनिक भी शिथिलता लाने देते हैं वे पाप के भागी होते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी सेवा करने से स्वयं का भी कल्याण होता है अतः अपने भावी (एक वर्ष का वनवास) कष्ट को भूलकर ब्राह्मण की गायों की रक्षा करने का ही निश्चय अर्जुन ने किया, एतदर्थ उसने राजगृह से अपने धनुष को उठाया जो महान् सर्प के समान शत्रु का नाश करने वाला था। 'उग्राहिप्रतिमम्' पद में उपमालंकार का प्रयोग कवि ने किया है। क्योंकि धनुष की उपमा भयंकर, महान् सर्प से दी गयी है।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकों में आने वाले प्रत्येक पद अर्जुन के स्वभाव और गुणों पर प्रकाश डालने में सम्यक् रूप से समर्थ हैं॥ १९-२०॥

स प्रसमं गुरवे गां दत्त्वा हत्वा खलानभङ्गुरवेगान्।
दारसुवा समयेन प्रययौ तीर्थानि विप्रवासमयेन॥ २१॥

अनुवाद—उस अर्जुन ने बराबर तेजी से भागने वाले दुष्टों को बलात् मारकर और गायें ब्राह्मण को देकर पत्नी के कारण पैदा होने वाले शर्त के अनुसार प्रवासविशेष के लिये तीर्थों की ओर प्रस्थान किया।

व्याख्या—पाण्डवों में यह शर्त कि पाँचों से यदि कोई द्रौपदी के साथ शयन-कक्ष में हो और तब कोई प्रवेश करे तो उसे एक वर्ष तक सन्यासियों का बाना धारण कर तीर्थों के लिये जाना पड़ेगा—वास्तव में भाईयों में एकता बनाये रखने के लिये ही रखी गयी थी। इस शर्त के जन्म का कारण वधू द्रौपदी ही थी अतः इसके लिये 'दारसुवा समयेन' विशेषण दिया गया है। अर्जुन ने परोपकार के कारण अपने भावी कष्टों की तनिक भी परवाह न की जो उन जैसे महापुरुषों के लिये उचित ही था॥ २१॥

तं सितगङ्गाद्वारा नुदन्तमागांसि सम्यगङ्गाद्वारा।
नागसुता पातालं पार्थमनैषीदतर्कितापातालम्॥ २२॥

अनुवाद—जल के द्वारा सम्यक् रूपेण अपने अंगों से पापों को दूर करते

हुए उस अर्जुन को गंगा के द्वार पर रहने वाली, तथा अनायास ही आने वाली नागपुत्री (उलूपी) पाताल (लोक) ले गयी।

व्याख्या—अर्जुन जब जल से प्रायश्चित्त रूप में अपने पापों को अंगों से धो रहा था उसी समय नागकन्या उलूपी उसके पास आ गयी और उसे पाताल लोक ले गयी। यह कथा अर्जुन की तीर्थ-यात्रा-वर्णन में महाभारत के आदिपर्व में आयी हुई है। इससे अर्जुन का एक पुत्र हुआ जिसका वर्णन आगे श्लोक में आयेगा॥ २२॥

स च रेमे कामनया बीभत्सुस्तत्र रात्रिमेकामनया।
अहिसुतयेरावन्तं सुतमाप च यशोवृद्धयेऽरावन्तम्॥ २३॥

अनुवाद—उस बीभत्सु (अर्जुन) ने स्वेच्छा से एक रात्रि को इस (नागकन्या) के साथ रमण किया तथा यशोवृद्धि के लिये शत्रुओं के लिये नाशरूप (अरावन्त) 'इरावन्त' (नामक) पुत्र प्राप्त किया।

व्याख्या—अर्जुन ने पाताल में उलूपी के साथ निवास करते हुए एक रात्रि काम के वशीभूत होकर उसके साथ संभोग किया परिणामतः अपने जैसा एक पुत्र की उत्पत्ति हुई जिसका नाम 'इरावन्त' था और जो शत्रुओं के लिये विनाशकारी था॥ २३॥

टिप्पणी—'एकां रात्रिं' पद काल की अवधि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं अतः 'कालभावाध्वदेशेभ्यो द्वितीया'—इस सूत्र से उनमें द्वितीया का प्रयोग किया गया है॥ २३॥

स हि मकलत्लमाचक्रे प्रदक्षिणमृक्षवीरलक्ष्मा चक्रे।
पश्यन्नलिनीरजिनीराश्रमकुल्या नदीश्च नलिनीरजिनी॥ २४॥

अनुवाद—इसके बाद अर्जुन ने (ऋक्षवीरलक्ष्मा) जो मृग-चर्म धारण किये हुए था (अजिनी) सुगन्धि के कारण भौंरों से युक्त कमलों वाली तथा तिनकों से पूर्ण आश्रम की छोटी-बड़ी नदियों को देखते हुए सारी पृथ्वी पर प्रदक्षिणा की।

व्याख्या—अर्जुन के लिये महाकवि वासुदेव ने इस श्लोक में एक अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग किया है—ऋक्षवीरलक्ष्मा—जिसका अर्थ है हनुमान का चिह्न जिसका ध्वजा में है—ऋक्षवीरो हनुमान् लक्ष्म ध्वजे यस्य सोऽर्जुनः। इसके अतिरिक्त अर्जुन के लिये जो 'अजिनी' विशेषण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि वे 'स शरदमेकां सनुतां मतिनामवलम्ब्य धृतिमेकान्त-नुताम्'—के अनुसार तपस्वियों का सा जीवन बिताकर अपनी गलती का प्रायश्चित्त कर रहे थे॥ २४॥

टिप्पणी—कवि ने 'नदिनी' के स्थान पर यमकालंकार के विधान को दृष्टि में रखकर 'नलिनी' का प्रयोग किया है। पर यह कोई दोष नहीं क्योंकि काव्यों में व, ब और ल, ड, र में कोई भेद नहीं होता अतः उसका अर्थ नद-तृणविशेष से पूर्ण नदी ही किया जायेगा ॥ २४ ॥

स नगरमरिचक्रान्तं पाण्ड्यपतेः क्रमुकखण्डमरिचक्रान्तम् ।
प्राप्य विचित्राङ्गदया तत्सुतया रतिमवाप चित्राङ्गदया ॥ २५ ॥

अनुवाद—पूग-खण्ड (सुपारी) तथा मिर्चों के पौधे से भरे हुए तथा शत्रु समूह के नाशक, पाण्ड्य देश के राजा के नगर (मणिपुर) में पहुँच कर उसने (अर्जुन) विचित्र अंगदों (भुजबन्धों) को धारण करने वाली चित्राङ्गदा नाम की उसकी पुत्री से सुख प्राप्त किया।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में राजा पाण्ड्य के प्रताप का प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है। उनकी नगरी 'अरिचक्रान्त' थी अर्थात् शत्रु-समूह उसे कभी घेर नहीं सकते थे बल्कि वहाँ पर जाते ही उनका अन्त हो जाता था। उनका यह नगर विचित्र पौधों से व्याप्त था। उनकी पुत्री का नाम चित्राङ्गदा था जो अत्यन्त सुन्दरी थी। अर्जुन को उससे महान् सुख प्राप्त हुआ ॥ २५ ॥

दृष्टमहासह्यागस्तीर्थे प्रविशोध्य शत्रुहा स ह्यागः ।
विप्रसभासन्नामप्रवणस्तीर्थं गतः प्रभास नाम ॥ २६ ॥

अनुवाद—महान् सह्यपर्वत को देख चुकने के बाद वह शत्रुघाती अर्जुन अपने पाप को तीर्थ में शुद्ध करके विप्र-सभा में सन्नाम (शुभ नाम) के प्रति भक्तिमान् होकर अर्थात् ब्राह्मणों की कीर्ति का श्रवण करता हुआ 'प्रभास' नामक तीर्थ को गया।

व्याख्या—अर्जुन के लिये 'शत्रुहा' विशेषण दिया गया है जो कि पूर्व घटनाओं के प्रकाश में अपनी यथार्थता की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त अर्जुन विप्रों की सभा में सन्नाम (कीर्तनादि) के प्रति बड़ा ही प्रवण और भक्तियुक्त था। अपने सारे पापों को तीर्थ में (एक वर्षकालीन) धोकर वह प्रभास नामक नगर में पहुँचा ॥ २६ ॥

तत्र सुभद्रां गदतः श्रुत्वा सर्वाङ्गनासु भद्रां गदतः ।
प्राप वशं कामस्य व्यथित पुरो दुर्गवावशङ्कामस्य ॥ २७ ॥

अनुवाद—वहाँ पर (प्रभास नगर) बात करते हुए 'गद' नामक यादव से 'सुभद्रा' (श्रीकृष्ण की बहिन) को सारी अङ्गनाओं में सुन्दर और श्रेष्ठ सुनकर वह (अर्जुन) काम के वशीभूत हो गया। उस अर्जुन के सामने

उसने (गद) संकट में (समुद्राहरण से उत्पन्न होने वाले) आशङ्का व्यक्त की। अर्थात् तुम सुख से सुभद्रा का हरण कर सकते हो इस प्रकार कहकर उसने अर्जुन की संकट के प्रति शंका को दूर किया।

व्याख्या—गद नामक एक यादव ने अर्जुन के समक्ष सुभद्रा का वर्णन किया जिससे वह काम के वशीभूत हो गया। 'पर यदि वह अपनी इच्छापूर्ति के लिये उसका हरण करेगा तो शायद संकट उपस्थित हो जायेगा' उसकी इस शंका को भी गद ने दूर कर दिया और कहा कि तुम उसे आसानी से ले जा सकते हो। अर्जुन यद्यपि वीर था, परोपकारी था पर उसके अनेक गुणों के बीच पाठकों को उसकी यह नैतिक चरित्र की दुर्बलता भी स्पष्ट रूप से दिख जाती है। वह जिस भी सुन्दर कन्या को देखता है, काम के वशीभूत हो जाता है। कहा नहीं जा सकता कि उसकी इस प्रकार की दशा ईश्वर की प्रेरणा से ही होती है अथवा स्वयं की कमज़ोरी से ॥ २७ ॥

भूत्वा कन्दर्पयतिः स्तनति घनौघे च कामुकं दर्पयति।
श्यामलमस्मरदलितः स हि वैकुण्ठं कुरूत्तम-स्मरदलितः ॥ २८ ॥

अनुवाद—काम की अभिलाषा करने वाले अर्जुन (कुरूत्तम) ने, कामुकों को सकाम बना देने वाले (दर्पयति) घनसमूह के शब्द करने पर, काम से व्यथित होकर (स्मरदलितः) भ्रमर के समान श्यामल (रंग वाले) श्रीकृष्ण (वैकुण्ठ) को स्मरण किया।

व्याख्या—मेघों का गरजना कामुकों के काम को उद्दीप्त करने वाला होता है यह सर्वजनीन सिद्ध है। अत: उसका शब्द सुनकर अर्जुन भी काम-विह्वल होकर श्रीकृष्ण को याद करने लगे ॥ २८ ॥

सोऽपि सहासमुपायादमुष्य सतुष्य कसहा समुपायात्।
तदनु समस्तोभाभ्या निजचेष्टा निजगदे समस्तोभाभ्याम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—वह कंसघाती श्रीकृष्ण भी उसके उपाय से सन्तुष्ट होकर मुस्कराते हुए इसके पास आ पहुँचे। इसके बाद समान रूप से प्रसन्न दोनों ने (श्रीकृष्ण और अर्जुन) अपनी सारी चेष्टाएँ कहीं।

व्याख्या—पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण और अर्जुन नरनारायण रूप से विद्यमान थे ऐसी कथा महाभारत में आयी हुई है। दोनों आपस में मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपने पूर्व जन्म की नरनारायणात्मक तथा वर्तमान में सुभद्राहरण के उपाय रूप चेष्टाओं का वर्णन करने लगे। अर्थात् सुभद्रा को किस युक्ति से प्राप्त किया जाये इसका विचार करने लगे ॥ २९ ॥

नरनारायणदेहौ पुराणपुरुषौ नृणां परायणदेहौ।
रैवतक पादाभ्यामपुनीतामवनतानुकम्पादाभ्याम् ॥ ३०॥

अनुवाद—पुरुषों को परम गति प्रदान करने अर्थात् मुक्ति देने की इच्छा रखने वाले (परायणदेहौ) वे नरनारायण देहरूप पुराण-पुरुषों (अर्जुन और कृष्ण) ने भक्तों पर कृपा करने वाले अपने पैरों से रैवतक पर्वत को पवित्र किया ॥ ३० ॥

व्याख्या—दोनों ही अर्थात् अर्जुन और कृष्ण बात करने के पश्चात् रैवतक पर्वत पर पहुँचे जिनके चरणों का स्पर्श करने से भक्तों का कल्याण होता है ॥ ३० ॥

टिप्पणी—'परायणदेहौ' का अर्थ मुक्ति देने की चेष्टा करने वाले किया गया है जो कि बहुत घुमा-फिरा कर है—परं च तत् अयनं गतिः परायणं मुक्ति ददाति तादृशी ईहा चेष्टा ययोः तौ तादृशौ परायणदेहौ ॥ ३० ॥

अथ बलभद्रमुखानां यदुवृषभाणां मतेन भद्रमुखानाम्।
यादवकन्यायोगाद्भव्य भवन स भिक्षुकन्यायोऽगात् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त यादवों में श्रेष्ठ, सुन्दर मुख वाले बलराम आदि की सलाह से भिक्षुक का वेष धारण किये हुए अर्जुन यादव-कन्या सुभद्रा को प्राप्त करने के लिये प्रशंसनीय भवन में गया (प्रवेश किया)।

व्याख्या—बलभद्र इत्यादि ने सलाह करके उसे भिक्षुक के वेष से सुभद्रा के घर जाने को कहा। 'भिक्षुकन्याय' का अर्थ भिक्षुक की रीति या भिक्षुक के वेष है। अर्जुन ने भिक्षुक का वेष इस कारण धारण किया जिससे कि वह उससे अपने को छिपा न सके और दोनों ही एक दूसरे के विचारों से अच्छी प्रकार परिचित हो सकें। सम्भवतः यह श्लोक इस प्रकरण में अधिक है क्योंकि इसका अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं है ॥ ३१ ॥

यदुषु सबलदेवेषु व्यग्रेष्वन्यत्र तुलितबलदेवेषु।
मुदितमना भोजगृहे पाणिमुपेतपद्मनाभो जगृहे ॥ ३२ ॥

अनुवाद—देवताओं के समान बलधारी बलदेव सहित यादवों के अन्यत्र व्यग्र हो जाने पर प्रसन्न मन से अर्जुन ने श्रीकृष्ण (पद्मनाभ) के साथ यदुगृह में सुभद्रा का पाणिग्रहण किया। अर्थात् उसके साथ विवाह किया ॥ ३२ ॥

अगमदथारूढेन प्रियया पार्थस्तयैव चारूढेन।
तत्पुरमुद्द्वेष प्रक्षोभ्य रथेन तूर्णमुदद्द्वेषः ॥ ३३ ॥

अनुवाद—भिक्षुक का वेश धारण किये हुये अर्जुन यदुओं के मन में द्वेष उत्पन्न करके, उस गाँव को प्रक्षुब्ध करके अपनी प्रिया से आरूढ

रथ से शीघ्र ही चल पड़ा अर्थात् उसे रथ पर बैठा कर उस नगर से वह निकल पड़ा।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन का सुभद्रा के साथ अपहरण—विवाह का वर्णन किया गया है। अपने नगर से चलने पर उसने अन्य यदुओं के मन में द्वेष उत्पन्न कर दिया॥ ३३॥

तदनु मदभ्रमयन्तस्त्रेलु कलहाय चलमदभ्रमवन्तः।
प्रहिमशास्यां भोजा बिभ्राणा रोषकर्कशास्याम्भोजाः॥ ३४॥

अनुवाद—इसके पश्चात् अपनी बुद्धि के कारण प्रशंसनीय, मद के कारण भ्रमयुक्त तथा रोष के कारण कर्कश मुख-कमल वाले यादव बहुत सी सेना को लेकर कलह के लिये चल पड़े।

व्याख्या—सुभद्रा को लेकर अर्जुन के भाग जाने पर यादव अत्यन्त क्रुद्ध हुए और सेना को लेकर युद्ध के लिये चल पड़े॥ ३४॥

टिप्पणी—'रोषकर्कशास्याम्भोजा' इस पद में मुख पर कमलों का आरोप करने के कारण 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' लक्षणानुसार रूपकालङ्कार है॥ ३४॥

न्यरुणत्कोपायस्तान्यदुवीराञ्शौरिरकटुकोपायस्तान्।
वचनैस्तरसा मधुरैस्स चानुजगाम चारुतरसामधुरैः॥ ३५॥

अनुवाद—सामरूप उपाय को धारण करने वाले श्रीकृष्ण (शौरिः) ने सुन्दर और शान्ति के कारणभूत अपने मधुर वचनों से कोप के कारण खिन्न उन यादवों को रोका। और स्वयं अर्जुन का अनुसरण किया।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने अपनी बुद्धि से सुन्दर-मधुर बातें करके यादवों को रोका और स्वयं अर्जुन के पीछे २ चलने लगे॥ ३५॥

सोऽपि च मानी चरणश्रितप्रियावाक्यकृतशमानीचरणः।
परिसरमाप पुरस्य स्वस्य नरा ददृशुरङ्गमापपुरस्य॥ ३६॥

अनुवाद—वह स्वाभिमानी (अर्जुन) भी चरणों में बैठी हुई सुभद्रा के वाक्य से शान्त किया जाता हुआ यादवों के साथ महान् रण करके (अर्थात् यादवों के साथ महान् युद्ध करके) अपने नगर के (हस्तिनापुर) सीमाभूमि के पास आ गया। फिर नगर के लोगों ने अपनी आँखों से इसके (अर्जुन के) अङ्गों को (उत्कण्ठावश) देखा।

व्याख्या—यादवों के साथ युद्ध करते हुए अर्जुन अपने राज्य की सीमा पर आ गया। उसके एक वर्ष बाद तीर्थ से लौटने के कारण वहाँ की प्रजा उसे सतृष्ण आँखों से देखने लगी॥ ३६॥

अथ दधुरामोदं ते पार्था. प्राप्तेऽर्जुनेऽभिरामोदन्ते।
वध्वा मानिन्या ते कुन्ती कृष्णा च तोषमानिन्याते ॥ ३७ ॥

अनुवाद—मनोहर साधु (वदन्त) अर्जुन के आने पर वे पाण्डव हर्षित हुए। और मानिनी वधू के द्वारा कुन्ती और कृष्णा (द्रौपदी) ने सन्तोष प्राप्त किया।

व्याख्या—साधुवेश में अपने भाई अर्जुन को वापस आया देखकर पाण्डवों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था दूसरी ओर वधू सुभद्रा को देखकर माता कुन्ती और द्रौपदी भी आनन्दित हुई ॥ ३७ ॥

महिततमारम्भा सा पितृसदृशमजीजनत्कुमार भासा।
गुरुमहमन्युं नामप्रदायिनं कुरुकुलेऽभिमन्युं नाम ॥ ३८ ॥

अनुवाद—अत्यन्त शुभ कर्मों वाली उस सुभद्रा ने कुरुवंश में 'अभिमन्यु' नामक कुमार को जन्म दिया। जो तेज में अपने पिता (अर्जुन) के समान था, महान् उत्सवों से पूर्ण यज्ञ को करने वाला था, तथा नाम प्रदान करने वाला था (अर्थात् वंश को यश प्रदान करने वाला था)।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक अभिमन्यु के गुणों पर प्रकाश डालता है। वह तेजस्वी, यज्ञप्रेमी और यशस्वी था ॥ ३८ ॥

अथ रमितो यामविना कृष्णस्तत्रैव हलभृतोवास विना।
प्रीतिरसेनाहानि स्वैरं कतिचित्कनारिसेनाहानिः ॥ ३९ ॥

अनुवाद—फिर शत्रु-सेना को नष्ट करने वाले कृष्ण ने प्रेम-रस से विचकर बलभद्र के बिना वहीं (हस्तिनापुर में) कुछ दिन स्वच्छन्दतापूर्वक निवास किया।

व्याख्या—अर्जुन के प्रेम को देखकर श्रीकृष्ण उसी में डूब गये और कुछ दिनों के लिये हस्तिनापुर में ही निवास किया। श्रीकृष्ण की अर्जुन के साथ मित्रता यहीं से दृढ़ होनी प्रारंभ हो गयी ॥ ३९ ॥

सस्नेहरिरसेन ध्रियमाणभुजोऽर्जुनेन हरिरंसेन।
अगमच्च क्रीडार्थे यमुनां प्रति बन्दिन' स चक्रीडार्थे ॥ ४० ॥

अनुवाद—स्नेहपूर्वक घूमने की इच्छा रखने वाले अर्जुन से पकड़ी गयी भुजा वाले चक्रधारी श्रीकृष्ण थोड़ा क्रीडा करने के लिये यमुना की ओर गये। यहाँ पर चारणों ने विहार करने वाले श्रीकृष्ण की स्तुति की।

व्याख्या—घूमने के इच्छुक अर्जुन ने श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक भुजा पकड़ ली। श्रीकृष्ण भी उसके निश्छल प्रेम को देखकर जलक्रीडा हेतु यमुना की ओर चल पड़े।

यहाँ पर 'ध्रियमाणभुज:' का अर्थ कुछ टीकाकारों द्वारा 'सुगन्धमानभुज' भी किया गया है क्योंकि 'घ्रा' धातु गति और गन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होती है ॥ ४० ॥

भुवनविभावयमाने वनविहरणविभ्रमं विभावयमाने।
ऋतवो माधवमासं निधाय पुरतस्ततोऽभिमाधवमासन् ॥ ४१ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त संसार के परमात्मा श्रीकृष्ण के वन-विहार की इच्छा से चलने पर ऋतुएँ वसन्तर्तु (माधवमास) को आगे करके (क्रमशः) श्रीकृष्ण के निकट हुईं (अर्थात् वसन्तर्तु आयी)।

व्याख्या—कवि वासुदेव ऋतुवर्णन प्रारम्भ करते हुए सबसे पहले वसन्त का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं। ऋतुएँ वसन्तर्तु को आगे करके श्रीकृष्ण के समीप हो लीं अर्थात् वसन्त का आगमन हुआ ॥ ४१ ॥

मुकुलं संतेने चम्पकतरुणागते वसन्तेऽनेयः।
दीप इव स्वच्छशिखः स बभौ लोकश्च स्वच्छविवस्वत्स्वच्छशिखः ॥४२॥

अनुवाद—वसन्तर्तु का आगमन होने पर चम्पक के वृक्षों ने स्वच्छ शिखा वाले दीपक के समान अमनोहारी मुकुलों को विकसित किया (अर्थात् चम्पक पुष्प विकसित हुए) और (ऊर्ध्व) लोक भी स्वच्छ सूर्य, शशी और आकाश वाला हो गया।

व्याख्या—वसन्त के आने पर चम्पक वृक्षों में वे कलियाँ खिलने लगीं जो पहले इष्ट न थीं और मन को लुभाने वाली न थीं। अब ये पुष्प रूप में विकसित हुईं सब ये साफ लौ वाली दिये के समान सुन्दर लगने लगीं। वसन्तर्तु में आकाश भी स्वच्छ रहने लगा ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—'दीप इव स्वच्छशिख' में उपमालङ्कार की स्पष्ट योजना की गयी है ॥ ४२ ॥

पथिकजनानां कुरवान्कुर्वन्कुरवो बभूव नानाङ्कुरवान्।
प्रेक्ष्य रुचं चूतस्य स्तबकेषु पिकश्चकार चञ्चू तस्य ॥ ४३ ॥

अनुवाद—(वसन्तर्तु में) कुरबक के वृक्ष (विरही) पथिकजनों में दीनालाप उत्पन्न करते हुए अनेक प्रकार के अंकुरों से युक्त हो गये। तथा आम की शोभा को देखकर आम के गुच्छों में कोयलें चोंच मारने लगीं।

व्याख्या—वसन्त ऋतु में जब कुरबक के वृक्ष अंकुरित होने लगे तो उन्हें देखकर विरही पथिक विरह में दीनालाप करने लगे तथा आम के गुच्छों को देखकर उसके रस की लोभी कोकिलाएँ उनमें चोंच मारने लगीं।

उपर्युक्त श्लोकों के द्वारा कवि ने जिस प्रकृति के परिवर्तन का चित्रण

किया है उससे कवि की सूक्ष्म दर्शन-शक्ति का परिचय सहज ही हो जाता है। आगे श्लोकों में प्रत्येक ऋतु के आने पर प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसका वर्णन कवि अपनी सूक्ष्म-प्रतिभा या निरीक्षण शक्ति से करेगा ॥४३॥

भृङ्गचमूपरिवारस्तस्वाराङ्गारवत्किमूपरि वारः।
नवनलिनानि वसन्तः प्लुष्टा ह्यमुना प्रिया विना निवसन्तः॥ ४४ ॥

अनुवाद—भ्रमर-पक्ति रूप परिवार वाले वसन्त ऋतु ने जल के ऊपर अंगार के समान नवीन पद्मों को बिखेर दिया। प्रिया के बिना रहने वाले विरही इन कमलों के कारण दग्ध हो गये।

व्याख्या—वसन्तऋतु में भौंरे सुगन्धि के कारण फूलों पर बैठने लगते हैं। यही वसन्तऋतु का परिवार है। इस ऋतु में जल पर पद्म खिलने लगे, ये पद्म अगार के समान लाल रग के थे अत. इन्हें देखकर विरही जन मानों दग्ध हो गये। क्योंकि सयोग-दशा में जो पदार्थ प्रेमियों के मन को प्रसन्न करने वाले होते हैं वियोग काल में वे ही पदार्थ प्रेमियों को कष्ट पहुँचाने वाले हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

स्फुटितं च पलाशेन भ्रान्त भ्रमरेण चैव चपलाशेन।
हसितमशोकप्रसवै पतित पान्थाश्रुमिश्र शोकप्रसवैः॥ ४५ ॥

अनुवाद—राक्षस के समान पलाश-पुष्प खिलने लगे और चंचल स्पृहा वाले भौंरे चचल आशाओं वाले दुष्टों की तरह (उन पर) घूमने लगे। अशोक वृक्ष के फूल मानों (फूलकर पथिकों के प्रति) हँसने लगे तथा (वियोग के कारण) पथिकों के शोकजनित अश्रु गिरने लगे।

व्याख्या—अशोक के वृक्ष के फूल श्वेत होते हैं अतः वे मानों विकसित होकर विरही पथिकों की हँसी उड़ा रहे थे। क्योंकि हास का रंग साहित्य में श्वेत माना जाता है। शोक के कारण इन दिनों पथिकों की आँखों से आँसू गिरने लगे ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—'पलाश' 'भ्रमर' और 'चपलाश' पदों के श्लेष के कारण दो अर्थ किये गये हैं जिसके कारण प्रथम पक्ति में उपमालंकार भी है।

१. पलाशेन पलाशपुष्पेण। अथवा पलमश्नातीति पलाशो राक्षसः तेन पलाशेनेव पलाशेन पुष्पेण।

२. चपलाशेन चपला आशा स्पृहा यस्य तादृशेन भ्रमरेण अथवा चपलाशेन चपला आशा स्पृहा यस्य तादृशेन भ्रमरेण भ्रमं रातीति भ्रमरः खलः तेन ॥४५॥

स्वतलोरसि तरुगलितः कच्छभुवा कुसुमरेणुरसितरुगलितः।
चारुरसन्तापितया दध्रे पुलकोऽमुयेव सतापतया॥ ४६ ॥

अनुवाद—सुन्दर वसन्त में रहने वाली संतुष्ट वनभूमि ने अपने वक्षस्थल पर वृक्ष से गिरने वाली, भ्रमरों के समान श्याम पुष्पधूलि को पुलक के समान धारण किया।

व्याख्या—वसन्तऋतु में वनभूमि वृक्षों से गिरने वाली पुष्प-धूलि से भर गयी मानों उसके वक्षस्थल पर रोमाञ्च उत्पन्न हो आया हो। उपमा के साथ ही साथ यहाँ पर 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः' लक्षण के अनुसार समासोक्ति अलंकार की भी ध्वनि निकलती है। जिस प्रकार अपने नायक के पास बैठने वाली सन्तुष्ट नायिका के वक्षस्थल पर रोमाञ्च उत्पन्न होने लगता है उसी प्रकार वसन्त रूप नायक के पास रहने वाली सजी-धजी वन-भूमि के वक्षस्थल पर मानों पुलक उत्पन्न हो गया ॥ ४६ ॥

भृङ्गरुतारावं तं तपन्तमिव दन्तधवलतारावन्तम्।
नरकभिदातपसेवानिरतमपश्यच्छुचिं तदातपसेवा ॥ ४७ ॥

अनुवाद—इसके बाद (वसन्तऋतु के बाद) नरकासुर वधी श्रीकृष्ण ने ग्रीष्म को, भौंरों के शब्द से युक्त, लोक को सन्तप्त करने वाले, हाथी के दाँत के समान श्वेत तारागणों से परिपूर्ण और गर्मी के सेवन में निरत किसी पवित्र तपस्वी के समान देखा जो भौंरों के समान (स्वाध्याय में रत रहने के कारण) शब्द-युक्त था, तपस्या कर रहा था, श्वेत तारों के समान दाँतों वाला था तथा आतप (धूप) सेवन में लगा हुआ था।

व्याख्या—उपर्युक्त श्लोक में पदों में श्लेषालंकार होने के कारण दो अर्थ हुए हैं। प्रथम तपस्वी के पक्ष में दूसरा ग्रीष्मऋतु के पक्ष में ॥ ४७ ॥

न प्रसवे शैरीषे वियुक्तिरलिभिः कृतप्रवेशैरीषे।
सुमनःसेवनमन्तर्गत्वा बहु मन्वते रसेऽस्यनमन्तः ॥ ४८ ॥

अनुवाद—शिरीष के पुष्पों में बैठे हुए भौंरे (ग्रीष्मऋतु में) उनसे अलग नहीं होना चाहते थे। क्योंकि रसास्वाद में लगे हुए रसिक अन्दर घुसकर सुमन सेवन करने की ही इच्छा रखते हैं जिस प्रकार रसिक पुरुष मन से हृदयंगम करके पण्डितों का सेवन करना अच्छी प्रकार जानते हैं।

व्याख्या—गर्मी के दिनों में ठंडक के कारण भौंरे शिरीष के फूलों को त्यागना नहीं चाहते और उन्हीं के अन्दर बैठे रहते हैं। इस बात की पुष्टि कवि ने यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार के उदाहरण से की है क्योंकि जो रसिक जन होते हैं वे तो अन्दर प्रवेश कर ही सुमन-सेवन (पुष्प या पण्डित) करते हैं।

इस श्लोक में 'सुमन' पद के दो अर्थ श्लेष के द्वारा किये जाते हैं।

पुष्प का अर्थ तो वह्निष्ट है ही साथ ही साथ इसका अर्थ सुन्दर मन वाले पण्डित-जन भी किया जाता है ॥ ४८ ॥

अथ भृङ्गानवमरुतः स्फीताः प्रावृड्घनाग्रगा नवमरुतः।
आयास पदवीजं नियम्य शौरेः समाप्यसपदवीजन् ॥ ४९ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् (ग्रीष्मऋतु के बाद) वर्षाकालीन बादलों के आगे चलने वाली तथा भौंरों से अधिक शोर मचाने वाली नवीन वायु फैलने लगी तथा (वह वायु) वन-विहरण से उत्पन्न होने वाले श्रीकृष्ण के कष्ट को दूर करके बड़े ज़ोर-ज़ोर से बहने लगीं।

व्याख्या—इस श्लोक के साथ अब महाकवि वर्षाऋतु का वर्णन प्रारंभ करते हैं। बादलों के घिरने के पहले वायु चलती है जिसका शब्द भौंरों से भी अधिक है जो गर्मियों में गुञ्जार किया करते हैं। ऐसी सुन्दर एवं मनोहर वायु ने भगवान् श्री कृष्ण की सारी थकान दूर कर दीं ॥ ४९ ॥

प्रीणितमानवकोटेरुदये मेघस्य मोदमानबकोटे।
अभवत्सन्ना हसावलिद्रधौ च गमनसनाह सा ॥ ५० ॥

अनुवाद—मानव-जाति को सन्तुष्ट करने वाले तथा बगुलों (बकोट) को प्रसन्न करने वाले (वर्षाऋतु में) मेघों के उठने पर हंसपंक्ति को कष्ट होने लगा तथा वह (मानसरोवर की ओर) जाने की तय्यारी करने लगी।

व्याख्या—वर्षाकाल में यद्यपि सारे मनुष्य को गर्मी के बाद वर्षा-प्राप्ति के कारण आनन्द होता है और बगुले भी प्रसन्नता के कारण बादल में पंक्ति बाँधकर घूमने लग जाते हैं पर हंस दुःखित होने लगते हैं। नदियों में अधिक बहाव आ जाने के कारण वे वहाँ नहीं रह सकते अतः वे मानसरोवर जाने की तय्यारी करने लग जाते हैं। इस प्रकार यह वर्षाकाल कुछ के लिये यदि वरदान रूप सिद्ध होता है तो कुछ के लिये कष्टसाध्य होता है ॥ ५० ॥

सकलजगत्याधारा न समा मेघस्य पुण्यगत्या धारा।
अन्यास्वादापेते चातकवदने यया जवादापेते ॥ ५१ ॥

अनुवाद—सारी पृथिवी का आधार मेघ की जलधाराएँ पुण्यगति के समान नहीं होतीं अर्थात् जलधाराओं के समान कोई भी पुण्यगति उतनी अद्भुत नहीं जो कि अन्य नदियों के स्वाद को त्याग देने वाले चातक के मुख में वेग से गिरी।

व्याख्या—मेघों का जलसंपात पृथिवी का आधार है। बहुत समय से संतप्त पृथिवी की प्यास इन दिनों तृप्त होती है। कृषकों का परिश्रम सफल होता है अतः इसके समान अद्भुत कोई पुण्यगति नहीं। इसके बिना जगती

पर ग्राहि ग्राहि मच उठती है। इसकी अद्भुतता का वर्णन कवि ने श्लोक की दूसरी पंक्ति में किया है जो चातक अन्य नदियों के जल का त्याग कर विह्वल होकर इसकी प्राप्ति के लिये रट लगाये रहते हैं उनके मुख में जल की बूँदें गिरकर उनके प्राणों की रक्षा करती हैं ॥ ५१ ॥

विदधाना ध्वनिमलिना न केतकी राक्षसी घनाध्वनि मलिना।
पथिकैरार्तवदशनैः स्फुरिता सेहे पतद्भिरार्तवदशनैः ॥ ५२ ॥

अनुवाद—शीघ्र गिरने वाले ऋतुकालीन पुष्परूपी दाँतों से स्फुरित होती हुई तथा भौंरों की ध्वनि से गुञ्जायमान मलिन केतकी वृक्ष राक्षसी के के समान वन के मार्ग में पथिकों से न सहे जा सके।

व्याख्या—वर्षाकाल में केतकी के पुष्प और वृक्ष दोनों ही विरही पथिकों को कष्ट पहुँचाने वाले होते हैं। 'आर्तवदशनैः' पद में ऋतुकालीन पुष्पों पर दशनों (दाँतों) का आरोप होने से रूपकालङ्कार है। इसके अतिरिक्त केतकी को राक्षसी कहकर कवि ने उपमालङ्कार की भी योजना इस श्लोक में की है ॥ ५२ ॥

घटितनिकेतकवाटः कामिजनैः स्फुटितसुरभिकेतकवाटः।
जलदैः सकलापिहितः कालो व्याजृम्भते स्म स कलापिहितः ॥५३॥

अनुवाद—मयूरों का हितकारी वह वर्षाकाल चारों ओर अच्छी प्रकार से बढ़ने लगा जिसमें (काल में) कामी पुरुषों ने अपने घर के दरवाजों को बन्द कर लिया, केतक-पुष्पों की सुगन्धि बिखरने लगी और सर्वत्र बादल छा गये।

व्याख्या—वर्षाकाल में कहीं भी सञ्चरण सुकर न होने के कारण कामी पुरुष घर पर ही कपाट बन्द कर वर्षा का आनन्द लाभ करते हैं। इसके अतिरिक्त यह समय भौंरों के लिये विशेषरूपेण आनन्ददायी होता है। वे उमड़-घुमड़ कर आये हुए बादलों को देखकर अपने पंख फैलाकर प्रसन्नतापूर्वक जंगलों में नाचने लग जाते हैं ॥ ५३ ॥

अथ नवकोकनदेन क्षितिः क्षणात्कुररहंसकोकनदेन।
रममाणविशेषेण प्राथत योषेव भूषणविशेषेण ॥ ५४ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर थोड़े समय में ही कुरर (पक्षि विशेष), हंस और चक्रवाक (कोक) से पूर्ण जलाशय, नवीन खिले हुए लाल कमलों और विचरण करते हुए पक्षी और जलचरों से व्याप्त धरती ऐसी शोभित होने लगी जैसे कि आभूषणों से सुसज्जित कोई स्त्री।

व्याख्या—अब इस श्लोक से कवि ने शारद्वर्णन प्रारंभ किया है। शरद् ऋतु में ही नदियों की बाढ़ समाप्त हो जाने पर उपर्युक्त पदार्थ पृथिवी पर आते हैं। प्रकृति रूप नायिका शरद् ऋतु में हंस, चक्रवाक, कमल और पक्षी इत्यादि से वैसी ही सुन्दर लगती है जैसी आभूषण पहने हुए कोई रमणी। पृथिवी के ये ही आभूषण हैं ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—'रममाणविशेषेण' पद के दो अर्थ टीकाकार ने किये हैं—

१. रममाणविशेषेण रममाणा· वीना पूर्वोद्दिष्टानां पक्षिणां शेषा· पक्षिणो यस्मिन् स तादृशेन ।

२. रममाणाः वय· पक्षिणः शेषा· जलचरा· यत्र च स तादृशेन ॥ ५४ ॥

विरहिणमार व्यसनं भृङ्गैश्च बभूव भुवनमारव्यसनम् ।
सुतरामभ्रमदभ्रं बभ्राजे भ्रमरवर्णमभ्रमदमभ्रम् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—(शरद् ऋतु में) विरही पुरुषों को वियोगजनित दु:ख होने लगा तथा भौंरों को लोकमारण का व्यसन हो गया अर्थात् अपनी गुंजार से वे जगत् को व्याकुल करने लगे। (शरद् ऋतु में) आकाश भौंरों के समान नील वर्ण वाले घूमते हुए बादलों से रहित हो गया अर्थात् आकाश स्वच्छ रहने लगा।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने इस भाव को प्रकट करने के लिये कि 'भौंरे अपनी गुंजार से समाज को व्यथित करने लगे' पर्यायोक्त अलंकार का सहारा लिया है जिसका लक्षण है 'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वच' ॥ ५५ ॥

रजनेभुक्ता वलयः स्वगृहे मुनिसत्तकेन मुक्तावलयः ।
रेजुस्तारासार्था न पुरेव पयोधरावतारा· सार्थाः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—शरद् ऋतु में मरीचि आदि सप्तर्षियों ने अपने घरों में जो मुक्तापंक्तियाँ बलि (भूतयज्ञ) के रूप में छोड़ीं वे ही रात्रि के नक्षत्र-समूह के समान सुशोभित हुईं तथा (इस काल में) पहले (वर्षाकाल) के समान मेघावतार सफल न हुए अर्थात् बरस न सके।

व्याख्या—शरद् काल में आकाश में जो नक्षत्र-समूह दिखलाई पड़े उसकी उत्प्रेक्षा कवि मुक्तावलि की बलि से करता है जो सप्तर्षियों ने अपने घर में बिखेरे थे। बलि भी पायसादि के कारण श्वेत होती है और शरद् काल में स्वच्छ आकाश में तारागण भी श्वेत ही होते हैं ॥ ५६ ॥

शशिना सकलकलेन स्फुरितं शालिपु शुकेन सकलकलेन ।
निपतितमापक्वेपु स्मरस्य लद्येपु भङ्गमाप केपुः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—(इस शरद् काल में) चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ विकसित हुआ तथा कलकल शब्द करते हुए तोते पक्षी हुई धान की बालों पर टूटने लगे। *काम का बाण भला कहाँ निशानों पर (लक्ष्यों) से* चूका अर्थात् कामदेव चन्द्रादि के माध्यम से विरही जनों के ऊपर अपने बाणों को चलाने में इस काल में भी नहीं चूका।

व्याख्या—पूर्ण विकसित चन्द्रमा को देखकर तथा हरे-भरे खेतों को देखकर कामी जनों के मन पर काम के बाण चलने ही लगे। उसका बाण कभी निशाने पर पड़ने से चूकता नहीं ॥ ५७ ॥

प्रतिपक्षावश्याय. स्फुटं भनेद्वायुरङ्गनावश्याय।
अकृत मरुत्साहस्य' स्त्रीभर्तुर्यद्वशे निरुत्साहस्य ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हेमन्त ऋतु की वायु ने (साहस्यमरुत्) निरुत्साह पतियों के भी वश में जो स्त्रियों को कर दिया उससे मालूम होता है कि तुषारकणों से युक्त वायु स्त्रियों को वश में करने वाली होती हैं।

व्याख्या—*प्रस्तुत श्लोक में कवि ने हेमन्त ऋतु का वर्णन किया है।* इस काल में जो पति उदासीन थे अर्थात् स्त्रियों के वशीकरण के प्रयास से अनभिज्ञ थे उनके वश में भी स्त्रियाँ हो गयीं। इससे कवि इस गूढोत्प्रेक्षा की कल्पना करता है कि निश्चित ही बर्फ की बूँदों से भीगी यह हेमन्त की वायु *अगनाओं को वश में करने वाली होती हैं। इस ऋतु में अत्यन्त शीत के* कारण स्त्रियाँ मान त्याग कर अपने पतियों का विवश होकर सहारा लेती ही हैं ॥ ५८ ॥

वनभूमौ कुन्देन स्मितेन सादृश्यमापि मौकुन्देन।
देश' कोपल्लवङ्क' प्रियाजनोऽप्यकृत युवसु कोपल्लव कः ॥ ५९ ॥

अनुवाद—इस काल में (शिशिर ऋतु में) वनभूमि पर कुन्द-नामक पुष्पों ने भगवान् श्रीकृष्ण की मुस्कराहट से सादृश्य प्राप्त किया अर्थात् उनकी मुस्कान के समान कुन्द नामक सफेद रंग के फूल जंगल में खिलने लगे। कुत्सित हिमपात से भूमि भरकर ऊँची-नीची हो गयी तथा (इस ऋतु में) किस प्रेमिका ने तरुणों के प्रति तनिक भी क्रोध किया अर्थात् किसी ने नहीं।

व्याख्या—कुन्द एक पुष्प विशेष है जो श्वेत रंग का होता है। इसी कारण उसकी उपमा श्रीकृष्ण की मुस्कान से दी गयी है क्योंकि कवियों में स्मित का रंग भी श्वेत माना गया है। इस काल में कोई भी प्रेमिका अपने तरुण प्रेमी के प्रति मानवती न बन सकी क्योंकि शिशिर ऋतु की शीतल वायु के कारण अपने पतियों से आलिङ्गित रहने के कारण भला मान करने का उन्हें अवसर ही कहाँ ॥ ५९ ॥

अवनितले शीतरुजः कान्तापि भृशा तुषारलेशी तरुज. ।
पवमानस्तापस्य स्थापयितामुद्वियोगिनस्तापस्य ॥ ६० ॥

अनुवाद—शिशिर ऋतु में हिमकण और पुष्पों (की सुगन्धि) को लेकर बहता हुआ वायु पृथिवी पर शीत रोग को प्रदान करने वाला होने पर भी वियोगियों को सन्ताप पहुँचाने वाला हुआ ।

व्याख्या—इस श्लोक में विरोध अलंकार स्पष्ट रूप से झलक रहा है। भला जो शीत रोग का कर्ता है वह तापकर्ता कैसे हो सकता है। इसका परिहार इस प्रकार होगा कि कामोद्रेक करने के कारण शिशिर ऋतु की वायु विरही जनों को सन्ताप प्रदान करती है ॥ ६० ॥

तत्र समुत्कपिके तु स्फुरतीद्दशामृतुगणे समुत्कपिकेतु. ।
स यमस्वसुरभ्यास प्रापत्तीर द्रुमार्तवसुरभ्यासम् ॥ ६१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार उत्कण्ठित कोयलों से पूर्ण ऋतुओं के आने पर हर्षित अर्जुन यम की बहन यमुना नदी के समीपस्थ किनारे पर पहुँचे जो (किनारा) वृक्ष की फूलों की सुगन्धि का स्थान था ।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने सारी ऋतुओं के वर्णन का उपसंहार किया है। अर्जुन का नाम कपि-केतु इस लिये रखा गया है क्योंकि इसकी पताका पर कपि 'हनुमान्' का चिह्न है—कपिः केतौ यस्य सः कपिकेतु ॥६१॥

लोकहितो यातनया यस्या भ्राता विवस्वतो या तनया ।
कल्मषमापावन्या यत्संगत्या विनाशमापावन्या ॥ ६२ ॥

अनुवाद—जिस यमुना का भाई (यम) कष्ट के द्वारा (पातकी) लोगों का हित करने वाला है तथा जो सूर्य की पुत्री है। पवित्र करने वाली जिसकी संगति से अर्थात् यमुना में पृथिवी पर (रहने वाले प्राणियों के) पापों का अन्त हुआ ।

व्याख्या—यमुना अपने परिवार-सहित लोक के उपकार में लगी हुई है। उसका भाई यम प्रायश्चित्तरूप में लोगों का हित करता है सूर्य भी अपने प्रकाश से लोगों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है और यमुना प्राणियों के पापों का नाश करती है ॥ ६२ ॥

मधुरमृङ्गारा सा वीचिकरे धृतसरोजमृङ्गारासा ।
लङ्घितत्रप्राप्याद्यं दातुमनाः कौतुकादिव प्रापाद्यम् ॥ ६३ ॥ (युग्मम्)

अनुवाद—वह यमुना नदी अपने लहरों रूपी हाथों में भौंरों के गुञ्जन से भरे हुए कमलों को लिये हुए सुन्दर भृङ्गार (झारी) के साथ (लहरों से) किनारों को पार कर उत्कण्ठावश पाद्य देने की इच्छा से श्रीकृष्ण (आद्य) के पास तक पहुँची ।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने यमुना के द्वारा कृष्ण की अगवानी करने के लिये अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। वह अपने लहरों रूपी हाथों म कमलों को लिये हुए अर्घ्य दान करने के लिये किनारों को पार करके मानों कृष्ण तक पहुँची। यहाँ पर 'कौतुकादिव' में उत्प्रेक्षा और 'वीचिकरे' में रूपकालंकार दर्शनीय है॥ ६३॥

तस्या कुसुमहितायाः शौरिर्न्नीरे पुरेव कुसुमहितायाः।
विजहाराक्षीणासः समं समूहेन कातराक्षीणां सः॥ ६४॥

अनुवाद—दृढ स्कन्धों वाले श्रीकृष्ण ने भूमि पर अत्यन्त पूज्य तथा फूलों से युक्त यमुना के किनारे पर, पहले के ही समान, चपल नेत्रों वाली स्त्रियों के समूह के साथ विहार किया।

व्याख्या—उन्नत और दृढ स्कन्ध सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार महापुरुष का लक्षण है। पहले के ही समान शौरि (श्रीकृष्ण) ने पुन सुन्दर स्त्रियों के साथ विहार किया॥ ६४॥

टिप्पणी—'साकं सार्धं समं योगेऽपि' वार्तिक के अनुसार समूह पद में 'समं' पद के योग में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है॥ ६४॥

वध्वा घटमानाभ्यामुरोरुहाभ्यां कयापि घटमानाभ्याम्।
जगले रन्तु गतया विजिगीषुभ्या परस्परं तुङ्गतया॥ ६५॥

अनुवाद—वन विहार के लिये जाने वाली कोई नायिका, घट के आकार के समान, आपस में सटे हुए तथा अपनी तुङ्गता के कारण परस्पर जीतने की इच्छा करने वाले पयोधरों के कारण (मार्ग में) गिर पड़ी।

व्याख्या—कवि ने मदविह्वल किसी नायिका के गिरने में जिस कारण की ओर लक्ष्य किया है उससे उसका उद्दाम यौवन प्रकट हो रहा है। उसके उठे हुए स्तन मानों एक दूसरे को जीतने की इच्छा कर रहे थे अथवा युवकों के मन को जीतना चाहते थे॥ ६५॥

चक्रुबाला वल्लया पल्लवसदृशैः करैः प्रवालावल्याः।
भङ्ग हेलावलयस्वनसूचितनिजकरा महेलावलयः॥ ६६॥

अनुवाद—नायिका के समूह ने अपने पल्लव सदृश हाथों से लताओं के पल्लवों को तोड़ा। क्रीडा के कारण होने वाले कङ्कण के शब्द से उनके हाथों की पहचान करादी।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने कविप्रसिद्ध कल्पना को स्थान दिया है। रक्तिमा और कोमलता के कारण नायिकाओं के हाथों में और लताओं के नव किसलयों में कोई भेद न था उनके इस भेद का उन्मीलन उनके हाथों के कङ्कण

के शब्दों से हुआ। इस श्लोक में उन्मीलित अलंकार है जिसका लक्षण है 'तद्रूपाननुहारश्चेद्' ॥ ६६ ॥

कलिकां वर्यां वध्वा स्पर्शरतः कामुकः कचयो वध्वा ।
कान्तिर्नेहेदृश्यामिति संश्लथयन्पुनश्च नेहे दृश्याम् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—किसी कामुक प्रेमीने अपनी वधू के केश-विन्यास में (लगी हुई), सुन्दर कली को, वधू को स्पर्श करने की इच्छा से 'ऐसे केश-विन्यास में यह सुन्दर नहीं लगती 'ऐसा कहकर उसे शिथिल करके उसके केश-विन्यास को दर्शनीय न रहने दिया।

व्याख्या—प्रिय के केश-कलापों से कलिका निकालने का प्रयोजन यह हो सकता है जिससे कि उसकी प्रिया को कोई पराया व्यक्ति आकर्षक होने के कारण न देखे। दूसरे कलिका निकालने का अभिप्राय प्रिया को किसी बहाने से स्पर्श करना भी था ॥ ६७ ॥

विहिते साकम्पे तु स्तबके नासु स्वनेन साकं पेतुः ।
भ्रमरा मध्वस्यन्तः स्त्रीततयस्तैर्नितान्तमध्वस्यन्त ॥ ६८ ॥

अनुवाद—गुच्छे के हिलने पर भौंरे पराग को बिखेरते हुए तथा शब्द करते हुए उन लताओं पर टूट पड़े। उन भौंरों के इस प्रकार सशब्द टूटने (उड़ने या गिरने) से स्त्री-समूह अत्यन्त भय-विह्वल हो उठा।

व्याख्या—इकट्ठा भौंरों के शब्द से स्वभाव-कातर स्त्रियों का भयभीत हो जाना प्रायः साहित्य का विषय रहा है। कवियों में उनका यह सौन्दर्य कवियों की कल्पना-कूचिका से विभिन्न प्रकार से चित्रित किया जाता रहा है। महाकवि वासुदेव भी भौंरों के द्वारा उत्पन्न स्त्रियों की दशा-विपर्यय को आगे के श्लोकों में उपनिबद्ध करेंगे ॥ ६८ ॥

अधुनोत्काचन कांचिद् द्रावयति स्म प्रणादिकाञ्चनकाञ्चि ।
ता वानावशकदलीसाम्यं नेतुं वनक्षितावशकदली ॥ ६९ ॥

अनुवाद—भौंरों ने किसी नायिका को कँपा दिया तो किसी को शब्द करती हुई स्वर्णमेखला के साथ भगा दिया। इस प्रकार उस वन भूमि में वे भौंरे स्त्रियों को वायु से हिलती हुई कदली की समता प्राप्त करने में सफल हुए अर्थात् नायिकायें वायु से हिलती हुई कदली-लता के समान भौंरों के कारण काँपने लगीं।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने स्त्रियों का काँपना पर्यायोक्त अलंकार द्वारा व्यक्त किया है जिसका लक्षण पहले ही दिया जा चुका है ॥ ६९ ॥

नवकलिकोपायनतः प्रियः प्रियाजनाय कलिकोपाय नतः ।

मूर्धनि चापे तेन क्षणात्तदीय पदं शुचापेतेन ॥ ७० ॥

अनुवाद—रति-कलह में कुपित हुई प्रिया के लिये नवीन कलिका की भेंट (अथवा चुम्बन) को देने के अभिप्राय से (अथवा बहाने से) कोई प्रिय झुका। फिर क्षण भर में ही शोकरहित उस प्रेमी ने अपने शिर पर अपनी प्रेमिका के पैर को प्राप्त किया अर्थात् उसकी प्रेमिका ने चरण-प्रहार किया।

व्याख्या—प्रेमियों के बीच पादप्रहार और पादपतन की यह क्रिया संस्कृत-साहित्य में विशेष रूप से वर्णित है। रति-काल में किसी कारण से क्रुद्ध हुई अपनी प्रेमिका को मनाने के बहाने से कलिका की भेंट प्रदान करने के अभिप्राय से जैसे ही वह प्रेमी झुका कि उसकी प्रिया ने उसके मस्तक पर अपना चरण प्रहार किया। परन्तु इससे उसे किसी प्रकार का शोक नहीं हुआ ॥ ७० ॥

धृतरसमुत्सङ्गे न प्रणेतुरूढापरा समुत्सङ्गेन।
पल्लवमाल्यानीतं वल्लभरचितं बबन्ध माल्यानीतम् ॥ ७१ ॥

अनुवाद—सस्नेह, अपने प्रेमी की गोद में बैठी हुई तथा उसके स्पर्श-सुख से हर्षित कोई दूसरी नायिका ने अपनी सखी के द्वारा लायी गयी तथा अपने पति के द्वारा बनायी गयी माला के बीच में लगे हुए पल्लव को (अपने केश विन्यास में) नहीं बाँधा।

व्याख्या—इस श्लोक में अपने प्रिय के अंगों का स्पर्श सुख प्राप्त करने की इच्छा से किसी दूसरी सखी के पल्लव अपने केशों में न लगाने का वर्णन है क्योंकि वह इसे अपने पति के द्वारा ही लगाये जाने पर धारण करना चाहती थी ॥ ७१ ॥

अपितमपरा धवनस्तरुकुसुमं नैच्छदाप्तुमपराधवतः।
अपि विपरीतरवधुतं प्रणतमुपैक्षिष्ट सा परीतरवधु तम् ॥ ७२ ॥

अनुवाद—किसी दूसरी नायिका ने अपने अपराधी पति के द्वारा दिये गये तरु-कुसुम को लेने की इच्छा नहीं की। उस नायिका ने, चारों ओर दूसरी स्त्रियों के खड़े रहने पर, क्षमा के लिये प्रणत तथा डाँट के कारण काँपते हुए भी उस नायक की उपेक्षा की।

व्याख्या—इन कतिपय श्लोकों में वनविहार के समय प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच में घटने वाली विविध प्रेम-लीलाओं का सरस वर्णन कवि ने किया है। इस श्लोक में भी किसी मानवती नायिका का वर्णन किया गया है जो गोत्रस्खलन के कारण अपने अपराधी के द्वारा दिये जाने वाले पुष्प को अस्वीकार कर रही है और चरणों में गिरे हुए भी अपने प्रेमी की उपेक्षा कर रही है ॥ ७२ ॥

अलमुपयातुं गोत्रस्खलनं त्वं समस्त्वया तुङ्गोऽत्र।
स त्वमरमणीयः स्याः प्रणमन्मम संनिधौ न रमणी यस्य ॥ ७३ ॥
इति केलीकमलेन प्रियमन्या चलितचञ्चलीकमलेन।
पृथुकुचकलशोभाभ्या पद्भ्या चाताडयत्सकलशोभाभ्याम् ॥ ७४ ॥

अनुवाद—"तुम गोत्रस्खलन में पर्याप्त हो अर्थात् तुम गोत्रस्खलनरूप दोष अत्यधिक करते हो। इस विषय में तुम्हारे जैसा महान् कोई नहीं। तुम मुझे प्रणाम करते हुए अच्छे नहीं लगते क्योंकि जिसके सामने उसकी प्रियतमा नहीं (वह किसी अन्य के सामने प्रणाम करते अच्छा नहीं लगता)"।

इस प्रकार कहकर विशाल कुचरूपी कलशों वाली किसी नायिका ने चंचल भौंरे के मल से युक्त अपने क्रीड़ा-कमल से तथा सारी शोभा से युक्त चरणों से उसे ताड़ित किया।

व्याख्या—इस युग्म में किसी अन्य खण्डिता नायिका का वर्णन किया गया है। अपने पति के मुख से किसी दूसरी नायिका का बारंबार नाम सुनकर वह क्रुद्ध है। अतः पैरों पर मिथ्या ही गिरने वाले पति से यह कहकर उसे उलाहने देती है कि जिसके सामने उसकी प्रिया न हो वह प्रेमी प्रणाम करता हुआ अच्छा नहीं लगता। अर्थात् तुम्हारी प्रेयसी तो कोई और ही है मैं तो तुम्हारी कोई भी नहीं। इस प्रकार व्यंग्योक्ति के साथ उसने अपने प्रेमी को क्रीड़ा-कमल से और चरणों से ताड़ित किया ॥ ७३–७४ ॥

टिप्पणी—'चलितचंचलीक'—पद में चंचरीक के स्थान पर 'ल' का प्रयोग है पर अनुवाद करते समय वह 'र' ही माना जायेगा क्योंकि काव्य में 'र' और 'ल' में भेद नहीं होता जैसा कि पहले के श्लोकों में भी आ चुका है।

इसके अतिरिक्त उस नायिका का जो विशेषण 'पृथुकुचकलशा' कवि ने रखा है उससे उसके पूर्ण यौवन-सम्पन्ना होने का अनुमान होता है और अलंकार की दृष्टि से कुचों में कलश का आरोपण होने से इस पद में रूपकालंकार है। उन्नत कुचों की उपमा स्वर्ण-घट या अमृत-कलश से देने की प्रचलन कवियों में है ॥ ७३–७४ ॥

संमर्दात्तरुजानां तासां भावाच्च तावदात्तरुजानाम्।
करतलमधिकारुण्यं बभूव यूनां च हृदयमधिकारुण्यम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—पल्लवों और पुष्पों के संमर्दन से उन स्त्रियों के करतल अत्यधिक रक्तिम हो गये। कष्ट से व्यथित उन स्त्रियों के भावों (चेष्टा) से युवकों के हृदय अत्यधिक करुणा से भर गये।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने स्त्रियों के सुकुमार होने का वर्णन किया

है। पुष्पों और किसलयों के संमर्द से उनकी हथेलियाँ लाल हो गयीं जिससे सिद्ध है कि उनके करतल पुष्पों से भी कोमल और सुकुमार थे। इस कष्ट से पीड़ित उनके हाव-भावों को देखकर भला किस सहृदय सरण का हृदय न भर आ गया ॥ ७५ ॥

अथ कृतकन्दविहारे स्रोसपर्विलुलिताधिकन्दविहारैः।
त्यक्त्वा वनजालानि कान्ता यमुना मनोज्ञवनजा तानि ॥ ७६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर वन-विहार कर चुकने पर, हिलते हुए अतिछवि युक्त हारों वाली स्त्री-समूह ने कुसुमादि को त्याग कर मनोहर कमलों से भरी हुई यमुना में प्रवेश किया।

व्याख्या—वन-विहार के पश्चात् उस स्त्री-समूह ने यमुना में जल-क्रीडा के लिये प्रवेश किया। अब कवि वासुदेव इस श्लोक से अबलाओं की जलक्रीडा का वर्णन प्रारम्भ करते हैं ॥ ७६ ॥

त्वरितपासूनानि त्यक्त्वा निर्वेदयुतमपां सूनानि।
प्रापुस्तरलालिन्यस्तासां मुखपद्ममधिकसरलालिन्य' ॥ ७७ ॥

अनुवाद—अति स्नेहवाली चपल भ्रमरियों ने (सरलालिन्य) सखेद कान्तिहीन कमलों को त्यागकर उन स्त्रियों के धूलिरहित मुखरूपी कमलों को प्राप्त किया।

व्याख्या—भ्रमरी-समूह ने अत्यन्त स्नेह के साथ उन स्त्रियों के मुखरूपी कमलों का आश्रय लिया क्योंकि जल के कमल उनकी तुलना में कान्ति में कम थे तथा धूलियुक्त थे पर स्त्रियों के मुखरूपी कमलों में धूलि न थी और वे कान्तिमान् थे। इस श्लोक के द्वारा कवि ने प्रकारान्तर से स्त्रियों के मुख-कमलों की प्रशंसा की है ॥ ७७ ॥

आस्येन्द्रावासरतामामामत्रैव शश्वदावासरताम्।
असिताकारामलिना माला स्मितचन्द्रिका चकारामलिनाम् ॥ ७८ ॥

अनुवाद—मुख-पद्म पर उड़ते हुए तथा सदैव वहीं रहने की इच्छा करने वाली भ्रमरों की काली पंक्ति को भी इन स्त्रियों की स्मितचन्द्रिका ने अमलिन (धवल) बना दिया।

व्याख्या—मुख-पद्म पर उड़ने वाले काले भौंरों की पंक्ति को स्त्रियों की मुस्कानरूपी चन्द्रिका ने श्वेत कर दिया। मुस्कान का रंग श्वेत होता है अतः उनकी छाया में भौंरों का भी शरीर धवल हो गया। प्रस्तुत श्लोक में तद्गुणलंकार का समावेश कवि द्वारा किया गया है क्योंकि अपने गुण को त्यागकर भौंरे स्त्रियों के स्मित चन्द्रिका का गुण धारण करते हैं। 'स्मितचन्द्रिका' में रूपकालंकार है ॥ ७८ ॥

तासां लोलहरीणामस्पृशदङ्गं चयश्चलो लहरीणाम् ।
हृततापं कक्षालीकेलिविघाशग्रधूलिपङ्कक्षाली ॥ ७९ ॥

अनुवाद—तट पर उगने वाली लताओं और घास में क्रीड़ा करने के कारण लगी हुई धूलिरूपी कीचड़ को धोने वाले लहरों के चचल-समूह ने, सकाम श्रीकृष्ण के साथ रहने वाली उन स्त्रियों के तापरहित अंगों को स्पर्श किया।

व्याख्या—स्त्रियों के जल में प्रवेश करने पर ऊर्मि-समूह ने उनके सुन्दर अंगों का स्पर्श किया। यह ऊर्मि-समूह उन स्त्रियों के अंगों में लगे हुए उस कीचड़ को धोने वाला था जो लताओं और घास में क्रीड़ा करने के कारण उनके शरीर पर लगी हुई थी ॥ ७९ ॥

अभितो मुरजेतारं नलिनततिर्नदति भृङ्गमुरजे तारम् ।
प्रविकसिता रङ्गेषु प्रा(प्रन)नत प्रोन्नतेषु तारङ्गेषु ॥ ८० ॥

अनुवाद—मुरारि के चारों ओर भृङ्गरूपी मृदङ्गों के तारस्वर से शब्द करने पर, विकसित कमल-पंक्तियाँ अत्यन्त उन्नत तरङ्गों के नाट्यमण्डपों में नाच करने लगीं।

व्याख्या—रंगमंच का अतीव सुन्दर रूपक कवि ने यहाँ बाँधा है। जिस प्रकार रंगमच पर मृदंग आदि के बजने पर नर्तकियाँ नृत्य प्रारंभ कर देती हैं उसी प्रकार से कमलों की पंक्तियों ने भी यमुना जी में भ्रमररूपी मृदंगों के शब्द करने पर नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया। जल में उठने वाली ऊँची २ तरंगें ही नाट्यमण्डप थीं। यहाँ पर कमलों के हिलने के भाव को कवि ने अतीव साहित्यिक भाषा में अभिव्यक्त किया है ॥ ८० ॥

तस्या वक्रान्तानि स्वच्छतमाया सरित्यवक्रान्तानि ।
निन्युर्महिलास्यानि भ्रूप्रतिबिम्बानि भीतिमहिलास्यानि । ८१ ॥

अनुवाद—उस अत्यन्त स्वच्छ नदी में पड़ने वाली टेढ़ी छोरों वाली तथा सर्प के समान लास्य (नृत्य) करने वाली भौंहों की प्रतिच्छायाओं ने स्त्रियों के मुखों को भयभीत कर दिया।

व्याख्या—स्त्रियाँ जब जलक्रीड़ा करने के लिये यमुना में उतरीं तो जल की अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण उनकी वक्र भौंहें जल में प्रतिबिम्बित होने लगीं। टेढ़ी भौंहें सर्प के समान जब जल के भीतर हिलने डुलने लगीं तो उन्हें सर्प समझकर वे डरने लगीं। प्रस्तुत श्लोक में भ्रान्ति के कारण स्त्रियों में भय की कल्पना की गयी है। 'अहिलास्यानि' पद में वाचकलुप्तोपमा है ॥ ८१ ॥

तत्र कले रतिकाले विबभुर्वनिता घनावलेररतिकाले ।
जितसौदामन्यस्ता नलिन्य इव नीलनलिनदामन्यस्ताः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—घनावली के समान अतिश्याम उस यमुना में सुन्दर रतिकाल में अपनी कान्ति से बिजली को भी जीतने वाली वे स्त्रियाँ नीले नलिन की दाम (रज्जु पंक्ति) में पड़ी हुई नलिनी के समान सुशोभित हो रही थीं।

व्याख्या—स्त्रियों की कान्ति से तड़ित् भी परास्त हो चुकी थी। जल में नील नलिनों के बीच खड़ी हुई ये वनिताएँ कमलिनी के समान लगने लगीं ॥ ८२ ॥

तच्छीकरतोयानि प्रियमुखभातानि युवतिकरतो यानि ।
अतिसौरभरम्यलिनान्नलिन यान्तीव पङ्क्तिरभवन्नलिनाम् ॥ ८३ ॥

अनुवाद—युवतियों के हाथों से फेंका गया जो जलकण प्रेमियों के मुखों पर पड़ा वह अत्यन्त सौरभ से युक्त पद्म से दूसरे कमलों पर बैठने वाली मानों भ्रमरों की पंक्ति हुई अर्थात् जल-शीकर भ्रमर-पंक्ति के समान मालूम पड़ने लगे।

व्याख्या—कवि की यह उत्प्रेक्षा अत्यन्त अनूठी है। जलक्रीडा के समय वन्धुओं ने अपने प्रेमिओं के मुख पर जो जलकण फेंके वे ऐसे लगने लगे मानों सौरभयुक्त कमलों से दूसरे कमलों पर उड़कर भौंरों की पंक्ति बैठ गयी हो। जलकणों की भौंरों के रूप में उत्प्रेक्षा करने का कारण केवल जल की कृष्णिमा ही है ॥ ८३ ॥

काचनलोकम्बालंकारं कोरकमिहानिलोलं बालम् ।
तज्जलमाविरुरोजप्रतिबिम्ब जनितसंभ्रमा चिरुरोज ॥ ८४ ॥

अनुवाद—भ्रम के कारण किसी नायिका ने भ्रमर रूप अलंकार से सुशोभित तथा जल में दिखलाई पड़ने वाले अपने उरोज के चंचल प्रतिबिम्ब को मानों कुड्मल समझकर उसे तोड़ने की इच्छा की।

व्याख्या—भ्रम के कारण उत्पन्न इस उत्प्रेक्षा की कल्पना भी अनूठी है। नायिका ने जल में पड़ने वाले अपने उरोज के प्रतिबिम्ब को भ्रम के कारण कुड्मल (कली) मानकर तोड़ने की इच्छा की। इस श्लोक में भ्रान्ति और उत्प्रेक्षा का संकर दर्शनीय है ॥ ८४ ॥

तासां चोरोरुहतः प्राप्तहतिः करिकरधिचोरो रुहतः ।
अवधावशकल्लोलः स्थातुं न जलाशयो विवशकल्लोलः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—उन स्त्रियों के उन्नत उरोजों से ताड़ित होने के कारण, हस्ती की सूँड की शोभा वाला तथा व्याकुल कल्लोलों (तरंगों) वाला जलाशय (यमुना) मर्यादा में न रह सका।

व्याख्या—यमुना को 'करिकरविचोर' (हस्ति-कर की शोभा को चुराने वाला) इस कारण कहा गया क्योंकि उसकी तरगें हस्तिकर के समान ही वर्ण में कृष्ण हैं। इस पद में उपमा है। किसी कामी युवक के समान तरुणियों के उन्नत-उरोजों का स्पर्श पाकर यमुना का जल भी अपनी अवधि (मर्यादा) में न रह सका अर्थात् यमुना का जल हिलोरें मारने लगा ॥ ८५ ॥

सरितस्तिलकालीनामपा चयै· क्षाल्यमानतिलकालीनाम् ।
हरिवासविरामाणामुदतारि गणेन रतिपु सावरामाणाम् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—जलक्रीडा में रत होने के कारण रति में (प्रिय के साथ सभोग में) उदासीन तथा तिल के समान काले जल के समूह से धुली हुई तिलक-पक्ति वाला कृष्ण और अर्जुन का स्त्री समूह यमुना-जल से (जलक्रीडा करके) बाहर निकला।

व्याख्या—यमुना के जल की उपमा कवि ने काले तिल से दिया है। जल में स्नान करने के कारण स्त्रियों के मस्तक की तिलकावली प्रक्षालित हो गयी। इस प्रकार स्नान करके वे जल से बाहर निकलीं ॥ ८६ ॥

अधितटमवलग्नानां शोषाय विधाय नमनमवलग्नानाम् ।
सुदशामालम्बिकच मुखमजनयन्नलिनमुदलिमाल विकचम् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—कटि-प्रदेश को झुकाकर, भीगे शरीर को सुखाने के लिये तट पर खड़ी हुई सुन्दरियों के लम्बे बालों वाला मुख भ्रमर-पक्ति से युक्त खिले हुए कमल की शोभा को धारण करने लगा।

व्याख्या—कवि ने यहाँ पर जिस कल्पना को उपनिबद्ध किया है वह साधारणत· सारे कवियों के द्वारा उल्लेख्य रही है। स्त्रियों के लम्बे-लम्बे बाल भ्रमर-पक्ति के समान तथा सुन्दर मुख-कमल के समान लगने लगा। उन केशरूपी भ्रमरों के आगमन का कारण संभवत· उनके मुखरूपी कमल की सुगन्धि ही है ॥ ८७ ॥

ललिततरं भोगानामथ विरतौ युवतिरम्भोगानाम् ।
अक्रतासौ धावल्यान्निरस्कृतेन्दौ पदानि सौधावल्याम् ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर सुन्दर जलक्रीडादि (भोगों) के समाप्त हो जाने पर श्रीकृष्ण और अर्जुन की उन वराङ्गनाओं ने, अपनी धवलता से चन्द्रमा को भी निरस्कृत कर देने वाले सौधपङ्क्तियों में चरण रखा अर्थात् श्वेत महलों में जलक्रीडा के बाद उन स्त्रियों ने प्रवेश किया।

व्याख्या—यहाँ पर व्यतिरेक के द्वारा धवल महलों की चन्द्रमा से भी

अधिक सुन्दरता बतलायी गयी है। 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' ॥ ८८ ॥

ता युवती रत्यर्थं प्रीणयितुमिव त्वरावतीरस्यर्थम् ।
अस्त ममहास्तेन स्त्रीणां वदनेन्दुरजनि समहास्तेन ॥ ८९ ॥

अनुवाद—पतियों के साथ रतिक्रीडा करने के लिये अति शीघ्रता करने वाली युवतियों को मानों प्रसन्न करने के लिये सूर्य (इन) अस्ताचल को प्राप्त हुआ। इस कारण स्त्रियों के मुखचन्द्र महान् तेज से पूर्ण हो गये अर्थात् उनके मुखचन्द्र खिल उठे।

व्याख्या—स्त्रियों को मानों प्रसन्न करने के लिये ही सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हुआ क्योंकि रात्रिवेला आने पर वे रतिक्रीडा के लिये उत्सुक हो उठीं।

अथ तिलशोभि विहाय स्थलं विलोक्यारुणा दिशोऽभिविहाय ।
अपतदाशु कपोतः स्फीतं केदारमपि तदा शुकपोतः ॥ ९० ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर काले तिल के समान सुन्दर लगने वाले आकाश-मण्डल को देखकर तथा सन्ध्या के कारण अरुणिम दिशाओं को छोड़कर वन के कबूतर और तोतों के बच्चे तत्काल विस्तृत केदार (पानी भरे खेतों) में गिरने लगे।

व्याख्या—रात्रि के आने पर आकाश-मण्डल तिल के समान सुशोभित होने लगा तथा उसकी दिशाएँ सन्ध्याराग से अरुणिम हो गयीं। अतः तोते के बच्चे और कबूतर आकाश से उतर कर खेतों में आ गये ॥ ९० ॥

विरवि पातङ्गमयं न दिनान्तो हिनस्तु पातं गमयन् ।
इति नलिनी नलिमानं दधतीव चकार कोरकाञ्जलिमानम् ॥ ९१ ॥

अनुवाद—सूर्यमण्डल को पतन प्राप्त कराता हुआ यह दिनावसान (दिनान्त) कहीं उसे (बिल्कुल ही) समाप्त न कर दे—यह सोचकर जड़ता को धारण करती हुई कमलिनी ने मानों कुड्मल (कोरक) की अंजलि बना ली।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने सूर्य के डूबने और पद्मिनी के संकुचन की उत्प्रेक्षा कवि ने अत्यन्त ही कोमल भावों के साथ की है। वैसे तो रात्रि में कमल-कमलिनियों का बन्द प्रकृति के नियमानुकूल ही है फिर भी इस पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि अपने प्रेमी सूर्य के नाश से डरकर मानों दिनावमान की प्रार्थना करने के लिये कमलिनी ने कोरकरूपी अंजलि बांध ली ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में भी कवि ने यमक अलंकार को बनाये रखने के

लिये 'जडिमा' के स्थान पर 'जलिमा' का प्रयोग किया है जो कि कोई दोष नहीं क्योंकि काव्य में 'ल' और 'ड' में भेद नहीं किया जाता ॥ ९१ ॥

ननु सुतरामारागः परो रथाङ्गाह्वयस्य रामारागः ।
यदसौ विरहास्तासु प्रियजनविरहं प्रजासु विरहास्तासु ॥ ९२ ॥

अनुवाद—मानों चकवे का अपनी प्रिया चकवी के प्रति अत्यधिक राग (स्नेह) अतिशय अपराध को प्राप्त हुआ (जिस कारण रात्रि में उन्हें वियुक्त होना पड़ा) जिसके कारण यह चक्रवाक पक्षी विरह से व्याकुल लोगों के मनमें प्रियजन विरह को और भी बढ़ाने लगा।

व्याख्या—चकवे और चकई का प्रेम साहित्य में सर्वत्र प्रसिद्ध है। अपने इसी प्रेम के कारण मानों उसे अपनी प्रिया से रात्रि में पृथक् होना पड़ता है। और इसी कारण मानों विरही लोगों को अपने ही समान बनाने की इच्छा से वह रात्रि में उनके विरह को और भी अधिक बढ़ाता है ॥ ९२ ॥

पुरतो नवताराणां व्रीडादिव दृक्पथेष्वनवताराणाम् ।
अधिकृतरविभावितता बभूव दूरं यदापि रविभा विततां ॥ ९३ ॥

अनुवाद—दिन के अवसान पर फैला हुआ सूर्य का प्रकाश मानो लज्जा से दूर चला गया (अर्थात् सन्ध्या हो गयी) और सामने दृष्टि में (आकाश-मण्डल पर) पहले न दिखलाई पड़नेवाले नवीन तारे अत्यधिक लक्षित होने लगे (अर्थात् आकाश-मण्डल में तारे छिटक गये)।

व्याख्या—सायंकाल में सूर्य का अस्त हो जाना प्रकृति के नियमानुकूल है पर इस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो लज्जा के कारण सूर्य का प्रकाश दूर चला गया। लज्जित हुए पुरुष का मुख लाल हो जाता है। यहाँ पर भी डूबते हुए सूर्य का अरुणिम होना स्वभाव-सिद्ध है ॥ ९३ ॥

अथ तिमिरमहानिकरैरुत्तस्थे चक्षुषां परमहानिकरैः ।
यान्पुनराविःश्यामीभावा लोका बभूवुराविश्यामी ॥ ९४ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर नेत्रों को हानि पहुँचानेवाला अन्धकार का महान् समूह (जाल) उत्पन्न हुआ। जिस तिमिरसमूह में प्रविष्ट होकर यह लोक भी श्यामभाव को प्राप्त हुआ (अर्थात् रात्रि में सारी वस्तुएँ काली पड़ गयीं)।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने गहन अन्धकार का यथार्थ चित्रण किया है। तिमिर-समूह में नेत्रों की दर्शन-शक्ति जाती रहती है और सारा लोक तिमिराच्छन्न हो जाता है। ठीक ऐसा ही भाव भास के इस श्लोक में भी देखा जा सकता है—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभ ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ ९४ ॥'

भेद्ये सून्यन्तेन स्थिते तमस्यद्रयोऽपि सूच्यन्ते न ।
बाणानक्षिपदेषु स्मरः कथं वा मदःस्वनक्षिपदेषु ॥ ९५ ॥

अनुवाद—सूच्यग्र-भेद्य तम के रहने पर लोगों को पर्वत भी नहीं दिखलाई पड़ते थे तो फिर भला कामदेव ने नेत्रों से न दिखलाई देनेवाले कामियों के मन पर (वाच्य) कैसे बाण चलाये ।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने जिस विचित्र-भङ्गी भणिति के द्वारा कामियों के मन के रात्रि में सकाम हो जाने का वर्णन किया है वह वास्तव में दर्शनीय है। अन्धकार सूचीभेद्य है। इस समय जब कि इतने विशालकाय पर्वत भी नज़र नहीं आते तो भला कामदेव ने अदृश्य कामियों के मन पर कैसे बाण छोड़े—यह अत्यन्त ही आश्चर्य की बात है ॥ ९५ ॥

अथ हिमशीकरजालंकारं विस्तारयञ्शशी करजालम् ।
अशनैरन्वितताराः स्फुटता भुवनत्रये स्फुरन्विततार ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर हिमकण से उत्पन्न होने वाले अलङ्काररूप रश्मि-समूह को प्रकट करते हुए चन्द्रमा ने तारागणों से युक्त होकर शीघ्र ही स्फुरित होते हुए तीनों लोकों में स्फुटता बिखेर दी अर्थात् अपने प्रकाश से तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया ।

व्याख्या—सूर्यास्त के थोड़ी देर पश्चात् आकाश-मण्डल में चन्द्रमा तारागणों के साथ आया और उसने तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया। जो पदार्थ थोड़ी देर पहले दिखलाई न देते थे अब स्पष्टरूप से लक्षित होने लगे ॥ ९६ ॥

अमयरसा कौमुदी जन्येन जितामृताम्भसा कौमुदा ।
अजनि च शंकुमुदस्य प्रमदा मुमुदे च मानशङ्कुमुदस्य ॥ ९७ ॥

अनुवाद—स्पर्धा में अमृत-जल को भी जीत लेनेवाली चाँदनी ने पृथिवी पर हर्ष बिखेर दिया। कमल विकसित होने लगे। (चन्द्रोदय होने पर) सुन्दर स्त्रियाँ मानरूपी शङ्कु (कील) को निकालकर प्रसन्न होने लगीं ।

व्याख्या—प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा के प्रकाश में कुमुद खिलते हैं। चन्द्रमा के उदित होने पर स्त्रियाँ भी अपने मान को छोड़कर पतियों के साथ रति-क्रीडा के लिये उत्सुक हो उठीं ॥ ९७ ॥

तस्ये माने यामि' प्रमदाभि. पूर्वमसुसमानेयाभि. ।
उदिते रुडुपेताभिर्नामावि विलासिनीभिरुडुपे ताभिः ॥ ९८ ॥

अनुवाद—अपने प्राणप्रियों (प्रेमियों) के द्वारा मनाई जाने वाली जो स्त्रियाँ पहले मान में बैठी हुई थीं चन्द्रमा के उदित होने पर उन विलासिनी स्त्रियों ने अपना कोप त्याग दिया।

व्याख्या—चन्द्रोदय का जगत् के प्राणियों पर कब और कैसे प्रभाव पड़ता है इसका सूक्ष्म चित्रण कवि वासुदेव इस प्रसङ्ग में करते हैं। जो नायिकाएँ कुछ देर पहले मान किये बैठी थीं और अपने पतियों से मनाये जाने पर भी नहीं मान रही थीं वे ही अब चन्द्र के उदित होने पर अपना मान छोड़ बैठीं क्योंकि रति के लिए उचित काल उपस्थित हो गया था ॥ ९८ ॥

शशिधामसु रामाभिः प्रसृतेष्वथ पातुमुत्तमसुरामाभिः।
अभ्यारुरुहे लतया समतनुभिर्हर्म्यभूमिरुरुहेलतया ॥ ९९ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् चन्द्र-प्रकाश के फैलने पर उत्तम सुरा का पान करने के लिये लता के समान शरीरवाली स्त्रियाँ बड़े विलास से महलों की छत पर चढ़ीं।

व्याख्या—अब कतिपय श्लोकों में कवि वासुदेव क्रमानुसार प्राप्त पान-गोष्ठी का वर्णन करते हैं। लता के समान तनु शरीरवाली नायिकाएँ हाला का पान करने के लिये महलों पर चढ़ीं। नायिकाओं के शरीर की उपमा कुसुम-लता से देकर कवि ने उनके शरीर की शोभा पर प्रकाश डाला है ॥ ९९ ॥

अथ मधुकरकान्तेभ्य क्षरित चषकान्तरेषु मधु करकान्तेभ्यः।
पपुरपशङ्का मधु ता वध्वः सार्धं प्रियैर्भृशं कामधुताः ॥ १०० ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् काम से अत्यधिक कम्पित होती हुई निःशङ्क वधुओं ने भौंरों की कान्ति के समान सुन्दर (नीलम से निर्मित) सुराही की टोंटी से प्यालों में गिरते हुए मद्य को अपने प्रियतमों के साथ पान किया।

व्याख्या—कामशास्त्र के अनुसार पान-गोष्ठी के आयोजन को मन में रखकर कवि ने यहाँ पर प्रेमियों के मद्यपान करने का विधान किया है ॥ १०० ॥

वदनगतां स्वच्छायां वारुण्यां वीक्ष्य बिम्बितां स्वच्छायाम्।
क्षमवन्निन्दावन्तस्तरुणीसंघाः क्षणेन निन्दावन्तः ॥ १०१ ॥

अनुवाद—निर्मल वारुणी (शराब) में प्रतिबिम्बित अपने मुख की छाया को देखकर युवतियों के समूह थोड़ी देर के लिये अपने मन में चन्द्रमा के प्रति भी निन्दक बन गये (अर्थात् शराब में अपने सुन्दर मुख की छाया को देखकर वे लोग चन्द्रमा की भी निन्दा करने लगीं)।

व्याख्या—नायिकाओं के मुख भी चन्द्रमा के समान सुन्दर थे। अब उन्होंने अपने मुखों की छाया देखी तो चन्द्रमा की निन्दा और अपनी प्रशंसा करने लग गयीं ॥ १०१ ॥

सा दीप्रा पानेन प्रापानेन प्रयोयमी मदविकृतिम् ।
ऊढा स्वैरं कान्तैः स्वैरङ्कान्तैर्विलासिनीनां पङ्क्तिः ॥ १०२ ॥

अनुवाद—स्वेच्छा से पतियों की गोद में बैठी हुई कान्तिमती विलासिनी स्त्रियाँ (कादम्बरी के) इस पान से महान् मदविकृति को प्राप्त हुईं।

व्याख्या—कामविह्वल विलासिनी स्त्रियाँ अपने पतियों की गोद में बैठ गयीं और शराब पीने से अपने होश खोने लगीं ॥ १०२ ॥

अथ तरसा रामासु द्विरेफमौर्वी निकृष्य मारामासु ।
अमुञ्चत्साकं पञ्च स्मरः शरानकुरुताञ्जसा कम्पं च ॥ १०३ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् बलपूर्वक, इस भ्रमरमयी प्रत्यंचा को खींचकर कामदेव ने एक साथ ही पाँच बाण इन स्त्रियों पर छोड़े। उन पाँचों बाणों ने स्पष्ट ही (अञ्जसा) उनमें कम्प उत्पन्न कर दिया।

व्याख्या—मदविकृति को प्राप्त करने पर उन स्त्रियों के ऊपर कामदेव ने अपना धनुष खींचकर पाँच बाण मारे। उन्हीं बाणों से आहत होने के कारण मानो वे कम्पित हो उठीं ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—कामदेव का दूसरा नाम 'पञ्चशर' है क्योंकि वह पाँच बाण कामियों को आहत करने के लिये रखता है। उसके ये पाँच बाण हैं—

'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥'

अथवा उसके ये दूसरे पाँच बाण हैं—

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ॥'

अधिकामिहासकलेन प्रोत्तस्थे प्रलपितेन हासकलेन ।
ववृधे मारोऽप्यन्तः स्त्रियः प्रियैः शयनमारोप्यन्त ॥ १०४ ॥

अनुवाद—हास से सुन्दर तथा अधूरे प्रलाप स्त्रियों में होने लगे। उनके अन्दर काम भी बढ़ने लगा तथा प्रेमियों ने उन स्त्रियों को (रति के लिये) शयन पर लिटाया।

व्याख्या—कामातिरेक और पानातिरेक के कारण वे स्त्रियाँ प्रलाप करने लगीं तथा काम उन्हें सताने लगा। फिर उनके प्रेमियों ने संभोगार्थ शयन पर लिटाया ॥ १०४ ॥

हृतधैर्योऽनिशाकलितस्फुरदिषुकोदण्डचित्तयोनिशकलितः।
अकृशैरतिशयनमितः स्तनभारैः स्त्रीगणोऽथ रतिशयनमितः ॥१०५॥

अनुवाद—इसके पश्चात् सदा ध्यान करने के कारण, धनुष-बाण को धारण करनेवाले काम से विद्ध स्त्रियों ने अपने धैर्य को खो दिया तथा पीन स्तनों के भार से अतिशय झुकी हुई स्त्रियाँ रति के लिये शयन पर लेट गयीं।

व्याख्या—इन कतिपय श्लोकों में कवि वासुदेव सुरत-लीला का वर्णन करते हैं। स्त्रियों ने अपने धीरज को खो दिया और काम-विह्वल होकर शयन पर लेट गयीं ॥ १०५ ॥

अभजत रागो हृदय स्त्रीणामभवच्च कमितुरागोहृदयम्।
अहरत वामावाम' सोऽपि नतोऽभान्नतभ्रुवामावासः ॥ १०६ ॥

अनुवाद—इसके बाद स्त्रियों के हृदयों में रति की अभिलाषा जाग उठी। स्त्रियों का यह रति–अभिलाष (राग) कामियों के अपराध का हरण करने वाला हुआ (अर्थात् कामियों के पूर्वापराध भुला देनेवाला बना) अतः प्रेमियों ने भी वधुओं के वस्त्र को खींचा। इसके पश्चात् झुकी हुई भौंहोंवाली उन स्त्रियों के रति-मन्दिर प्रकाशित हो उठे।

व्याख्या—कान्ताओं के अत्यधिक रत्यभिलाष को देखकर संभोगार्थ प्रेमियों ने उनके वस्त्र को हटाया ॥ १०६ ॥

अजनि पुनर्मणितेन व्यजायि वीणारवोऽपि नर्मणि तेन।
विललास द्रागधरः पीतोऽपि प्रियतमेन सद्रागधरः ॥ १०७ ॥

अनुवाद—रति क्रीड़ा में (नर्म) स्त्रियों का रतिकूजन उत्पन्न हुआ। उससे (रति कूजन से) वीणा-शब्द भी पराजित हो गया। प्रियतमों के द्वारा पान किया गया सुन्दर लालिमा को धारण करनेवाला स्त्रियों का अधर शीघ्र ही सुशोभित होने लगा।

व्याख्या—रतिकाल में युवतियों के कूजन करने का वर्णन साहित्य में सर्वत्र देखा जा सकता है। प्रेमियों ने अपनी स्त्रियों के लाल अधरों को जो पान किया उससे वह सुशोभित होने लगी। अधरों की यह लालिमा दो कारणों से हो सकती है प्रथम तो यह कि वे स्वभाव से ही सुन्दर और लाल होंगे दूसरे ताम्बूलादि के सेवन से भी वे लाल हो सकते हैं ॥ १०७ ॥

कृतकलकलहस्ताभिर्वलयेनाकारि सुरतकलहस्ताभिः।
पुष्पं धम्मिल्लेन प्रीत्येवावर्षि बहुविधं मल्लेन ॥ १०८ ॥

अनुवाद—कङ्कण के द्वारा 'कल-कल' शब्द करनेवाले हाथोंवाली उन नायिकाओं ने सुरतकलह (रतियुद्ध) किया। फिर मल्लविद्या-कुशल धम्मिल्ल

(फूलों से सजे जूड़े) ने मानो प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा की।

व्याख्या—इसके पश्चात् नायिकाओं ने रति-युद्ध प्रारम्भ किया। उनके इस युद्ध में स्त्रियों के जूड़ों से जो पुष्प गिरे उनकी उत्प्रेक्षा कवि उन मस्तकों से करता है जो युद्ध को देखकर प्रसन्न मन से 'ये दम्पति रतियुद्ध में कुशल हैं' ऐसा सोचकर पुष्पों की वर्षा करता हो ॥ १०८ ॥

अयरितसारवताल रेणे वलयेन रत्नसारवतालम् ।
सार्धं रोमावलिभिः स्त्रीणां प्रण(न)र्त कुचभरोऽसमा वलिभि ॥१०९॥

अनुवाद—शब्द करने वाले काँस के ताल को भी तिरस्कृत करनेवाले रत्न-जटित वलयों (कंकणों) ने (रतिक्रीडा में) शब्द किया। इस रतिनाटक में रोमपंक्ति और वलियों (उदर की तीन रेखाओं) के साथ उन स्त्रियों के कुचभार भी नृत्य करने लगे।

व्याख्या—इस श्लोक में रतिक्रीड़ा को एक नाटक मानकर उसमें नृत्य की उत्प्रेक्षा कवि ने की है। नाटक में मुरज और करताल आदि के शब्द की प्राप्ति स्त्रियों के रत्नजटित कंकणों ने की तथा कुचमण्डलों ने नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—'कुचभरोऽसमा' पद में 'अमा' एक अव्यय है जो 'साथ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥ १०९ ॥

च्युतपरमाकल्पानां रतिरभसात्सुभ्रुवां रमाकल्पानाम् ।
रुचिमधिकामङ्गलता निन्ये स्वेदाम्भसा निकामं गलता ॥ ११० ॥

अनुवाद—(रति-क्रीडा में) रमा के समान सुन्दर लगनेवाली, सुन्दर भौंहोंवाली तथा रति की उत्कण्ठा से मिटी हुई सुन्दर सजावटवाली उन स्त्रियों के (शरीर से) अत्यधिक गिरते हुए पसीने के कारण उन स्त्रियों की शरीर-यष्टि ने अधिक कान्ति को प्राप्त किया (अर्थात् ऐसी स्थिति में उनकी अंगयष्टि और सुन्दर लगने लगी)।

व्याख्या—कवि रतिलीला में संलग्न नायिकाओं की दशा का चित्रण इस इस श्लोक में करता है। रति के कारण स्त्रियों का शृंगार-वस्त्रादि अस्त-व्यस्त हो गये रति की थकान के कारण उनके शरीर पर जो पसीना झलकने लगा उससे वे कामिनियाँ और भी अच्छी लगने लगीं ॥ ११० ॥

विगलन्नानामाल्यस्फुरत्कचयो सहाङ्गनानामाल्यः ।
पेतुरुपरि रम्भाणां समोरव' प्रेयसां सपरिरम्भाणाम् ॥ १११ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् कदली (रम्भा) के समान जंघावाली वे स्त्रियाँ

गिरती हुई नाना प्रकार की मालाओं से चंचल केश-विन्यास (कबरी) के साथ आलिंगन से युक्त अपने प्रेमियों के ऊपर गिर पड़ीं।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में कवि ने प्रकारान्तर से स्त्रियों की विपरीत-रति का वर्णन किया है। वे अपने पतियों के ऊपर गिर पड़ीं साथ में उनके केश-कलाप भी उनके प्रेमियों के शरीर पर गिर पड़े ॥ १११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने दो अलकारों का प्रयोग किया है। प्रथम तो स्त्रियों की जंघाओं की उपमा रम्भा (कादली) से देकर उपमा अलकार का दूसरा सहोक्ति-अलकार का। जहाँ पर एक ही 'सह' पद का अर्थ दो वस्तुओं से सम्बन्ध रखता हो वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है जिसका लक्षण है 'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्'। अर्थात् केवल वे स्त्रियाँ ही अपने प्रेमियों के ऊपर न गिरीं बल्कि उनकी कबरी (केश-कलाप) भी प्रेमियों के ऊपर गिरीं ॥ १११ ॥

तासां सरतान्तानां लोचनपद्मैः स्मरप्रसरतान्तानाम्।
यावदमीलीनेन प्रबोधितः प्राग्गिरावमी लीनेन ॥ ११२ ॥

अनुवाद—मदन के सञ्चार से क्लान्त शरीरवाली उन स्त्रियों ने रति के बाद जैसे ही अपने नेत्र-कमलों को बन्द किया वैसे ही उदयाचल में छुपे हुए सूर्य ने दम्पति-समाज को जगा दिया।

व्याख्या—रात्रि के अन्तिम भाग में स्त्रियाँ रतिक्रीडा कर चुकने पर थोड़ी देर के लिये ही सोई थीं कि सूर्य निकल आया। कवि ने स्त्रियों के नेत्रों को कमल बतलाकर अत्यन्त ही उचित अलंकार का प्रयोग किया है। कमल सूर्य के निकलने पर ही खिलते हैं। अतः जितने देर के लिये सूर्य उदयाचल पर अविद्यमान था उनके नेत्र-कमल बन्द रहे और जैसे ही सूर्य पूर्व दिशा में दिखलाई पड़ा वैसे ही उनके नेत्र-कमल फिर खिल गये ॥ ११२ ॥

हित्वा वरविश्वस्तां चिरोपितां कुमुदिनीं नवरविध्वस्ताम्।
नलिनीमलिनामामोघा ययुरुपकारेऽपि महति मलिना मोघाः ॥११३॥

अनुवाद—इसके अनन्तर प्रभातकाल में श्रेष्ठ कामुक चन्द्रमा के द्वारा *छोड़ी गयी चिरकाल तक सेवन की गयी तथा नवोदित सूर्य के द्वारा ध्वस्त* की गयी कुमुदिनी को छोड़कर भ्रमर-समूह कमलिनी के पास चले गये। महान् उपकार किये जाने पर भी मलिन लोग निष्फल ही होते हैं। (अर्थात् वे किसी के उपकार का बदला देना नहीं जानते)।

व्याख्या—प्रातःकाल होते ही भौंरों ने कुमुदनियों को त्याग दिया यद्यपि रात्रिभर उसी में निवास किया। सूर्य के उदित होने पर कुमुदनियाँ दीन-दशा

को प्राप्त हुई तब भौंरे भी उनका साथ न दे सके। इस बात की पुष्टि कवि अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा करता है। जो मनुष्य मलिन होते हैं उनके साथ कितना ही उपकार किया जाये वह निष्फल ही है क्योंकि वे तो सदैव अपने ही स्वार्थ की चिन्ता किया करते हैं ॥ ११३ ॥

प्रमदा दध्युर्विपदं चिरमकृत तावदध्युषि पदम्।
भवदि सवित्रशुचयः समापयञ्जपविधिं पवित्रं शुचयः॥ ११४॥

अनुवाद—प्रभात-काल में स्त्रियाँ बहुत समय तक अद्भुत रति-लीला का ध्यान करती रहीं वैसे ही सूर्य की किरणें भूमि पर पड़ने लगीं तथा विमल-चित्त साधुओं ने अपनी पवित्र जप-विधि समाप्त की।

व्याख्या—प्रातःकाल उठकर रात्रि की रतिलीला का स्मरण करना स्त्रियों के लिये स्वाभाविक ही था। दूसरी ओर साधुओं का चित्रण कवि ने किया है। वे प्रात विधि से निवृत्त हुए ॥ ११४ ॥

इति पुनरवदातेने समये सह जिष्णुनादरवदानेने।
क्रीडां सरसिजनेत्रः स्वैरं सलिले वने च स रसिजनेऽत्र ॥ ११५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार निर्मल सूर्यवाले प्रभात के आने पर कमल-नेत्रों-वाले श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ स्वेच्छापूर्वक सप्रेम जल, वन और रसिक जन (स्त्रीसमूह) के साथ क्रीड़ा की।

व्याख्या—प्रात काल होने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ क्रमश जलक्रीडा, वनविहार और रति-लीला सम्पन्न की।

'सरसिजनेत्र' पद में नेत्रों की उपमा कमलों से दी गयी है। अत इस पद में कर्मधारय समास और उपमालंकार है ॥ ११५ ॥

स्ववेगकम्पिकच्छवि. पिकच्छविः परिभ्रमन्।
अवाप्नवान्सदा रस सदारसंसदच्युतः॥ ११६॥

अनुवाद—अपने वेग से वन-पक्षियों को कम्पित करनेवाले, कोयल के समान श्याम छविवाले तथा स्त्री-समाज के साथ घूमते हुए श्रीकृष्ण (अच्युत) ने सदैव सुख प्राप्त किया।

व्याख्या—यहाँ तक कवि ने श्रीकृष्ण के विहारादि का वर्णन किया। भगवान् श्रीकृष्ण उपर्युक्त विधि से सदैव सुख प्राप्त करते रहे ॥ ११६ ॥

वधूजनैः सम ततः समन्तत. सरित्तटे।
चचार चारुचामरो रुचामरो धनंजय.॥ ११७॥

अनुवाद—इसके अनन्तर तेज में देवताओं के समान तथा सुन्दर चामर-वाले अर्जुन ने यमुना के तट पर स्त्रियों के साथ विचरण किया।

व्याख्या—इस एक श्लोक में कवि ने संकेत रूप से अर्जुन के विहार का वर्णन किया। 'रुचामरो' पद में वाचक लुप्तोपमा है ॥ ११७ ॥

उभावपि प्रभाविनौ दिवीव सुप्रभाविनौ।
चिर रिरंसयोषितौ सरित्तटे सयोषितौ ॥ ११८ ॥

अनुवाद—आकाश में सुन्दर प्रभायुक्त सूर्य के समान प्रभावी श्रीकृष्ण और अर्जुन ने स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा से यमुना नदी के तट पर बहुत समय तक निवास किया।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के विहारादि का उपसंहार किया है। उपमालंकार का सहारा लेकर कवि ने अर्जुन और कृष्ण की तेजस्विता और चिरकाल तक रमण करने का वर्णन किया है। जिस प्रकार सूर्य आकाश में विचरण किया करता है उसी प्रकार वे दोनों भी यमुना तटपर चिरकाल तक विचरण करते रहे ॥ ११८ ॥

इति द्वितीय आश्वासः।

तृतीय आश्वासः

अथ तौ भासुरतरसौ कृष्णावनुभूतवल्लभासुरतरसौ।
खाण्डवमायतनाग वनमाविष्टौ विहंगमायतनागम्॥ १॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अपनी वल्लभाओं के सुरतरस (सुरतकेलिरस) का अनुभव कर चुकने पर भास्वर पराक्रम वाले वे दोनों—कृष्ण और अर्जुन विशाल नागोंवाले तथा पक्षियों के लिये आयतनरूप पर्वतों से युक्त खाण्डव वन में प्रविष्ट हुए।

व्याख्या—पूर्व आश्वास में श्रीकृष्ण और अर्जुन की विविध क्रीडाओं का वर्णन कर चुकने के पश्चात् कवि *'खाण्डवदाह' की कथा का वर्णन प्रारम्भ करता* है। खाण्डव वन अत्यन्त भयानक था। इसमें बड़े २ नाग (अश्वसेनादि) निवास किया करते थे तथा उस वन में अनेक पर्वत थे जिसमें पक्षिगण निवास किया करते थे॥ १॥

तस्य च पापिहितस्य क्रूरस्य वनस्य पादपापिहितस्य।
हृदि बद्धक्षोभाभ्या जगद्धितार्थं दधे दिधक्षोभाभ्याम्॥ २॥

अनुवाद—मनमें क्षुब्ध उन दोनों—कृष्ण और अर्जुन ने जगत् के कल्याण के लिये, पापियों के लिये हितकारी तथा वृक्षों से आच्छादित वन को जलाने की इच्छा की।

व्याख्या—इस भयानक खाण्डव वन को देखकर दोनों के मन में बहुत क्षोभ हुआ क्योंकि इसमें अनेक दुष्ट जीव जन्तुओं का निवास था जो सज्जनों को कष्ट दिया करते थे। अत. ससार के कल्याण के लिये दोनों ने इसे जलाने का विचार किया॥ २॥

अधिकतमोदात्ताभ्या दर्शनमग्निर्ददौ च मोदात्ताभ्याम्।
दग्धुं दाव दारुपेतमयाचत तौ तदा वन्दारू॥ ३॥

अनुवाद—अत्यन्त महान् उन श्रीकृष्ण और अर्जुन को प्रसन्न होकर अग्नि ने दर्शन दिये तथा काष्ठ से भरे (दारूपेत) खाण्डव वन को जलाने के लिये उन वन्दनशीलों (वन्दारु)—कृष्ण और अर्जुन—से याचना की।

व्याख्या—दोनों ने खाण्डव-वन को जलाने की जैसे ही इच्छा की वैसे ही उनके सामने अग्नि प्रकट हुआ और उसने भी उन्हीं की इच्छा के अनुकूल वन जलाने के लिये याचना की। शका होती है कि अग्नि तो स्वय इस

छोटे से कार्य के लिये समर्थ है तो फिर उसने इस कार्य के लिये इन दोनों से प्रार्थना क्यों की ? इस शंका का निरास आगे के श्लोक में अग्नि स्वयं करेगा ॥ ३ ॥

विपिनमिदं विलसद्भिर्बहुप्रकारैर्दुरासदं विलसद्भिः ।
सुरपतिरक्षति मत्तस्तक्षकसख्यात् सदैव रक्षति मत्त ॥ ४ ॥

अनुवाद—बिल में रहने वाले अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं से विलसित यह विपिन (अरण्य) दुरासद (अजेय) है। तक्षक नामक नाग के साथ मित्रता होने के कारण मत्त इन्द्र इस वन की सदैव मुझसे रक्षा किया करता है।

व्याख्या—खाण्डव वन की अजेयता और अपनी असमर्थता के भाव को अग्नि ने इस श्लोक में प्रकट किया है। प्रथम कारण तो यह कि इसमें अनेक जीव-जन्तु निवास करते हैं दूसरे इन्द्र इसकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—'विलसद्भिः' पद का अर्थ यहाँ पर बिल में निवास करने वाले जीव-जन्तु (सर्पादि) है। इस पद का निर्वचन इस प्रकार किया जायगा—बिले सीदन्ति इति बिलसदः तैः बिलसद्भिः।

'तक्षक' नामक एक नाग था जो पाताल के नागों में से मुख्य था। इसकी मित्रता इन्द्र से थी। वह इस वन में निवास किया करता था अतः अग्नि इस वन के जलाने में असमर्थ था ॥ ४ ॥

तद्वृकगोमायुवयोरङ्कुगणैर्भुजबलानुगोऽस्मा युवयोः ।
द्विरदवराहारहितं वनमशितुं प्रार्थये वराहारहितम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—इसलिये तुम दोनों की ही भुजाओं के समान बलवाला मैं भेड़िये, शृगाल, पक्षी और मृगगणों के साथ इस वन में रहता हूँ। अतः मैं तुम लोगों से हाथी और शूकरों से भरे हुए तथा सुन्दर आहारवाले इस वन को जलाने के लिये प्रार्थना करता हूँ।

व्याख्या—खाण्डव वन में बड़े-बड़े हाथी और शूकर निवास करते हैं तथा यह वन सज्जनों के लिये कष्टकर है अतः अग्नि उसे दग्ध करने के लिये कृष्ण और अर्जुन से प्रार्थना करता है।

'वन' के साथ 'अश्' धातु का जो प्रयोग यहाँ पर कवि ने किया है उसका अर्थ 'दह्' से है न कि 'अद्' से ॥ ५ ॥

इत्थं सादरमुक्तः प्रतिजज्ञे जिष्णुरञ्जसा दरमुक्तः ।
हृतरिपुरंहोमायः स्फीतस्य वनस्य सत्वरं होमाय ॥ ६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सादर निवेदन किये गये अर्जुन ने—जो शत्रुओं के

वेग और माया का हरण करने वाला है—भय-मुक्त होकर शीघ्र ही विस्तृत खाण्डव वन को जलाने के लिये प्रतिज्ञा की।

व्याख्या—अग्नि की प्रार्थना सुनकर अर्जुन ने किसी इन्द्रादि की चिन्ता किये बिना वन जलाने की प्रतिज्ञा कर ली। उसके भय-मुक्त होने का दूसरा कारण यह भी था कि उसने अनेक शत्रुओं के पराक्रम और छल को नष्ट कर दिया था अतः इस वन को जलाना उसके लिये कोई बड़ी बात न थी॥ ६॥

इह पवमानसखेद् किंचन कृत्ये करोति मानसखेदम्।
मम पुनरामायानि स्थिराणि शस्त्राणि शरशरासनादीनि॥ ७॥

अनुवाद—'वायु के मित्र अग्नि वन-दाह रूप इस तुच्छ कार्य के लिये मन में दुःखी हो रहे हैं। यदि मुझे दृढ़ धनुष-बाणादि शस्त्र प्राप्त हो जायें तो यह कार्य मेरे लिये कुछ भी नहीं है।'

व्याख्या—अर्जुन ने प्रतिज्ञा करने के बाद अग्नि से ऐसा कहा कि आप चिन्ता न करें। यदि मुझे किसी प्रकार धनुष बाण प्राप्त हो जायँ तो यह कार्य मेरे लिये तनिक भी कठिन नहीं॥ ७॥

इति शुभमायाचित्रे गाण्डीव नाम विविधमायाचित्रे।
दैवतकार्यं तेन स्मृत्वा साध्यं रणेऽधिकायन्तेन॥ ८॥
तस्मै चाप नगतः कर्कशमतिभीषणं रुचा पन्नगतः।
स खलु ददावरुणेन स्फुरद्गुणेनाहृतं तदा वरुणेन॥ ९॥

अनुवाद—उसके इस प्रकार कहने पर, विविध-माया के कारण विचित्र युद्ध में शत्रुओं को समाप्त करनेवाले इसके (अर्जुन के) द्वारा देवताओं का कार्य सिद्ध होगा—यह सोचकर उस अग्नि ने, पर्वत से भी अधिक कठोर, कान्ति में सर्प से भी अधिक भीषण, वरुण के द्वारा (अग्नि को) दिये गये तथा लाल प्रत्यंचा से चमकते हुए गाण्डीव नामक धनुष को अर्जुन के लिये प्रदान किया।

व्याख्या—अग्नि ने अर्जुन को वह गाण्डीव धनुष दिया जो वरुण ने उसे प्रदान किया था। गाण्डीव की प्रशंसा में कवि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उससे उसकी अलौकिकता और दिव्यता का अनुमान होता है।

यह आख्यान महाभारत के आदिपर्व में 'खाण्डवदाह' के प्रसंग में सविस्तार देखा जा सकता है॥ ८–९॥

अश्वांस्तान्मद्बलान्सह शरधियुगेन भास्वता बद्धबलान्।
स ददौ कपिलसितेन ध्वजेन युक्तं रथं च कपिलसितेन॥ १०॥

अनुवाद—उस अग्नि ने दो अक्षय (भास्वता) तूणीरों (तरकस) के साथ, विशाल शरीरवाले बल-सम्पन्न श्वेत घोड़े अर्जुन को दिये तथा वानर-श्रेष्ठ हनुमान से सुशोभित कपिल और श्वेत रंगवाली ध्वजा के साथ, रथ भी अर्जुन को प्रदान किया।

व्याख्या—इस प्रकार उस अग्नि ने युद्ध के लिये पाँच वस्तुएँ अर्जुन को प्रदान कीं—गाण्डीव, तूणीर, घोड़े, रथ और ध्वज। उसके द्वारा दिये गये घोड़े भी साधारण न थे अपितु बल-सम्पन्न और श्वेत रंग के थे। ध्वजा में हनुमान जी सुशोभित थे। इस प्रकार दिव्य वस्तुओं को प्राप्त कर अर्जुन युद्ध के लिये चल पड़ा ॥ १० ॥

अभिभूताखण्डलतस्तद्बलदस्तदनु वेष्टिताखण्डलतः।
दीप्तिमगादनलोऽलं बिभ्राणो हेतिशतमगादनलोलम् ॥ ११ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'भास्वता' पद का अर्थ यदि 'दीप्तिमता' किया जायेगा तो संभवतः असंगत होगा अतः उसका अर्थ 'अक्षय' लेना पड़ेगा ॥ ११ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् इन्द्र को भी पराभूत करनेवाले अर्जुन के बल से अग्नि, सम्पूर्ण लताओं में व्याप्त तथा पर्वत के भक्षण के लिए चंचल सैकड़ों लपटों को धारण किए हुए तेजी से जल उठी।

व्याख्या—अर्जुन से आश्वासन प्राप्त कर अग्नि सैकड़ों लपटों के साथ जल उठी। उसकी वे लपटें मानों सैकड़ों जिह्वाओं के समान पर्वत को खा जाने के लिये चचल हो उठीं थीं। उसने ऐसा उग्र रूप धारण कर रखा था कि जगल के सम्पूर्ण वृक्ष और लताओं में वह व्याप्त हो गयी ॥ ११ ॥

कृतनिजकक्षेमहति क्षयमेष्यति तक्षकस्य कक्षे'महति।
अमुमारब्धारावान्घनान्नुदन्नवाप हरिरब्धारावान् ॥ १२ ॥

अनुवाद—अपने लोगों के सुख-शान्ति के नष्ट होने पर शब्द करनेवाले मेघों को प्रेरित करते हुए जल की (अविच्छिन्न) धारावाले इन्द्र (खाण्डव वन के जलाने के लिये उद्यत) अग्नि के समीप पहुँचे।

व्याख्या—अग्नि ने उग्र रूप धारण करके जब तक्षक के महान् जंगल को नष्ट कर दिया तो क्रोध से भरे हुए इन्द्र ने मेघों को बरसने की आज्ञा दी जिससे कि वह अग्नि समाप्त हो सके तथा जल की धारा के साथ अग्नि के पास पहुँचा। परन्तु उसकी सारी कोशिशों को अर्जुन ने विफल कर दिया ॥ १२ ॥

स्तव्धपतत्त्रिदशाशां शरगृहमकृतार्जुनः पवत्त्रिदशाशाम्।

रुद्धा बद्धारामा बहिरेव ततो भवद्धारा सा ॥ १३ ॥

अनुवाद—अर्जुन ने बाणों का अत्यन्त घना 'शरगृह' बना दिया जिससे दसों दिशाओं में पक्षी रुक गये तथा देवताओं (इन्द्र-पक्ष के) की आशाएँ नष्ट होने लगीं। इसके बाद (कुपित इन्द्र के द्वारा बरसाई जाने वाली) वह जल-धारा निःशब्द होकर बाहर ही रुक गयी।

व्याख्या—अर्जुन ने अपने बाणों से जंगल के चारो ओर ऐसा घर बनाया कि अग्नि को बुझाने के लिये जलधारा अन्दर प्रवेश हो न कर सकी और बाहर ही रुक गयी। इस प्रकार इन्द्र का अग्नि को बुझाने का प्रयास असफल रहा ॥ १३ ॥

तदनु घनोदकरोधात्कोपं विबुधाधिपोऽरिनोदकरोऽधात्।
कृतसन्नाहबलोऽभी रभसादागच्छदर्जुनाहवलोभी ॥ १४ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् बादलों के जल को रोक देने से शत्रुओं को व्यथित करनेवाले देवताओं के राजा इन्द्र अर्जुन के प्रति कुपित हो उठे। इसके बाद अर्जुन के साथ युद्ध करने की इच्छा से अस्त्र शस्त्र से सेना को सज्जित करके तथा निर्भय होकर इन्द्र तुरन्त हो (युद्ध के लिये) आ गये।

व्याख्या—अपने प्रयास को असफल होता हुआ देखकर इन्द्र का कुपित होना स्वाभाविक ही था क्योंकि वे बड़े-बड़े शत्रुओं को भी व्यथित करनेवाले थे तथा देवताओं के राजा थे। अत किसी साधारण मनुष्य से पराजित हो जाना उनके लिये अपमानजनक था ॥ १४ ॥

विजितावायमरुद्भिः शरनिकरैरश्विवसुशिवार्यमरुद्भिः।
प्राप्तुं तुङ्गजवं तं जिगाय जिष्णुः शतक्रतुं गजवन्तम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अर्जुन ने महान् वेग को प्राप्त करने के लिये ऐरावत हाथी पर बैठे हुए उस इन्द्र को, अनिवारणीय मरुद् को जीत लेनेवाले तथा (इन्द्र की ओर से आनेवाले) अश्विनीकुमार, वसु, रुद्र और अर्यमा (सूर्य) को भी रोक देनेवाले बाणसमूहों से जीत लिया।

व्याख्या—वायु के वेग को भी रोक देना कोई सरल कार्य नहीं। पर अर्जुन के बाण वायु से भी अधिक आशुगामी थे। इन्द्र के पक्ष में जो भी देवता आते उनको वहीं का वहीं अर्जुन के बाण रोक देते। इस प्रकार अर्जुन ने इन्द्र को पराजित कर दिया ॥ १५ ॥

तदनु समिद्धो महितं सपक्षिसंघं वनं समिद्धोमहितम्।
सलिलं जलदे वपति स्वैरं वह्निर्ददाह जलदेवपतिः ॥ १६ ॥

अनुवाद—इसके बाद मेघों के बरस चुकने पर वरुण से रक्षित अग्नि ने,

होम में काम आनेवाले समिधाओं तथा पक्षि-समूह से व्याप्त महान् वन (खाण्डव) को स्वेच्छापूर्वक जलाया।

व्याख्या—वरुण देवता से रक्षित होकर अग्नि ने उस खाण्डव-वन को भस्मसात् कर दिया॥ १६॥

तेन यदा समदाहि भ्रातं वनमुत्थितापदा समदाहि।
शिखिना सन्नागेन स्थितमत्र न तक्षकेण सन्नागेन॥ १७॥

अनुवाद—जब वन दाहरूप विपत्ति को जन्म देनेवाले अग्नि ने मतवाले सर्प-समूहवाले वन को अच्छी प्रकार जला डाला तो फिर आश्रयभूत सुन्दर पर्वतवाला (सन्नागेन) 'तक्षक' नामक सुन्दर नाग (सन्नाग) भी उस वन में न ठहर सका अर्थात् वह भी चल दिया।

व्याख्या—अपने मित्र इन्द्र के पराजित हो जाने पर तथा अग्नि द्वारा सम्पूर्ण वन के जला दिये जाने पर तक्षक नामक नाग भी वहाँ न रह सका और उस वन को छोड़कर वह चल दिया॥ १७॥

तनयं माता तस्य व्यथितं विरहे ससंभ्रमा तातस्य।
वसतिर्वत्सलतायाः निगीर्य वनराजितोऽद्रवत्सलतायाः॥ १८॥

अनुवाद—वात्सल्य का आयतन माता (तक्षक पत्नी) घबड़ा कर, तक्षक के विरह में व्यथित अपने पुत्र (अश्वसेन) को निगल कर लताओं से भरी वन-पंक्ति से भाग निकली।

व्याख्या—तक्षक के चले जाने पर उसका पुत्र अश्वसेन व्याकुल हो उठा। अतः उसकी माँ उसे छिपाकर उस वन से भाग निकली॥ १८॥

तां च ततान नभोगां कृत्तगलामर्जुनस्तताननभोगाम्।
तत्र समुत्सर्पं तं हृतपुच्छमपाद्धरिः समुत्सर्पन्तम्॥ १९॥

अनुवाद—आकाश में जाती हुई उस नागिन के मुख और फण फैलाने पर अर्जुन ने उसके गले को काट दिया तथा दौड़ते हुए उस सर्प (अश्वसेन) की पूँछ को अर्जुन ने काट दिया फिर इन्द्र ने सहर्ष उसकी (अश्वसेन) रक्षा की॥ १९॥

स्तब्धरविप्रभविष्णुः शरणागतमत्र वनभुवि प्रभविष्णुः।
च्युतमनले नररक्षःखादिनि पार्थो मयं बलेन ररक्ष॥ २०॥

अनुवाद—जलती हुई वन-भूमि पर, नर और राक्षसों को खानेवाली अग्नि में गिरे हुए शरणागत 'मय' की रक्षा अर्जुन ने की। (यह अर्जुन) जिसके साथ सूर्य की प्रभा के समान विष्णु (श्रीकृष्ण) थे तथा जो प्रभावशील था।

व्याख्या—मयासुर की रक्षा अग्नि से अर्जुन ने की। यह मयासुर असुरों का स्वष्टा (बढ़ई) था जिसने कि आगे चलकर युधिष्ठिर के लिये सुन्दर 'सभा' का निर्माण किया ॥ २० ॥

त्रिपिनमपातिततोयं दग्ध्वा तृप्ते तनूनपाति तमोऽयम् ।
पार्थं दत्तक्षेम दैतेयानां तदावदत्तक्षेमम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—जल का स्पर्श न कर सकनेवाले खाण्डव वन को जलाकर अग्नि (तनूनपाति) के शान्त हो जाने पर, संरक्षण प्रदान करनेवाले अर्जुन से, असुरों के तक्षक (बढ़ई) मयासुर ने यह कहा।

व्याख्या—प्रत्युपकार करने के विचार से मयासुर ने अग्नि के शान्त होने पर अर्जुन से जो कुछ कहा वह आगे श्लोकों में कवि उपनिबद्ध करता है ॥ २१ ॥

वेष्टितवीरुच्चक्राद्दहनाद्दहतो महाटवीरुच्चक्रात् ।
अपि च सुरासुरहन्तु स्फुटं त्वया पालितः परासुरहं तु ॥ २२ ॥

अनुवाद—हे पार्थ ! महान् जङ्गल को जलानेवाली, पादप-समूहों में व्याप्त, देव और राक्षसों को (समान रूप से) नष्ट करनेवाली तथा ज्वाला-रूप सैन्यवाली अग्नि से आपने मुझ मृतप्राय की बाल-बाल रक्षा की है।

व्याख्या—अग्नि से रक्षा करनेवाले अर्जुन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए अग्नि की जिस भीषणता का वर्णन मयासुर ने उपर्युक्त श्लोक में किया है उससे यह अनुमान निकलता है कि अग्नि ने अपना उग्र रूप धारण कर महान् अरण्य को चार-चार कर दिया अतः ऐसी अग्नि से रक्षा करने-वाला अर्जुन वीर होने के साथ साथ निश्चित ही दयालु भी है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—अग्नि के लिये 'सुरासुरहन्तृ' विशेषण प्रयुक्त करके कवि ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि वह सबके साथ समान व्यवहार करने वाली है। वह जिस प्रकार से असुरों को राख करती है उसी प्रकार देवताओं को भी। उसमें किसी भी प्रकार की भेदभावना नहीं। इसी का समानार्थक २० वे श्लोक में भी एक विशेषण 'नरत्वखादिन्' प्रयुक्त किया गया है ॥२२॥

तत्तव भवतादिष्टं मद्वचनं मनुजवीर भवतादिष्टम् ।
इष्टं करवै भवतस्त्वष्टारं मामवेहि करवैभवतः ॥ २३ ॥

अनुवाद—हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो। आपने मेरे वचनों को आज्ञा दी है (अर्थात् 'तुम बोलो' इस प्रकार आपने मुझे आदेश दिया है)। अतः आपकी इच्छा पूरी करूँगा। हाथों की निपुणता के कारण आप मुझे (दैत्यों का) त्वष्टा ही समझें।

व्याख्या—मयासुर ने अर्जुन को आशीर्वाद दिया तथा अपना पूर्ण परिचय कराया। उसने अर्जुन से उनका मनोरथ जानने के लिये पूछा ॥ २३ ॥

इति वचनमनामयतः श्रुत्वा पार्थोऽथ शोभनमना मयतः।
उपपन्नाभिजनानामुचितमुवाचाभि नलिननाभिजनानाम् ॥ २४ ॥

अनुवाद—कुशल मयासुर से इस प्रकार सुनकर प्रमुदित मनवाले अर्जुन ने योग्य-कुल में उत्पन्न हुए श्रीकृष्ण के सेवकों के सम्मुख यह उचित बात कही।

व्याख्या—कृष्ण का नाम 'नलिननाभि' दिया गया है क्योंकि उनकी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई है जिस पर ब्रह्मा विराजमान हैं। अर्जुन ने यह उचित न समझा कि अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये वे स्वयं कुछ कहें अतः उन्होंने उससे यह उचित बात कही ॥ २४ ॥

न स्वयमसुर क्षणतः प्रत्युपकृतये,वरेयमसुरक्षणतः।
जगदभिरामतमस्य क्रियतां कृष्णस्य मद्गिरा मतमस्य ॥ २५ ॥

अनुवाद—हे मयासुर! क्षणमात्र के तुम्हारे प्राणों की रक्षा के कारण तुम्हारे प्रत्युपकार के योग्य मैं स्वयं नहीं हूँ। मेरी ओर से तीनों लोकों में प्रशंसनीय श्रीकृष्ण के मत को ही आप (पूरा) करें (अर्थात् वे जैसा कहें वैसा ही आप करें)।

व्याख्या—इस श्लोक में अर्जुन की कृष्ण के प्रति श्रद्धा और आदर की भावना झलक रही है। कृष्ण मयासुर की रक्षा करने से तनिक भी उद्धत नहीं हुए। प्रत्युपकार करने के लिये वे मयासुर से कृष्ण की ही इच्छा की पूर्ति करने को कहते हैं ॥ २५ ॥

तदनु च नरकान्तेन प्रोक्तं श्रुत्वैतदखिलनरकान्तेन।
राज्ञो भासुरधाम्न. क्रियतामधिकप्रभा सभा सुरधाम्नः ॥ २६ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् यह सुनकर सारे मानवों के लिये प्रियतम तथा नरकासुर का अन्त करनेवाले श्रीकृष्ण ने मय से कहा—(हे मय!) प्रकाशमान नेत्रवाले राजा युधिष्ठिर के लिये, (सुरधाम्नः) देवताओं के घर (स्वर्ग) से भी अधिक शोभावती सभा का निर्माण कीजिए।

व्याख्या—कृष्ण ने अर्जुन की उस विनम्रता को देखकर पाण्डवों के हित की ही बात सोची। श्रीकृष्ण और अर्जुन को एक दूसरे पर पूरा भरोसा था। एक दूसरे की भावनाओं का ख्याल रखना उनका स्वभाव था। अत एव श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के लिये ऐसे सभागृह के बनाने का आदेश दिया जो देवताओं के स्वर्ग से भी अधिक आकर्षक और प्रकाशमय हो ॥ २६ ॥

देवसमोदन्ताभ्यामिति कृत्वा सविद समोदं ताभ्याम् ।
मयदवसरसमयाभ्यां प्रापे धर्मात्मजोऽथ सरसमयाभ्याम् ॥ २७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सहर्ष (गृह निर्माण की) बात पक्की करके, देवताओं के समान कीर्तिरूप वृत्तान्त वाले, उचित समय पर गमन करनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन मयासुर को (आज्ञा देकर) प्रसन्न करके युधिष्ठिर के पास गये।

व्याख्या—सभागृह के निर्माण करने की बात को पक्की करके श्रीकृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिर को लाने के लिये उचित समय पर पहुँचे। इधर कृष्ण से गृह निर्माण की आज्ञा प्राप्त कर मयासुर भी प्रसन्न हो गया ॥ २७ ॥

तेन च तरसा रचिता सभा नरेन्द्राय चारुतरसारचिता ।
तां च सदानन्दत्वादुद्गतपुलकोऽविशत्स दानं दत्त्वा ॥ २८ ॥

अनुवाद—उस मयासुर ने युधिष्ठिर के लिए सुन्दर कारीगरी से व्याप्त सभा का यथाशक्ति निर्माण किया। आनन्द के कारण रोमाञ्चित युधिष्ठिर ने दान देकर उस सभागृह में प्रवेश किया।

व्याख्या—अत्यन्त सुन्दर सभा को देखकर युधिष्ठिर प्रसन्नता के कारण पुलकित हो उठे। उन्होंने मयासुरादि को दान देकर सभा में प्रवेश किया ॥ २८ ॥

द्रष्टुमना मयजातां समागमत्तां सभामनामयजाताम् ।
सततमुदारा जनता तस्थौ तत्रैव मा मुदा राजनता ॥ २९ ॥

अनुवाद—मयासुर के द्वारा रची गयी कारीगरी से सम्पन्न सभा को देखने की इच्छा से जनता वहाँ आई (कुल और चरित्र से) उदार जनता वहीं पर रहने लगी। वहाँ क्षत्रिय-गण सदैव उनकी स्तुति करते थे।

व्याख्या—मयासुर की कारीगरी को देखने के लिये राजा युधिष्ठिर के साथ उनका सारा परिवार भी वहाँ आकर रहने लगा ॥ २९ ॥

अमलीमसभावं तं द्रष्टुमना मुनिरनुत्तमभावन्तम् ।
वीणाहस्तो भरतश्रेष्ठं समगाज्जगदनुमहस्तोभरतः ॥ ३० ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ प्रभा और शुद्ध भाव-युक्त उस भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर को देखने के लिए हाथों में वीणा लिए हुए तथा संसार पर अत्यधिक कृपालु नारद मुनि पधारे।

व्याख्या—युधिष्ठिर के दर्शन के लिए तथा उन्हें राजसूय यज्ञ के हेतु प्रेरित करने के लिए हाथों में वीणा लिए हुए नारद मुनि आए। नारद मुनि का परिचय देना यहाँ पर कोई आवश्यक नहीं। हाथों में वीणा लिए इस लोक

से दूसरे लोक में आना-जाना तथा दुष्टों का संहार करके संसार पर अनुग्रह आदि करना ही नारद मुनि के प्रमुख कार्य हैं ॥ ३० ॥

स वचोभी राजनयं निगद्य निखिलं धियो गभीरा जनयन् ।
आत्तपरमसौमुख्यं नृपमशिषत्कर्तुमध्वरमसौ मुख्यम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—उन नारद मुनि ने सम्पूर्ण राजनीति का उपदेश देकर अपनी वाणी से गंभीर बुद्धि (विचारों) को उत्पन्न करते हुए, हर्ष के कारण सुन्दर मुखवाले राजा युधिष्ठिर को मुख्य (राजसूय) यज्ञ करने के लिये आज्ञा दी।

व्याख्या—नारद मुनि हर प्रकार की ही विद्या में पारगत हैं। अतः राजा के पास जाने पर वे राजाओं को राजनीति का उपदेश देते हैं और भक्तों के बीच में भगवन्नाम-संकीर्तन की महिमा का वर्णन करते हैं। नारद मुनि ने युधिष्ठिर को राजसूय-यज्ञ करने के लिए कहा। राजसूय-यज्ञ वह राजा करता है जो सारी पृथिवी को जीत लेता है। अत: राजाओं के लिए यह यज्ञ प्रमुख-यज्ञ माना जाता है ॥ ३१ ॥

सोऽपि समुद्यदुपायः स्वं सूत प्राहिणोत्समुद्यदुपाय ।
सद्यः सादरहसित हरिरपि कुरुराजमाससाद रहसि तम् ॥ ३२ ॥

अनुवाद—राजा युधिष्ठिर ने भी मन में यज्ञ करने के लिये उपायादि का चिन्तन करते हुए (समुद्यदुपाय) सहर्ष, यादवों के राजा श्रीकृष्ण को लाने के लिये सूत (सारथि) को भेजा। भगवान् श्रीकृष्ण भी सादर हँसते हुए, तुरन्त ही, उन कुरुराज युधिष्ठिर के पास एकान्त में आये।

व्याख्या—नारद मुनि से राजसूय की बात सुनकर युधिष्ठिर ने सूत को भेजकर सबसे पहले श्रीकृष्ण को बुलवाया। क्योंकि इस विषय में उनसे भी वार्तालाप करना आवश्यक था। दूसरे जब तक सारी पृथिवी को जीत न लिया जाये तब तक इस यज्ञ को सम्पन्न नहीं किया जा सकता। जरासंध नामक राजा का वध बिना श्रीकृष्ण की मदद के नहीं किया जा सकता था। अतः उसके वध के उद्देश्य से उन्हें बुलाना परमावश्यक था ॥ ३२ ॥

तथ्यगिरा संधाय प्रभुणा स प्राहिणोज्जरासंधाय ।
दधतमफल्गु नवं तं हार्दं हरिमेव भीमफल्गुनवन्तम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—उस युधिष्ठिर ने सत्यवचनवाले प्रभु श्रीकृष्ण से मिलकर, महान् तथा नई मित्रता को धारण करनेवाले श्रीकृष्ण को भीम और अर्जुन के साथ जरासंध के वध के लिए भेजा।

व्याख्या—युधिष्ठिर ने सबसे पहले श्रीकृष्ण का आतिथ्य-सत्कार किया

और फिर उन्हें जरासन्ध के वध के लिये भेजा। श्रीकृष्ण के साथ में भीम और अर्जुन भी गये ॥ ३३ ॥

सोऽपि बृहद्रथजन्तु प्रविश्य मागधपुरं बृहद्रथजं तु।
मारुतिना वधमनयन्निर्गाडतनृपति रणावनावधमनयम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—उन श्रीकृष्ण ने भी महान् रथ और प्राणियों से युक्त 'मागधपुर' में प्रवेश करके रणभूमि पर, अधम नीतिवाले तथा अनेक राजाओं को (शृंखला से) बाँध लेनेवाले बृहद्रथ के पुत्र जरासन्ध को भीम के द्वारा मृत्यु को प्राप्त कराया (अर्थात् जरासंध का वध किया)।

व्याख्या—जरासंध का अन्याय पृथिवी पर प्रसिद्ध था। उसने पृथिवी के अनेक राजाओं को कारागार में डाल रखा था। उसका वध किसी साधारण मनुष्य के द्वारा संभव न था क्योंकि उसके शरीर के टुकड़े करने के बाद भी आपस में जुड़ जाते थे। भीम ने इसका वध श्रीकृष्ण के निर्देश और संकेत पर किया ॥ ३४ ॥

अथ सदुपायनयोगामनुजैर्निर्जित्य लसदुपायनयो गाम्।
स्वनिचयमतनुतयाऽऽदधन्नृपो राजसूयमतनुत यागम् ॥ ३५ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर सामादि उपाय और राजनीति से सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिर ने, भीमादि के द्वारा सुन्दर उपहारों से सम्पन्न पृथिवी को जीत कर, अधिकता के कारण धनराशिरूप पर्वतवाले राजसूय यज्ञ को सम्पन्न करने का प्रबन्ध किया।

व्याख्या—उस राजसूय यज्ञ के लिये युधिष्ठिर ने धनराशि के पर्वत लगा रखे थे। अतनुतया महत्त्वेन स्वनिचयं स्वस्य धनस्य निचयः समूहस्तमगं पर्वतम्। धनराशिमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

तं गुरुतरकरभारप्रभुग्नकण्ठोष्ट्रकाश्वतरकरभाः।
वारिधिवेलापालीवेष्टितभूवेष्टसंभवेलापालीः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—भारी करके भार (राजभाग) से झुकी हुई गर्दनोंवाले ऊँट, घोड़े तथा हाथी के बच्चों के साथ, समुद्रों की तट-पंक्ति से आवेष्टित भूमि-वलय पर उत्पन्न होनेवाले राजाओं के समूह उन युधिष्ठिर के पास गये।

व्याख्या—भारी पृथिवी जीतने के पश्चात् युधिष्ठिर को राज-समूह कर देने के लिये आया। राजदेयांश के भार से घोड़े, ऊँट और हाथी के बच्चों की गर्दनें झुक गयी थीं ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—'इला' नाम पृथिवी का है। उसकी रक्षा करने वालों को 'इलाप' (राजा) कहा गया है। 'गोभूवाचस्त्विला' इत्यमरः।

'आर' पद का अर्थ 'ययौ' है। 'ऋ-गतौ' इस धातु का लिट् लकार में 'आर' रूप निष्पन्न हुआ है॥ ३६॥

अधिकतरामेयजने न्ययुङ्क्त धर्मात्मजोऽभिरामे यजने।
अवगतनानामनुजं सहदेवं पूजने जनानामनुजम्॥ ३७॥

अनुवाद—अपार जनसमूह से सुन्दर उस राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर ने लोगों के पूजन (सत्कारादि) में अपने छोटे भाई सहदेव को नियुक्त किया जो नाना प्रकार के लोगों को जानते थे।

व्याख्या—उस राजसूय यज्ञ में अधिक संख्या में लोग आये थे जिनका परिचय किसी एक व्यक्ति को हो सकना कठिन था। प्रायः ऐसे आयोजनों में अतिथियों के सत्कार के लिए ऐसे व्यक्ति को लगाया जाता है जो अधिक लोगों से परिचित हो। सहदेव इस कार्य में निपुण थे। वे अनेक प्रकार के लोगों से परिचित थे। अतः युधिष्ठिर ने लोगों के पूजन में उन्हें नियुक्त किया॥३७॥

अपि च विरोचितवेदीभागमपृच्छद् गुरुं गिरोचितवेदी।
इह शान्तनवैकस्मै वदार्घ(मग्र)पूजां नराय तनवै कस्मै॥ ३८॥

अनुवाद—फिर (दूसरे की) वाणी से ही (उसका) उचित ज्ञान कर लेनेवाले युधिष्ठिर ने वेदी भाग को मण्डित करनेवाले गुरु भीष्म पितामह से पूछा—हे भीष्म! इस यज्ञ में किस एक व्यक्ति की अर्घ-पूजा (या अग्रपूजा) करूँ, यह आप बतलावें।

व्याख्या—यज्ञ में किसी एक श्रेष्ठ व्यक्ति को पूज्य मानकर सबसे पहले उसे अर्घ्यदान दिया जाता है। उसके पैर आदि धोये जाते हैं। उसे उच्चासन प्रदान किया जाता है फिर उसके बाद शेष यज्ञ-विधान होता है। अतः इस यज्ञ में यह स्थान किसे दिया जाये—यह जानने के लिये युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा॥ ३८॥

इति सदृशं तनुजेन प्रोक्ते धर्मस्य वचसि शतनुजेन।
उक्तं तोयजनेत्रप्रान्ते प्रश्नोऽयमनुचितो यज्ञनेत्र॥ ३९॥

अनुवाद—धर्म-पुत्र युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर शान्तनु-पुत्र भीष्म ने यह उचित बात कही—'जिस यज्ञ में कमल के समान नेत्रों वाले भगवान् कृष्ण हों वहाँ यह प्रश्न उचित नहीं।'

व्याख्या—भीष्म ने प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण को ही उच्चासन प्राप्त करने का अधिकारी बतलाया। जिस यज्ञ में श्रीकृष्ण जैसे पूज्य महापुरुष विद्यमान

हाँ यहाँ पर 'अग्रपूजा किसकी की जाये' यह प्रश्न ही अनुचित है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'प्रान्त' पद का अर्थ सामीप्य है। अतः श्लोक की दूसरी पंक्ति का यदि इस प्रकार अर्थ किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा—'तोयजनेत्रस्य पुण्डरीकाक्षस्य प्रान्तं सामीप्यं यत्रैतादृशोऽत्र यजनेऽयं प्रश्नोऽनुचित' ॥ ३९ ॥

किं तुलितामर साक्षादवतीर्णं भागमेव तामरसाक्षात् ।
दानवसेना ध्वन्तं स्वामिनमेनं न बुध्यसेऽनाद्यन्तम् ॥ ४० ॥

अनुवाद—हे अमर-सदृश युधिष्ठिर! पुण्डरीकाक्ष श्रीविष्णु के साक्षात् अंश को लेकर अवतीर्ण अनादि और अनन्त इन स्वामी कृष्ण को आप (क्या) नहीं जानते जो दानव-सेना को चूर्ण करनेवाले हैं।

व्याख्या—इस श्लोक में युधिष्ठिर को भीष्म से 'तुलितामर' शब्द से सम्बोधित किया गया है क्योंकि सत्त्वप्रधान प्रकृति के कारण देवता उनके समान थे। दूसरे काकु के द्वारा उन्होंने श्रीकृष्ण का परिचय दिया है। ये *श्रीकृष्ण साक्षात् श्री विष्णु के अंश को लेकर ही इस धरती पर अवतीर्ण हुए* हैं। अत इनके समक्ष होने पर भला और किसे अर्घपूजा के योग्य कहा जा सकता है ॥ ४० ॥

जननिलयो निरया गा यश्च विचिक्ये कृताब्जयोनित्यागाः ।
कर्तुमिव स्वान्वेषस्फुटनिष्क्रयमक्षिजितविवस्वान्वेषः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—मानवों के आश्रय तथा अपनी आँखों के तेज से सूर्य को भी जीतनेवाले जिन स्वामी (विष्णु) ने मानों अपने अन्वेषण का मूल्य चुकता करने के लिये ब्रह्मा का त्याग करनेवाली वेदरूप नित्य वाणी को (मत्स्य का रूप धारण करके) खोजा।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में विष्णु के मत्स्यावतार का उल्लेख किया गया है। मत्स्य का रूप धारण करके प्रलयकालीन समुद्र से विष्णु ने वाणीरूप वेदों का उद्धार किया। *यह खोज उन्होंने क्यों की? इस प्रश्न पर बड़ी* सुन्दर उत्प्रेक्षा कवि वासुदेव ने की है। विष्णु ने सोचा कि जिस प्रकार वेद रूप वाणी के द्वारा मैं खोजा गया हूँ (अर्थात् मेरे स्वरूप की व्याख्या की गयी है) उसी प्रकार उसके निष्क्रय रूप से मैं भी इस वेदरूप वाणी को खोजूँगा।

वेदों द्वारा अब्जयोनि अर्थात् ब्रह्मा का त्याग क्यों किया गया इस विषय में टीकाकार ने दो दो ऊहापोह किये हैं। प्रथम यह कि ब्रह्मा के हाथों से दैत्यों के राजा ने वेदों को छीन लिया दूसरे यह कि कठिनता के कारण ब्रह्मा वेदों को समझ न सके अत वेदों ने उनका त्याग कर दिया ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'जननिलयो' पद के स्थान पर यदि 'जलनिलयो' कर दिया जाये तो अर्थ और भी अधिक स्पष्ट और सुन्दर होगा। 'जलनिलयो' का अर्थ मत्स्य होने से मत्स्यावतार की कल्पना भी सुबोध हो जायेगी।

कवि वासुदेव ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार के वाचक पद 'तु' और 'इव' का प्रयोग किया है। मत्स्य के जल में प्रवेश करने की उत्प्रेक्षा 'अन्वेषण' से की गयी है और फिर उस अन्वेषण की भी सम्भावना निष्क्रयरूप से की गयी है।

प्रस्तुत श्लोक में कवि ने अपनी प्रतिभाशक्ति का जैसा परिचय दिया है वह वास्तव में स्तुत्य है ॥ ४१ ॥

उदधिपयश्चक्रान्तः कच्छपवेशं विधाय यश्च क्रान्तः।
पृष्ठेनागाभोऽगं मन्दरमुदधादुदूढनागाभोगम् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—सर्वत्रगामी प्रकाश युक्त (अथवा पर्वततुल्य—आगाभो या अगाभो) जिस स्वामी (विष्णु) ने कच्छप रूप को धारण करके समुद्र के जल-समूह में प्रवेश किया तथा सर्पों के फन (या शरीर) को धारण करने वाले मन्दराचल को जिसने अपनी पीठ पर धारण किया।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में भीष्म के द्वारा विष्णु के कच्छपावतार का वर्णन है। कच्छप का शरीर धारण कर भगवान् विष्णु ने समुद्र में प्रवेश किया तथा अपनी पीठ पर मन्दराचल का भार सहन किया। यह आख्यान पुराणों में दर्शनीय है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पृष्ठेनागाभो' पद में सन्धि-विच्छेद के कारण 'अगाभ' और 'आगाभ' पृथक्-पृथक् अर्थों की संभावना विष्णु के विशेषणरूप से की जा सकती है। इसी प्रकार 'आभोग' पद के भी फण और शरीर दोनों अर्थ किये जा सकते हैं जिनका निर्देश शाब्दिक अनुवाद में हम ऊपर कर आये हैं ॥ ४२ ॥

यश्च धरण्याक्षेपस्फुटवैरिण्युपगते हिरण्याक्षेपः।
सपदि वराहवपुष्टां तामुद्धर्तुं दधौ वराहवपुष्टाम् ॥ ४३ ॥

अनुवाद—और जिसने कि भूमि का हरण करनेवाले शत्रु हिरण्याक्ष नामक असुर के जल के समीप पहुँचने पर तत्क्षण ही आदि शूकर के शरीर पर स्थित उस भूमि का उद्धार करने के लिये, युद्ध के लिए पुष्ट वराह-शरीर को धारण किया।

व्याख्या—इस श्लोक में भीष्म ने विष्णु के वराहावतार का वर्णन किया

है जब कि हिरण्याक्ष राक्षस के द्वारा छीनी जाती हुई धरती को, अपने दाँत के अग्रभाग पर उठाकर, जल में डूबने से रक्षा की थी ॥ ४३ ॥

धृतनरसिंहाकारं रिपुगणमानीय लसदसिं हाकारम् ।
योऽस्तनरुगरिमाशूरःस्थले नखैरभिनदाधकगरिमा शूरः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—शत्रुगण को डराकर हाथों में लिए हुए चमकती तलवार वाले शत्रु को अत्यधिक गरिमावान्, शूर तथा क्रोधविहीन जिस विष्णु ने नरसिंह का शरीर धारण करके नाखूनों से उरःस्थल पर भेदन किया।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने विष्णु के नारसिंहावतार का उल्लेख किया है। अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा करने के लिये पुराणों के अनुसार विष्णु ने नरसिंह का रूप धारण कर हिरण्यकशिपु राजा का वध किया था ॥ ४४ ॥

अवनतदेवामनतामातन्वान मतां वामनताम् ।
योऽधिकतरसन्नेहे दैत्यबले बलिमपास्तरस नेहे ॥ ४५ ॥

अनुवाद—दैत्य-बल की चेष्टाओं के शिथिल पड़ जाने पर त्रिलोक के (राज्य) रस को त्याग देनेवाले बलि को, जिस स्वामी (विष्णु) ने साधुओं (सता—अथवा प्राणप्रिय) के प्राणरूप (अनतों—अथवा किसी के आगे न झुकने वाले) तथा देवताओं के द्वारा अवनत (प्रणामादि के लिये) वामन-शरीर को धारण कर, बाँध लिया (नेहे)।

व्याख्या—इस श्लोक में विष्णु के वामनावतार का वर्णन किया गया है। जब राजा बलि का अधिकार सर्वत्र फैलने लगा तो उसे जीतने के लिये भगवान ने वामन (बौने) का शरीर धारण कर उससे तीन पग धरती माँगी और धरती नापते समय उन्होंने अपने विराट रूप से तीनों लोकों को नाप लिया। उनके इस त्रिविक्रम रूप को देखकर दैत्यों की सारी गतिविधियाँ आश्चर्य के कारण रुक गयीं ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आनेवाले 'अनतां' पद के श्लेष के द्वारा दो अर्थ किये गये हैं।

१. न नता नम्रा कस्यचिद् इति अनम्रा तादृशीम्।

२. अनस्य प्राणस्य भावः तां प्राणत्वं प्राणरूपां वा।

'णह्' धातु का बन्धन अर्थ में प्रयोग किया जाता है। अतः लिट् लकार का 'नेहे' रूप निष्पन्न हुआ ॥ ४५ ॥

अजनि च यो गत्रि रामः कुले भृगूणामसन्नियोगविरामः ।
यो धृतपरशू राज्ञश्चकर्त समरे निरस्तपरशूराज्ञः ॥ ४६ ॥

अनुवाद—और जो भृगुओं के कुल में दुष्टों के शासन के लिये नानारूप

'राम' के नाम से धरती पर उत्पन्न हुआ। जगुरूप शूरों की आज्ञा को समाप्त कर देनेवाले (निरस्तपरशुराज) तथा परशु (शस्त्रविशेष) को धारण करनेवाले जिस राम (भार्गव) ने युद्ध में राजाओं को (अपने फरसे से) काटा।

व्याख्या—इस श्लोक में श्रीपरशुराम के अवतार का वर्णन है। भार्गव का क्षत्रियों से सहज बैर था। उन्होंने प्रतिशोध की भावना से क्षत्रियों को कई बार युद्ध में परास्त किया था। उन्होंने अपने आतङ्क से दूसरे शूर राजाओं के शासन को निरस्त कर दिया था। पुराणों में यह आख्यान अनुसन्धेय है ॥ ४६ ॥

अस्तसमस्तकलङ्कः कपिबलकम्पितसुबेलमस्तकलङ्कः।
यश्च यमक्षयमनयन्निशाचराणां निकायमक्षयमनयम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—(अपने भक्तों के) सारे पापों को समाप्त कर देनेवाले तथा वानरों की सेना द्वारा सुवेल पर्वत पर स्थित लङ्का को कम्पित कर देनेवाले जिसने (रामावतार) विनाश-रहित (अक्षय) तथा नीतिरहित (अनयं) निशाचरों (रावणादि) के समूह को यमपुरी पहुँचा दिया।

व्याख्या—इस श्लोक में विष्णु के रामरूप से अवतार लेने का उल्लेख है। उन्होंने पृथिवी पर अत्याचारी राजा रावण को मारा तथा लङ्का पर विजय पायी। यह कथा जगत्प्रसिद्ध है ॥ ४७ ॥

गुरुनियमारोहिण्यां जातो मुसलीति समहिमा रोहिण्याम्।
योऽपिच हालापरतामारसेनामपि चकार हालापरताम् ॥ ४८ ॥

अनुवाद—तथा जो महिमावान् महान् नियमों का पालन करनेवाली रोहिणी (नामक माता) में मुसली (बलराम) इस नाम से उत्पन्न हुआ। जो सुरा में आसक्त रहा और जिसने शत्रु की सेना को भी हालापरता (अर्थात् हा हा आलाप करने वाली) बना दिया।

व्याख्या—इस श्लोक में विष्णु का बलराम रूप से जन्म लेने का वर्णन है जिसकी माँ रोहिणी थी। रोहिणी अपने पातिव्रत्यादि धर्म के लिये प्रसिद्ध है इसी कारण उसे 'गुरुनियमारोहिणी' कहा गया है। मुसली का व्यसन हालापान था। पर इसके साथ ही वे युद्ध में भी परम कुशल थे। उनके कारण शत्रु-सेना 'हा हा' करके चिल्लाने लगी थी ॥ ४८ ॥

निजमहसा धुतदनुजस्त्रातु स जगन्ति साधु तदनुजः।
जननभयादवनिलये सति देवक्यां य एष यादवनिलये ॥ ४९ ॥

अनुवाद—जिस स्वामी ने (पूर्वजन्म में) भूमि के नाश (कल्पान्त)

होने पर अपने तेज से (हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु आदि) दानवों को कम्पित कर दिया वही फिर संसार की रक्षा करने के लिये उस बलभद्र के अनुज (श्रीकृष्ण) रूप से यादवों के घर में देवकी से उत्पन्न हुए।

व्याख्या—इस समय उन्हीं विष्णु ने बलभद्र के छोटे भाई कृष्ण के रूप में यादवकुल में जन्म लिया है। इनकी माता देवकी है। इनके इस अवतार का उद्देश्य लोकों की दानवों से रक्षा करना है॥ ४९॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पा' धातु का प्रयोग रक्षण के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इन नौ श्लोकों में भीष्म ने विष्णु के नौ अवतारों का वर्णन किया अब अगले श्लोक में शेष कल्कि अवतार का वर्णन करेंगे॥ ४९॥

जनतः कलिततमोहा भूयोऽप्ययमेव भक्तिकलिततमोहा।
सहतां कल्यन्ते तमृते पूजा क्व मतिमता कल्यन्ते॥ ५०॥

अनुवाद—पुनश्च यही स्वामी, (विष्णु) जो भक्ति से पूर्ण लोगों के तम-रूप अज्ञान को नष्ट करनेवाला है, कलि (युग) के अन्त में कलि (अथवा कलह) से व्याप्त अज्ञान-पूर्ण जन-समूह का संहार करेगा। इस प्रकार उसे (विष्णु) छोड़कर और कहाँ बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा पूजा की जानी चाहिये ?

व्याख्या—इस श्लोक में भीष्म ने दसों अवतारों के उपसंहाररूप में कल्किरूपधारी विष्णु का वर्णन किया है। जो लोग कलि के अज्ञान से आच्छन्न होंगे उनका नाश यह कलियुग के अन्त में कल्किरूप धारण करके करेंगे तथा जो लोग भक्ति से पूर्ण होंगे उनके अज्ञान-रूपान्धकार को यह दूर करेंगे। इस प्रकार आगे चलकर अर्थात् इस द्वापर युग के बाद कलियुग के अन्त में यही विष्णु कल्कि अवतार धारण करेंगे।

अतः ऐसे विष्णु के साक्षात् अंश श्रीकृष्ण के होते हुए भला और कहाँ पूजा की जानी चाहिये ? अर्थात् इन्हीं को अग्रय पूजा प्रदान करनी चाहिये इनसे श्रेष्ठ कोई भी इस भूमण्डल पर नहीं है॥ ५०॥

वच इति शान्तनुतनय माद्रीतनयो निशम्य शान्तनुतनयम्।
भक्तधियामासाद्यं पुमांसमर्घ्येण पूजयामासाद्यम्॥ ५१॥

अनुवाद—इस प्रकार भीष्म के, धामप्रधान पुरुषों के द्वारा स्तुत्य नीति-वाले इन वचनों को सुनकर माद्री-पुत्र सहदेव ने भक्तों की बुद्धि से प्राप्य, आदि पुरुष श्रीकृष्ण की पूजा की।

व्याख्या—भीष्म के नीति-वचनों की स्तुति धामप्रधान पुरुष किया करते थे। अतः उनके वचनों को स्वीकार करना सहदेव का भी कर्तव्य था। सहदेव ने आदि पुरुष (विष्णु) की अर्घ्यादि से पूजा की॥ ५१॥

अथ रिपुमासामन्तः शिशुपालः प्रविचलत्सभासामन्तः।
माद्रेय तमसोढः श्रियः पतिं नैव पूजयन्तमसोढ ॥ ५२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त शत्रुओं के तेज को नाश करनेवाला, अज्ञान-रूपान्धकार से आच्छादित तथा सभा में चलते हुए सामन्तों (को वश में करने) वाला शिशुपाल लक्ष्मी-पति की पूजा करते हुए उस सहदेव को सहन नहीं कर सका।

व्याख्या—शिशुपाल श्रीकृष्ण की बुआ का पुत्र था। वह एक पराक्रमी परन्तु मूढ़ राजा था। उसकी सभा में सामन्त विचरण किया करते थे। श्रीकृष्ण से उसका सहज वैर था। उन्हें वह एक साधारण ग्वाला समझकर जब तब उनका अपमान किया करता था। यहाँ पर भी उनका इतना बड़ा सम्मान देखकर वह उन्हें गालियाँ देने लगा। मर्यादा से बाहर चले जाने पर श्रीकृष्ण ने यज्ञ में अपने चक्र से उसका वध किया था॥ ५२॥

अरिणा कान्तारेण त्रिविक्रमस्त्रुटितशत्रुकान्तारेण।
सपदि चकार स कृत्तं चेदिपतिं त्रिदशपटलिकारसकृत्तम् ॥ ५३ ॥

अनुवाद—शत्रुरूपी कान्तार (घने जंगल) को काट देनेवाले तथा सुन्दर धारवाले (कान्तारेण) चक्र से (अरिणा), देवताओं के समूह को प्रमोद-रस प्रदान करनेवाले (त्रिदशपटलिकारसकृत्) श्रीकृष्ण ने तत्क्षण चेदिराज के शिर को काट दिया।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने सुदर्शन-चक्र से शिशुपाल का शिर काट दिया। यह सुदर्शन चक्र शत्रु-रूपी कान्तार को काटनेवाला था तथा सान पर घिसे जाने के कारण इसकी धार सुन्दर लग रही थी।

शत्रुओं पर कान्तार का आरोपण करके कवि ने जिस भाव को व्यक्त करने का प्रयास किया है वह यह है कि जिस प्रकार जगलों को लोग निर्दयता से, व्यर्थ समझकर कुल्हाड़े आदि से काट देते हैं उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी अपने चक्र से अनेक शत्रुओं को निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार दिया था॥ ५३॥

स ज्ञानी चेदीने निहते राजा जने च नीचे दीने।
प्रमुदितमानवराजं समापयत्कर्म हूयमानवराजम् ॥ ५४ ॥

अनुवाद—चेदिराज शिशुपाल के मर जाने पर तथा उस नीच व्यक्ति के दीन दशा को प्राप्त होने पर बहुत राजा गण प्रसन्न हुए। फिर ज्ञानी राजा युधिष्ठिर ने उस राजसूय यज्ञ को सम्पन्न किया जिसमें श्रेष्ठ विष्णु (अज) को होमादि से सन्तुष्ट किया जा रहा था।

व्याख्या—शिशुपाल एक नीच प्रकृति का राजा था। उसने अनेक राजाओं

को कारागार में डाल रखा था अतः राजाओं का ऐसे दुष्ट राजा की मृत्यु पर प्रसन्न होना उचित ही था ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—'चेदीन' पद का अर्थ चेदि नामक जनपद-विशेष का स्वामी 'शिशुपाल' है। 'चेदीनां-जनपदविशेषाणामिनः स्वामी तस्मिन् चेदीने' ॥ ५४ ॥

स वृहदसूयाध्वरतः पाण्डुसुतस्याथ राजसूयाध्वरतः।
अधिकधनोपायनत आपत्ताप सुयोधनोऽपायनतः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के अधिक धन-रूप उपहारों वाले उस राजसूय यज्ञ से नीच तथा ईर्ष्यालु सुयोधन ने हृदय में सन्ताप प्राप्त किया।

व्याख्या—दुर्योधन असूया के मार्ग का सेवन करनेवाला था अतः कवि ने उसके लिये 'वृहदसूयाध्वरत' विशेषण प्रयुक्त किया। उसने युधिष्ठिर के इतने अधिक वैभव-सम्पन्न राजसूययज्ञ को देखकर मन में अत्यन्त दुःख अनुभव किया। वह विचार करने लगा कि ये पाण्डव तो धन सम्पत्ति में मुझसे भी आगे हो गये। अतः आगे चलकर अपने मामा शकुनि से उन्हें गिराने के लिये परामर्श लिया ॥ ५५ ॥

स खलु सभा लोकनतः सुयोधनः सचरन् सभालोकनतः।
स्फटिकमहामालस्य स्खलनेऽभूज्जृम्भितापहासालस्यः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—लोगों के द्वारा प्रणत वह तेजस्वी सुयोधन सभा को देखने के लिए घूमता हुआ स्फटिक-निर्मित महाप्राकार के स्खलन पर लोगों के द्वारा हँसा गया जिससे वह बड़ा उदास हुआ ॥ ५६ ॥

स च वसुधामन्यत्र स्फटिकमयीं सम्प्रधार्य धामन्यत्र।
निपपात महासरसः सलिले जनदत्तभूरितमहासरसः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—तथा सभागृह में घूमते हुए वह सुयोधन दूसरे स्थान पर स्फटिकमयी भूमि समझकर महान् तालाब के जल में गिर पड़ा। इस पर लोग (ताली आदि देकर) बहुत हँसे।

व्याख्या—दुर्योधन का उस यज्ञ में बड़ा अपमान हुआ क्योंकि उस सभागृह की कारीगरी देखने के लिए घूमता हुआ वह अनेक स्थानों पर गिरा जिससे लोग उसकी मूर्खता पर हँस पड़े। शिल्पी मयासुर की कारीगरी की दक्षता के कारण स्थल को जल समझकर और जल को स्थल समझकर सुयोधन उस सभागृह में कई स्थान पर गिर पड़ा। अब लोगों ने ताली आदि देकर उसकी खूब हँसी उड़ाई तो वह बहुत उदास हुआ ॥ ५७ ॥

तं रिपुभीमोऽक्रान्तः पाञ्चालसुता तथैवभीमोऽक्षान्तः

पतितं सलिलेऽहसतामघृणां हास एव स लिलेह सताम् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के भय का निर्मूल विनाशक, क्षमारहित भीमसेन और पाञ्चालसुता (द्रौपदी) जल में गिरे हुए उस सुयोधन पर हँसने लगे। तथा वहाँ पर स्थित सज्जनों की हँसी का भी वह पात्र हुआ (अर्थात् सज्जन लोग भी उस पर हँसे)।

व्याख्या—वहाँ पर स्थित सज्जन बिना किसी घृणा भाव के उस पर हँसे। पर द्रौपदी और भीम की हँसी ने उसके मन में विशेष खेद पहुँचाया। जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा महाभारत का युद्ध हुआ ॥ ५८ ॥

इत्थं वैलक्ष्याणि प्राप्याथ महाजनेन वै लक्ष्याणि ।
नृपति कल्यं शस्तं समनुज्ञाप्यागमत्स कल्यशास्तम् ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अनेक लोगों के द्वारा अनुभूत वैलक्ष्यों (सर-पतनादि) को प्राप्त कर भी राजा सुयोधन को निश्चिन्त जानकर, कलियुग का अंश उसका मामा शकुनि दुर्योधन के पास आया।

व्याख्या—शकुनि सुयोधन के अपमान को देख रहा था। उसने जब देखा कि लोगों के द्वारा हँसी किये जाने पर भी सुयोधन शान्त है उसके मन में कोई प्रतिशोध की भावना नहीं जाग रही है तो वह दुर्योधन के पास आया ॥ ५९ ॥

शकुनिर्मायावी तं पप्रच्छ सुयोधनं क्षमाया वीतम् ।
नृपसुत हेतुं गद मे त्वयि दुःखस्यारिदुःसहे तुङ्गदमे ॥ ६० ॥

अनुवाद—उस क्षमा-रहित सुयोधन से मायावी शकुनि ने पूछा—हे राजपुत्र ! शत्रुओं के लिये दुःसह तथा महान् विनयी (सुयोधन) ! अपने दुःख का कारण मुझ से कहो।

व्याख्या—शकुनि को इस श्लोक में मायावी कहकर उसके स्वभाव और चरित्र का पता सहज ही पाठकों को लग जाता है। शकुनि के ही कारण महाभारत के युद्ध का सूत्रपात हुआ। उसने सुयोधन के पास आकर उससे पूछा कि हे सुयोधन ! तुम्हारे मन में क्या दुःख है, मुझ से कहो। शकुनि ने सुयोधन को 'अरिदुःसह' और 'तुङ्गदम' आदि कहकर केवल उसकी चाप-लूसी करने का ही प्रयास किया है ॥ ६० ॥

निजदेहविरक्तेन श्रुत्वेति रुषाग्निनेव हविरक्तेन ।
छद्मबलाय निजगदे मूलं तेनापि मौबलाय निजगदे ॥ ६१ ॥

अनुवाद—यह सुनकर हवि (घृत) से सिंचित अग्नि के समान रोष से

जलते हुए तथा अपने शरीर के प्रति विरक्त सुयोधन ने छद्मवेषधारी शकुनि से (अपने शोक या दुःख का) मूल (कारण) बतलाया।

व्याख्या—दुर्योधन के रोष की उपमा अग्नि से देकर कवि वासुदेव ने अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर दिया है। जिस प्रकार हवि डालने पर अग्नि एकबारगी भड़क उठती है उसी प्रकार शकुनि के वचनों को सुनकर उसका सोया हुआ क्रोध जाग उठा और उसने अपने दुःख का कारण शकुनि से कहा। यह शकुनि अत्यन्त मायावी है। छल और कपट इसकी विजय का रहस्य है। अतः उससे अपने दुःख को दूर करने का उपाय जानने के लिये दुर्योधन ने अपने दुःख का कारण बतलाया॥ ६१॥

वच्मि ममातुलरम ते रुजं मनो जीविते न मातुल रमते।
दृष्ट्वा महितां तस्य द्विषतो यज्ञे समृद्धिमहितान्तस्य॥ ६२॥

अनुवाद—हे अतुलनीय लक्ष्मीवाले (अतुलरम) मामा! तुमसे अपना शोक बतलाता हूँ। अब मेरा मन जीने की इच्छा नहीं करता (अर्थात् अब तो मरण ही श्रेष्ठ है)। यज्ञ में अमङ्गलकारी (अहितान्तस्य) शत्रु युधिष्ठिर की महान् समृद्धि को देखकर (मेरे मन में अब जीने की इच्छा नहीं रही)।

व्याख्या—सुयोधन आरंभ से ही पाण्डवों की सम्पत्ति देखकर जलता था। यज्ञ में अपार समृद्धि को देखकर उसके मन में और भी अधिक ईर्ष्या का भाव जाग उठा। अतः वह सोचता है कि यदि युधिष्ठिर मुझ से भी अधिक धनवान् हो जायगा तो मेरा तो मरना ही श्रेयस्कर है॥ ६२॥

टिप्पणी—'अहितान्तस्य' पद से एक अन्य अर्थ की भी कल्पना श्लेष द्वारा की जा सकती है और वह इस प्रकार पदच्छेद करने पर निकलेगा—

'अो विष्णुस्तस्मात् हितस्यान्तो निश्चयो यस्येति वा' अर्थात् विष्णु के कारण जिसका हित (मंगल) निश्चित है ऐसा युधिष्ठिर॥ ६२॥

सूचितलोभारत्या तुमस्तस्येति सौबलो भारत्या।
कृतवानक्षरणाय व्यवसायं निजकजीवनक्षरणाय॥ ६३॥

अनुवाद—समृद्धि-लोभ के कारण विरक्ति को प्रकट कर देनेवाली दुर्योधन की वाणी से प्रेरित हुए शकुनि (सौबल) ने अपने सुख और जीवन को नष्ट करनेवाले द्यूत—रण के लिये निश्चय किया।

व्याख्या—द्यूत को रण कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें भी परस्पर विवाद के कारण एक प्रकार का युद्ध ही होता है। हम लोग द्यूत के द्वारा ही पाण्डवों को जीत लेंगे—इस प्रकार शकुनि ने दुर्योधन को सान्त्वना दी॥६३॥

टिप्पणी—'निजकजीवनक्षरणाय' इस समस्त पद के दो अर्थ किये जा

सकते हैं। पहला अर्थ शाब्दिक अनुवाद में दिया जा चुका है दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जायेगा—निजा एवं निजका आत्मीया' पाण्डुपुत्रास्तेषां जीवनं तस्य चरणाय नाशायेत्यर्थः अर्थात् अपने ही भाई पाण्डुपुत्रों के जीवन के नाश के लिये ॥ ६३ ॥

किनवावेकमती तौ धृतराष्ट्रमुपागतौ विवेकमतीतौ ।
सोऽपि सुतस्यालस्यप्रवणान्मतमन्वगात्ततः स्यालस्य ॥ ६४ ॥

अनुवाद—विवेक का त्याग करनेवाले तथा एक ही विचारवाले तथा द्यूत-विद्या में कुशल वे दोनों—दुर्योधन और शकुनि—धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। तब धृतराष्ट्र ने भी अपने पुत्र दुर्योधन की उदासीनता जानकर अपने साले शकुनि के मत को मान लिया।

व्याख्या—विवेक कहते हैं कार्याकार्य के विचार को, पर वे दोनों इस बात को भूल चुके थे अतः इन दोनों को 'विवेकमतीतौ' कहा गया है। अपने पुत्र को उदास जानकर धृतराष्ट्र ने भी द्यूत के लिये अनुमति प्रदान कर दी ॥ ६४ ॥

तेन च सुतमोदाय प्रचोदितः पाण्डवोऽपि सुतमोदाय ।
सत्वरमायादक्षैः कितवैश्च वृतां सभा स मायादक्षैः ॥ ६५ ॥

अनुवाद—अज्ञान प्रदान करनेवाले अपने पुत्र (दुर्योधन) के हर्ष के लिए धृतराष्ट्र द्वारा बुलाये गये युधिष्ठिर भी, द्यूत विद्या में कुशल, कितव (द्यूतवेत्ताओं) तथा अक्षों (पासों) से घिरी हुई सभा में आ गये।

व्याख्या—दुर्योधन को 'सुतमोद' कहा गया है क्योंकि वह अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को अज्ञान और अविवेक ही प्रदान करनेवाला था। धृतराष्ट्र भी इस द्यूत के परिणाम को न जान सके और अज्ञानवश इसके आयोजन की अनुमति दे दी। इस प्रकार अपने पिता को भी यह अज्ञान प्रदान करनेवाला ही था ॥ ६५ ॥

अथ विदितमहानिकृतिः स्वजीवितस्यैव परमहानिकृति ।
द्यूते भारततनयं जिगाय शकुनिर्विवेकभारततनयम् ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर जिसकी महान् शठता जान ली गयी है ऐसे उस शकुनि ने, अपने प्राणों के लिए अत्यन्त हानिकर द्यूत में, विवेकपूर्ण सिद्धान्तवाले युधिष्ठिर को जीत लिया।

व्याख्या—द्यूत में यद्यपि शकुनि के कपट को जान लिया गया था फिर भी उसने युधिष्ठिर को जीत लिया। यह द्यूत वास्तव में उसके ही जीवन का नाश करने वाला था पर इस बात का आभास उसे भला कहाँ ॥ ६६ ॥

नोऽपि च वसुधान्यस्य द्रव्यस्यान्ते पणाय वसुधां न्यस्य।
भ्रातृन्चतुरो दारानात्मोपेतान्न्यधत्त चतुरोदारान् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—उस युधिष्ठिर ने भी पृथिवी के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य (हाथी, घोड़े, रथादि) के समाप्त हो जाने पर भूमि को दाओं में लगाकर फिर चतुर और उदार चारों भाइयों को तथा अपने सहित द्रौपदी को बाजी में लगा दिया।

व्याख्या—युधिष्ठिर द्यूत क्रीडा में कुछ ऐसा आसक्त हुए कि वे पहले तो हाथी, घोड़े, रथादि बाजी में हारे फिर अपनी भूमि को हार गये उसके पश्चात् उन्होंने अपने चारो भाइयों को, द्रौपदी तथा अपने को भी बाजी में लगा दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश वह सब कुछ हार गये द्यूत खेलने में वह अपने सारे सिद्धान्तों को भूल बैठे जैसी कि सूक्ति भी है—'प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति'। अथवा 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' ॥ ६७ ॥

अथ दुःशासनमुदितश्रीरित्यशिषन्नृपोऽरिशासनमुदितः।
दर्परसादासीनः कृष्णां त्वमिहानयस्व सा दासी नः ॥ ६८ ॥

अनुवाद—इसके बाद अपने शत्रुओं (पाण्डवों) के ऊपर (द्यूतजय के कारण) शासन (नियमन) करने से प्रसन्न, समुल्लसित लक्ष्मीवाले, तथा अहंकाररस से बैठे हुए राजा दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी—'तुम द्रौपदी को इस सभा में ले आओ। वह हमारी दासी है'।

व्याख्या—द्यूत में पाण्डवों को जीत लेने के कारण पाण्डव उस दुष्ट दुर्योधन के अधीन हो गये। अतः उस अविवेकी ने अहंकारवश दुःशासन को द्रौपदी के लाने की आज्ञा दी क्योंकि द्यूत में जीत जाने के कारण वह भी उसकी दासी बन चुकी थी ॥ ६८ ॥

स च तुलिततमालेषु प्रवरास्रप्लुताप्लुतेषु सतमालेषु।
जगृहे वक्रकचेषु द्रुपदसुतां सकलकौरवक्रकचेषु ॥ ६९ ॥

अनुवाद—और फिर उस दुःशासन ने द्रौपदी के कुटिल केशों को पकड़ा जो तमालपुष्पों के समान (अत्यन्त काले) थे, ऋतु स्नान के कारण गीले थे, जिनमें मालाएँ गुँथी हुई थीं तथा जो समस्त कौरवों के लिये क्रकच (आरे) के समान थे।

व्याख्या—इस श्लोक में द्रौपदी के केशों के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग कवि ने किया है उनके द्वारा उसका (द्रौपदी) सम्यक् वर्णन हो गया है। उसके केश तमाल-पुष्प के समान अत्यन्त काले थे, ऋतु-स्नान करने के कारण गीले थे। उनमें फूल लगे हुए थे तथा वे टेढ़े थे। उसके वे केश

कौरवों के लिये आरे के समान थे। अर्थात् जिस प्रकार से आरे द्वारा लकड़ी आदि काटी जाती है उसी प्रकार उसके केशों के कारण कौरव-वंश का नाश भी अवश्यम्भावी था ॥ ६९ ॥

सोऽथ दुरोदरतान्ता कौन्तेयानां विषादरोदरतां ताम् ।
कर्षन्नचलज्जायां सभां प्रतिपद न्यधत्त न च लज्जायाम् ॥ ७० ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त दुःशासन द्यूत के कारण खिन्न तथा दुःख के कारण रोने में लगी हुई पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी को खींचता हुआ चला तथा सभा की ओर उसने अपना कदम रखा न कि लज्जा में।

व्याख्या—रोती हुई द्रौपदी के बालों को खींचता हुआ दुःशासन सभा की ओर चला पर उसने पैर लज्जा की ओर न रखा अर्थात् उसे यह लज्जास्पद कार्य करते तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं हुआ ॥ ७० ॥

प्राणसमा जाया मा पार्थानां प्राप्तकुरुसमाजायासा ।
अरुदद् बालापारं दुःखमुपेता सवैक्लवालापारम् ॥ ७१ ॥

अनुवाद—कुरु-समाज से कष्ट प्राप्त करनेवाली पाण्डवों की प्राणों के समान प्यारी पत्नी द्रौपदी अपार दुःख से भरी, दीनालाप करती हुई खूब रोई ॥ ७१ ॥

अयि निर्मर्यादान्ता' कुरुकुलवर्याः कुरुध्वमर्या दान्ताः ।
मय्यनुकम्पापरतां मतिमेतां त्यजत चाधिक पापरताम् ॥ ७२ ॥

अनुवाद—अरे मर्यादाविहीन, कुरुकुल में श्रेष्ठ शान्तिस्वरूप प्रभुओ ! मुझ पर कृपा दिखलाओ तथा इस अत्यधिक पापरत बुद्धि का त्याग करो।

व्याख्या—उस सभा में एक से एक श्रेष्ठ महापुरुष विराजमान थे। परन्तु द्रौपदी के विषय में सभी मौन धारण किये हुए थे। अतः उन लोगों को सचेत करने के विचार से उपर्युक्त सम्बोधनों के द्वारा द्रौपदी ने उन्हें पुकारा तथा अपनी रक्षा की भिक्षा माँगी ॥ ७२ ॥

राजन्दयितापत्य प्रियां स्नुषां त्वमपि तावदयि तापत्य ।
कथमधुना सहसे मां विकृष्यमाणामसाधुना सहसेमाम् ॥ ७३ ॥

अनुवाद—हे सन्तानप्रेमी, तापतीवंशज धृतराष्ट्र ! तुम इस दुष्ट दुःशासन के द्वारा घसीटी जाती हुई इस प्यारी बहू को भला कैसे सहन कर रहे हो।

व्याख्या—अपने श्वशुर धृतराष्ट्र को सम्बोधन करके उसने कहा कि आप इतने वृद्ध होते हुए भी अपनी बहू की इस दुरवस्था को भला कैसे देख

रहे हैं। अर्थात् आपको तो कम से कम इसका प्रतिरोध करना चाहिये ॥७३॥

भरणीयाहं तव च श्वशुर न मे श्रूयते त्वया हन्त वचः।
गान्धार्यम्ब तवार्ये न समोपेक्षा सुते स्वयं बत धार्ये ॥ ७४ ॥

अनुवाद—हे श्वशुर धृतराष्ट्र! मैं आपकी भरणीया हूँ। हाय! आप मेरे वचन नहीं सुन रहे हैं। हे माता गान्धारी! हे आर्ये! दुःख है, निवारणीय पुत्र दुःशासन के प्रति आपकी यह उपेक्षा उचित नहीं।

व्याख्या—द्रौपदी अपने श्वशुर से फरियाद करती है कि मैं आपके द्वारा रक्षणीया हूँ अर्थात् आपको मेरी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि मैं आपकी बहू हूँ, परन्तु पता नहीं क्यों आप मेरे विलाप को भी नहीं सुन रहे हैं। इसके पश्चात् वह अपनी सास से भी दुःशासन को इस अनुचित और निन्दनीय कार्य से रोकने के लिये निवेदन करती है ॥ ७४ ॥

सुखिता यदुपायेन त्रीणि रमन्ते जगन्ति यदुपा येन।
क्षत्रसमाजानीतां साक्षात्पुरुषोत्तम स मा जानीताम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—जिस श्रीकृष्ण के कारण सुखी यदुनाथ, तीनों लोकों में सुख से रमण करते हैं। वह साक्षात् पुरुषोत्तम (परमात्मस्वरूप श्रीकृष्ण) क्षत्रियसभा में लायी गयी मेरी रक्षा करें।

व्याख्या—इस श्लोक से अन्य कुछ श्लोकों तक द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी अवस्था का वर्णन करती है। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से अनेक यदुनाथ इह लोक और परलोक के सुख प्राप्त करते हैं। वह श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम हैं अतः द्रौपदी की रक्षा करने में भी समर्थ हैं ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—'पुरुषोत्तम' पद का अर्थ 'परमात्मस्वरूप' है क्योंकि 'पुरि शेते इति पुरुष आत्मा' इस निर्वचन से पुरुष का अर्थ आत्मा किया गया है।

'त्रीणि जगन्ति' पदों में 'कालभावाध्वदेश—' सूत्र से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है ॥ ७५ ॥

यदुवर हा गोविन्द त्वं हृदि मत्क्लेशजं महागो विन्द।
व्यसनानामननुभवान् भक्तजनानां तनोति नाम ननु भवान् ॥ ७६ ॥

अनुवाद—हे यदुवर! हे गोविन्द! मेरे कार्य से उत्पन्न हुए महान् अपराध को आप अपने मन में समझते हैं। आप अपने भक्तों को कष्टों का अनुभव नहीं कराते अर्थात् आपके भक्तजन कभी भी कष्ट नहीं उठाते।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में द्रौपदी ने श्रीकृष्ण से अपने अपराध को क्षमा करने के लिए प्रकारान्तर से स्तुति की है। उसे अपने अपराध का ज्ञान नहीं

है पर भगवान् कृष्ण तो सबके अपराधों को जानते हैं। उनकी शरण में जो भी कोई आता है उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता। अतः हे भगवन्! आप मेरे कष्ट को भी दूर करें॥ ७६॥

रुदती कृष्णा दरतः प्रारक्षिप्यत न यदीति कृष्णादरतः।
घोरो नाशस्तस्य ध्रुवमभविष्यज्जनस्य नाशस्तस्य॥ ७७॥

अनुवाद—इस प्रकार भय से द्रौपदी रो रही है। यदि मेरी रक्षा नहीं करोगे तो निश्चित ही उस अमङ्गलरूप (अशस्त) व्यक्ति का घोर विनाश न होगा।

व्याख्या—इस श्लोक में द्रौपदी ने भगवान् श्रीकृष्ण से व्यग्य रूप में रक्षा करने का निवेदन किया है॥ ७७॥

बुद्धावासीदेव स्फुटं प्रभो यदपि दूरवासी देवः।
प्रतताप तदधिकर्णं भूत्वा तं भूय एव पतदधिकर्णम्॥ ७८॥

अनुवाद—हे प्रभो श्रीकृष्ण! जगन्नाथ दूर वासी है फिर भी मेरी बुद्धि में विद्यमान हैं। इसीलिए मेरे वचनों ने दूरवासी के कानों में पड़कर अधिक ऋण के रूप में उन्हें बहुत कष्ट दिया, दुःख पहुँचाया (यह मैं मानती हूँ)।

व्याख्या—जिस प्रकार अधिक ऋण के कारण किसी को चिन्ता हो जाया करती है उसी प्रकार मेरे वचनों ने भी उसके कानों में पड़कर उसे कष्ट पहुँचाया॥ ७८॥

न मतिं सा रोदात्तामकम्पयद्धर्मजस्य सारोदात्ताम्।
जयति तदा वै रिपुमांल्लोकाक्कुष्टो भवेद्यदा वैरिपुमान्॥ ७६॥

अनुवाद—वह (द्रौपदी) अपने अपने रोदन से भी युधिष्ठिर की श्रेष्ठ और उदात्त बुद्धि को कँपा न सकी (क्योंकि) निश्चित ही शत्रुयुक्त पुरुष की तभी जय होती है जब वैरी, पुरुष-लोक से निन्दित होता है।

व्याख्या—यद्यपि द्रौपदी ने इतना अधिक विलाप किया पर इससे धर्मराज की बुद्धि में कोई परिवर्तन न हो सका अर्थात् उसकी रक्षा के लिये वे आगे न बढ़ सके। उनकी इस उदासीनता की पुष्टि कवि अर्थान्तरन्यास द्वारा करता है। वह व्यक्ति तभी विजयी माना जाता है जब समाज शत्रु की निन्दा करने लगता है अर्थात् शत्रु के प्रति लोकाक्रोश ही उसके स्पर्धी के लिये विजय है। दुर्योधन की निन्दा सभी करने लगे थे। अतः बिना कुछ बोले भी युधिष्ठिर की ही जय हुई थी॥ ७६॥

प्रतिपन्ना सन्नार्या शरणायमभूदशोभनासन्नार्या।
केवलमच्छविकर्णा निर्मलविदुरा सभेयमच्छविकर्णा॥ ८०॥

अनुवाद—शरण के लिये, द्रौपदी के द्वारा प्राप्त सभा, प्रभुओं के आसन्न होने पर भी अशोभना (असुन्दर) बन गयी। उस सभा में केवल निर्मल चित्तवाला (सहृदय) विकर्ण था तथा स्वस्थ हृदयवाला विदुर था। उस सभा में कलुषचित्तवाला कर्ण (राधेय) विद्यमान था।

व्याख्या—जब द्रौपदी उस प्रकार केशों से खींची जाती हुई सभा में लाई गयी तो वह सभा असुन्दर लगने लगी क्योंकि मर्यादारहित कार्य वहाँ होने लगा। उस सभा में केवल दो व्यक्ति ही निर्मल-चित्त थे प्रथम विकर्ण अर्थात् दुर्योधन का ही एक भाई जिसने अपने भाइयों को छोड़कर पाण्डवों का साथ दिया और दूसरा विदुर जिसने पाण्डवों का कष्टों में साथ दिया।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'अशोभनासन्नार्या' इस समस्त पद का विग्रह 'आसन्ना आर्या' अथवा 'आसन्ना अर्या' किया जा सकता है। इसी प्रकार आसन्ना' पद के स्थान पर 'सन्न' विग्रह भी संभव है। 'सन्न' का अर्थ दुःखी किया जायगा अर्थात् 'उसकी (द्रौपदी) दशा को देखकर दुःखी मनवाले आर्यों से युक्त (सभा)' ॥ ८० ॥

प्राप्तवराक्षसभा सा कृता विवस्त्रा च तेन राक्षसमासा।
सत्त्यजनेऽनवसाना ददृशेऽन्यत्राम्बरमनेन वसाना ॥ ८१ ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ सभा में आयी हुई उस द्रौपदी को राक्षस के समान तेजस्वी उस दुःशासन ने विवस्त्र किया। उस वस्त्र को त्याग कर दूसरे अनन्त वस्त्र को धारण किये हुए द्रौपदी को दुःशासन ने देखा।

व्याख्या—दुष्ट दुःशासन ने उसके वस्त्र को खींचा तो उसने वासुदेव की कृपा से दूसरा वस्त्र धारण कर लिया जिसका कि अन्त ही नहीं द्रौपदी को इस प्रकार देखकर दुःशासन चकित हो गया ॥ ८१ ॥

तत्र सदस्युर्वसनं जातं जातं नयन् स दस्युर्वसनम्।
विकुर्वताबद्धास्यः श्रान्तो भूमौ पपात तावद्धास्यः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—वह शत्रु दुःशासन बार-बार बढ़ते हुए वस्त्र को खींचते-खींचते थक गया तथा थकान के कारण मुख बाँध कर, लोगों के द्वारा हसनीय वह, भूमि पर गिर पड़ा।

व्याख्या—कथा प्रसिद्ध है कि दुःशासन जितना ही वस्त्र खींचता था उतना ही उसका वस्त्र बढ़ता जाता था। यहाँ तक कि खींचते २ वह परेशान हो गया और थककर भूमि पर गिर पड़ा ॥ ८२ ॥

मुखजितविधुतामरसां कृष्णा दुःशासनेन विधुतामरसाम्।
वीक्ष्य समामानीतां भीमश्चुक्षोभ विपुलमा मानी ताम् ॥ ८३ ॥

अनुवाद—अपने मुख से चन्द्रमा और कमल को भी जीतनेवाली, दुःशासन के भय से कम्पायमान तथा प्रत्येक वस्तु के प्रति विरक्त उस कृष्णा (द्रौपदी) को सभा में आया हुआ देखकर महान् तेजस्वी तथा मानी भीमसेन क्षुभित हो गया।

व्याख्या—द्रौपदी इतनी सुन्दर थी कि उसके मुख की कान्ति से चन्द्रमा और कमल भी पराजित हो गये थे। दासी बनाकर जघा पर बैठाने के लिये लाई गयी द्रौपदी को देखकर पराक्रमी और क्रोधी भीम को क्रोध आ गया। इसके पश्चात् भीम ने क्या कहा—इसका वर्णन अगले श्लोकों में किया जायगा ॥ ८३ ॥

तरसैव क्षोभित्वादुपेत्य दुःशासनस्य वक्षो भित्त्वा।
जनितरसं यतितस्य क्षतजं पास्यामि नैव संयति तस्य ॥ ८४ ॥
यद्यरिसेनाशमदः शत नयिष्यामि वैशसे नाशमदः।
क्रूराणामहितानां गतिं न यायां सुकर्मणा महितानाम् ॥ ८५ ॥
इत्थंवादी प्रसभ भीमः क्षुभितः क्षणादिवादीप्रसभम्।
परिघममन्दारुणया दृष्ट्या प्रैक्षिष्ट पृथुतम दारुणया ॥ ८६ ॥

अनुवाद—क्षोभ के कारण, प्रयत्नशील दुःशासन के वक्षःस्थल को बलपूर्वक भेद कर युद्ध में रसपूर्ण उसके रक्त को यदि न पिऊँ।

शत्रुओं की सेना को नाश करनेवाला मैं यदि युद्ध में इन सौ कौरवों को नष्ट न करूँ तो पुण्य के द्वारा (प्राप्य) पुण्यात्माओं की गति को न प्राप्त करूँ।

इस प्रकार प्रतिज्ञा करके थोड़ी देर के लिए बलात् क्षुभित भीमसेन ने सभा को प्रकाशित कर देनेवाले अपने महान् परिघ (शस्त्रविशेष) को अत्यन्त लाल तथा भयंकर दृष्टि से देखा ॥ ८४–८६ ॥

व्याख्या—इन श्लोकों में महाभारत की इस पंक्ति—'इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिर्वृता। मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुः परिघमैक्षत ॥' का वर्णन कवि वासुदेव ने अपनी प्रतिभा से किया है। तीनों ही श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। प्रथम श्लोक में भीमसेन ने दुष्ट दुःशासन के वक्षस्थल को चूर्ण कर उसके रक्तपान की प्रतिज्ञा की। दूसरे श्लोक में उसने कौरवों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की तथा तीसरे श्लोक में क्षुभित भीम ने प्रहार करने की दृष्टि से अपने शस्त्र परिघ पर नजर डाली ॥ ८४–८६ ॥

सोऽनलभाव्यापारैरङ्गानां निजमतं विभाव्यापारैः।
शान्तिमनीयत तेन भ्रातापनयाय्चेतनीयवतेन ॥ ८७ ॥

अनुवाद—अपने अंगों के, अग्नि के समान, अपार व्यापारों के द्वारा अपने मत को प्रकट करनेवाले भीम को उनके भाई युधिष्ठिर ने, जो दुर्व्यापार से अगम्य बुद्धि-विस्तारवाले थे, शान्त किया।

व्याख्या—अपने क्रोधाग्नि की ज्वाला से भीम ने कौरव-वंश के नाश का संकेत दे दिया था। अति क्रुद्ध भीम को अग्रज युधिष्ठिर ने शान्त किया। युधिष्ठिर सात्त्विक बुद्धिवाले थे कुनीति (अपनयादि) के द्वारा उनकी बुद्धि अगम्य थी, अशोधनीय थी ॥ ८७ ॥

तदनु स्मयमानेन द्रौपद्यै दर्पमधिकमयमानेन।
स्वीकृतराष्ट्रेणोरुः प्रदर्शितः सदसि धार्तराष्ट्रेणोरुः ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त अत्यधिक घमण्ड को प्राप्त, (द्यूत के द्वारा) राज्य को जीत लेनेवाले दुर्योधन ने मुस्कुराते हुए, सभा में द्रौपदी को (बैठने के लिए) अपनी जंघा दिखलाई।

व्याख्या—पाण्डवों को अपना दास बना लेने के कारण दुर्योधन गर्व से भर गया था। अतः सारी मर्यादा को छोड़कर प्रतिशोध की भावना से उसने द्रौपदी को बैठाने के लिये अपनी जांघ दिखलाई ॥ ८८ ॥

अचिराद्रावस्य स्यान्मृत्युर्दुर्मतेः सुदूरावस्य।
इति समितावनलाभा शशाप तं द्रौपदी गतावनलाभा ॥ ८९ ॥

अनुवाद—अपनी जंघा पर हस्त-ताल से दुष्ट शब्द करनेवाले तथा कुमतिमान् इस दुर्योधन की थोड़े ही समय में मृत्यु होवे—इस प्रकार अग्नि के समान तेजस्विनी तथा रक्षण की आशा त्याग देनेवाली द्रौपदी ने सभा में उसे शाप दिया।

व्याख्या—जब द्रौपदी निराश हो चुकी तो उसने दुर्योधन को क्रोध में आकर थोड़े ही समय में मृत्यु को प्राप्त होने का शाप दिया। उस सती का यह शाप आगे चलकर सत्य साबित हुआ यह भी पाठकों को ज्ञात है ॥ ८९ ॥

तस्यां क्रुद्धतमायां रुद्ध्वा जनतां वचोभिरुद्धतमायाम्।
उचितारम्भी ततया धृतराष्ट्रो दत्तवान् वरं भीततया ॥ ९० ॥

अनुवाद—इस प्रकार उस द्रौपदी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर, वाक्यों से उद्धत मायावी जनसमूह को रोक कर अत्यन्त भय के कारण नीतिज्ञ धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को वर दिये।

व्याख्या—जब धृतराष्ट्र ने जाना कि सती द्रौपदी ने उनके पुत्र दुर्योधन को शाप दे दिया तो भय के कारण लोगों को समझाया-बुझाया और द्रौपदी

को वर दिये जिसके कारण उसके पति दासत्व से मुक्त हो गये ॥ ९० ॥

बहुभिरुपधियातेन प्रलोभ्यमाना वरैरथधिया तेन ।
स्वपतीन् दासत्वेन व्ययोजयत्सा कृतास्पदा सत्त्वेन ॥ ९१ ॥

अनुवाद—वरदानों के कारण लुभायी गयी धैर्यशालिनी उस द्रौपदी ने छलपूर्ण मतिवाले तथा बुद्धिमान् उस धृतराष्ट्र से अपने पतियों को दासता से मुक्त कराया।

व्याख्या—द्यूत में हार जाने के कारण पाण्डव दुर्योधन के दास बन चुके थे। द्रौपदी के क्रोध को देखकर धृतराष्ट्र ने उसे वरदान दिये तथा उसके पतियों को मुक्त कराया ॥ ९१ ॥

अथ कौन्तेयानवनः सौभ्रात्रं गच्छतश्च ते यानवतः ।
तान् देवनवासनया स्फुटमाह्वासत परे सवनवासनया ॥ ९२ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् भ्रातृभाव की रक्षा करनेवाले तथा जाते हुए रथादि-युक्त पाण्डवों को कौरवों ने वनवास की नीति से तथा प्रकट रूप से द्यूत की वासना से (पाण्डवों को) बुलाया।

व्याख्या—जब कौरवों ने देखा कि ये तो सब लौटे जा रहे हैं तो उन्हें फिर बुलाया। मन में उनकी यह इच्छा थी कि इस बार द्यूत में जीतकर इन्हें वनवास कराऊँगा ॥ ९२ ॥

विहिते पुनरक्षपणे वनवासादौ स्तो रिपुर्नरक्षपणे ।
राज्ञा देवनयोऽगात्पराजितोऽभूद्वन च देवनयोगात् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—देवताओं के सदृश नीतिवाले युधिष्ठिर, मनुष्यों के नाशरूप अक्ष-पण में वनवासादि के होने पर पराजित हो गये और दैववशात् उन्हें वन जाना पड़ा।

व्याख्या—इस बार पासों की बाजी में वनवास रखा गया। आदि का अर्थ यहाँ पर एक वर्ष तक 'निजगोपन' है। परन्तु दुर्भाग्य से युधिष्ठिर उसमें भी हार गये और उन्हें वन जाना पड़ा ॥ ९३ ॥

स्फुटमन्तरचापलतां दधतो दोर्भिश्च चारुतरचापलताम् ।
तस्यावरजायातं द्रुतमनुजग्मुस्तथैव वरजाया तम् ॥ ९४ ॥

अनुवाद—युधिष्ठिर के छोटे भाइयों (भीमादि) ने मन के अन्दर स्फुट रूप से स्थिरता (धैर्य) को धारण किये हुए तथा हाथों में धनुर्लता को लिये हुए अपने भाई (युधिष्ठिर) का शीघ्र ही अनुसरण किया तथा उसकी श्रेष्ठ पत्नी द्रौपदी ने भी वैसा ही किया।

व्याख्या—वनवास के लिये जाते हुए अपने बड़े भाई का अनुसरण चारों भाइयों ने द्रौपदी सहित किया ॥ ९४ ॥

प्रणयमृदुर्जननी त क्लेशं विलोक्य दुर्जनभीतम् ।
रुदती कलितसटानां तेषां पदमनुससार कलितसटानाम् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—जटायें बाँधे हुए तथा कलह के कारण त्रस्त युधिष्ठिरादि के, दुष्ट दुर्योधनादि के कारण प्राप्त कराये गये उस क्लेश को देखकर स्नेह के कारण आर्द्रचित्त उनकी माँ कुन्ती ने भी रोते हुए उनका अनुसरण किया।

व्याख्या—'कलितसटानां' या अर्थ यहाँ पर एक स्थान पर जटा बाँधे हुए (युधिष्ठिरादि) हुआ है क्योंकि 'सटा' जटा का पर्यायवाची है और दूसरे स्थान पर (सम्बन्धियों के साथ) 'कलह के कारण सन्तप्त'। यह दशा इन लोगों की दुष्टों के कारण हुई थी। अतः यह देखकर करुणामयी माँ का अनुमोचन करना उचित ही है। अपने पुत्रों के प्रेम में उसने भी उन लोगों का अनुसरण किया ॥ ९५ ॥

अनलमिवाधायान्तस्तापं पार्थाः सकोपबाधा यान्त. ।
निदधुर्देवरहस्ते जननीं सचिन्त्य युगपदेव रहस्ते ॥ ९६ ॥

अनुवाद—अन्तःकरण में अग्नि के समान सन्ताप को धारण कर (वनवास के लिये) जाते हुए कुपित पाण्डवों ने एकान्त में एक साथ वनगमन के क्लेशादि को सोचकर अपनी जननी को देवर के हाथों में सौंप दिया (अर्थात् अपनी माँ को विदुर के यहाँ रख दिया)।

व्याख्या—विदुर पाण्डवों के चाचा थे। अतः युधिष्ठिरादि ने जब वनवास के कष्टों का विचार किया तो अपनी माँ को वहीं (विदुर के घर) छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझा ॥ ९६ ॥

रुरुपृषतीरङ्कुरवस्फीतमगुरिडयसिन्धुतीरं कुरवः ।
तामुरुवीचीरवत' प्रतिजगाहेव जाह्नवी चीरवतः ॥ ९७ ॥

इसके बाद कवि वासुदेव पाण्डवों के वनगमन का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—युधिष्ठिरादि रुरु (मृग विशेष), पृषती, रंकु (मृग) के शब्दों से भरे हुए गंगा के किनारे पर गये। उन वल्कलधारी पाण्डवों का गंगा ने महान् लहरों के शब्द से मानो स्वागत किया।

व्याख्या—पाण्डव गंगा के किनारे पर पहुँचे जो भिन्न-भिन्न प्रकार के मृगों से व्याप्त था। गंगा में महान् लहरों के कारण जो शोर हुआ उससे ऐसा मालूम हुआ कि वह पाण्डवों का स्वागत कर रही हो ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—स्वागत की सम्भावना किये जाने से इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है ॥ ९७ ॥

कृतसनाहा रजनेरन्ते गन्तु जवादनाहारजने।
दिनकृतमन्नरसार्थं शरणमिता भर्तुमुत्तमनरसार्थम् ॥ ९८ ॥

अनुवाद—वे पाण्डव रात्रि के अन्त में शीघ्र चलने के लिये तैयार हुए और विप्रसमूह के साथ अन्न और रस के लिये तथा अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषों के समूह के पोषण के लिये सूर्य की शरण में गये।

व्याख्या—१२ वर्ष के वनवास में अन्नपानादि की प्राप्ति के लिये उन्होंने सूर्य की प्रार्थना की। सूर्य ने उन्हें वरप्रदान किया जिसका वर्णन 'आरण्यपर्व' में आया है—

'यत्तेऽभिलषितं राजन् सर्वमेतदवाप्स्यसि।
अहमन्नं प्रदास्यामि सप्त पञ्च हि ते समाः ॥' ॥ ९८ ॥

लम्भितभोजनलाभा भाजनलाभेन भरतभोजनलाभाः।
विविशुः काम्यकलाप विपिन व्याकीर्णकेकि [काम्य]कलापम् ॥९९॥

अनुवाद—भरत, भोज और नल के समान उन पाण्डवों ने सूर्य के वरदान से भोजनादि प्राप्त करके काम्यक वन में प्रवेश किया जहाँ पर मयूर अपने पंखों को फैलाए हुए (नाच रहे) थे।

व्याख्या—यहाँ पर पाण्डवों की उपमा लगातार तीन प्रसिद्ध और महान् राजाओं—भरत, भोज और नल—से देकर कवि ने उनमें, दानशीलता, शूरता आदि अनेक गुणों को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है ॥ ९९ ॥

अपि चलपादपवनतस्तस्माद्देशादुदीर्णपादपवनतः।
क्षुभितसमुद्रक्षोभि प्रोत्थितमशनिप्रभं समुद्रक्षोभि ॥ १०० ॥

अनुवाद—हिलते हुए वृक्षोंवाले उस वन प्रदेश से उन पाण्डवों के सम्मुख क्षुब्ध समुद्र के समान क्षोभयुक्त, बिजली की प्रभा के समान तथा प्रसन्न एक राक्षस (किर्मीर नामक) उठा (निकला, आया)।

व्याख्या—महाभारत के वन-पर्व में (काम्यक वन में) पाण्डवों के द्वारा एक राक्षस के वध की कथा का उल्लेख आया है। अतः कवि ने उसका वर्णन साहित्यिक शैली में इस श्लोक के अन्तर्गत किया है ॥ १०० ॥

काङ्क्षितकङ्कालेन स्फुटतडिदभ्रत्विषाधिकं कालेन।
चलता मालातेन प्रचुक्षुभे भूः प्रमग्नमाला तेन ॥ १०१ ॥

अनुवाद—कंकाल (नरशरीरास्थि) की आकांक्षा करनेवाले, अज्ञात

(जलती हुई लकड़ी का टुकड़ा) से युक्त (होने के कारण) चमकती हुई बिजलीवाले मेघ के समान अत्यधिक काले उस राक्षस के चलने से टूटे हुए वृक्षों से भरी हुई पृथिवी कम्पित हो उठी।

व्याख्या—इस श्लोक में आये हुए विशेषणों से राक्षस की विशालकायता तथा भयकरता का स्पष्ट आभास हो जाता है। वह अपने हाथों में अलात लिये हुए थे तथा उसका शरीर अत्यन्त काला था अतः उसका शरीर चमकती हुई बिजली से युक्त काले मेघों के समान था। उसके चलने से पृथिवी काँप उठी। इतना भारी शरीर उसका था। वृक्ष टूट-टूट कर पृथिवी पर गिर गये थे॥ १०१॥

अविकमसारं भीमं भुवने मृगयामि साहसारम्भीमम्।
नृभुज कन्या येन स्पृष्टा दुष्टेन कामुकन्यायेन॥ १०२॥
इत्थ विशदध्वान भीम. किन्दीरनाम विशदध्वानम्।
दत्तवसुमनोरक्षः क्षपयामास क्षणेन वसुमती रक्ष॥ १०३॥

अनुवाद—साहसपूर्ण कार्य करनेवाला मैं इस नरभोजी, भयानक तथा असार (अस्थिर) राक्षस को, जिस दुष्ट ने कुमारी कन्याओं को कामुकन्याय से स्पर्श किया है—इस लोक में ढूँढ़ता रहा हूँ।

इस प्रकार (कहते हुए) महान् शब्द करनेवाले तथा मार्ग में आये हुए किन्दीर नामक राक्षस को वसु (देवविशेष) के समान बुद्धिमान् तथा (चूत में) भूमि-रक्षा को दान कर देनेवाले भीम ने क्षणभर में मार डाला।

व्याख्या—भीम ने इस किन्दीर नामक राक्षस को पृथिवी पर खूब ढूँढा क्योंकि इसने अपनी कामुकता के कारण अनेक कन्याओं का बलात्कार किया था। अत आज उसे अकस्मात् मार्ग में प्राप्त कर भीम ने तनिक देर में ही मौत के घाट उतार दिया॥ १०२–१०३॥

दत्तनरक्षोदेहे निपातिते पवनजेन रक्षोदेहे।
पाण्डुसुतै समहर्षिव्रात परमाश्रम गतैः समहर्षि॥ १०४॥

अनुवाद—मनुष्यों को कम्पित कर देनेवाली चेष्टाओंवाले (दत्तनरक्षोदेहे) राक्षस किन्दीर के भीम द्वारा पृथिवी पर गिरा दिये जाने पर आश्रम को प्राप्त होनेवाले पाण्डव, महर्षि-समूह के साथ परम हर्षित हुए।

व्याख्या—राक्षस की भयंकरता का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। उसकी चेष्टाओं से नर-समूह कम्पित हुआ करते थे। अत जब ऐसे क्रूर राक्षस को भीम ने मार डाला तो बाकी पाण्डव महर्षियों सहित प्रसन्न हुए। अर्थात्

उसके वध से केवल पाण्डवों को ही प्रसन्नता नहीं हुई अपितु महर्षि-गण भी प्रसन्न हुए ॥ १०४ ॥

अथ कौरवकुद्यूतश्रवणात्कुपितः ससैन्यरवकुद्यूतः ।
अचलद्भोजनगरतः कृष्णः कुपितः पुरेव भोजनगरत ॥ १०५ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् कौरवों के निन्दनीय द्यूत-क्रीडा को सुनकर, सैन्य-रव से युक्त पृथिवी और आकाश से समवेत कृष्ण क्रुद्ध होकर उसी प्रकार यदुनगरी से चल पड़े जिस प्रकार भोजन में मिलाये गये विष से क्रुद्ध होकर (इसके पूर्व) पहले (एक बार) कृष्ण चल पड़े थे।

व्याख्या—जिस प्रकार एक बार और भी आँखों के (भोजन में विष जैसे) दुष्कर्म से कुपित होकर कृष्ण अपनी नगरी से रक्षा के लिये चल पड़े थे उसी प्रकार इस बार भी कपट-द्यूत से कुपित होने के कारण अपनी नगरी से चल पड़े ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में यद्यपि 'कुपित' पद दो बार प्रयुक्त हुआ है तो भी पुनरुक्ति दोष नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च', इस श्लोक की पंक्ति में आनेवाला 'ताम्र' पद पुनरुक्ति-दोष से रहित है ॥ १०५ ॥

वार्ष्णेयं कुर्वन्तं कर्तुमिव तदैव निश्चय कुर्वन्तम् ।
प्राप्तमशीशमदाभिर्वाग्भिर्जिष्णुः प्रभु वशी शमदाभिः ॥ १०६ ॥

अनुवाद—उस समय ही, दुर्योधनादि के अन्त की प्रतिज्ञा करते हुए आनेवाले प्रभु श्रीकृष्ण को जितेन्द्रिय अर्जुन ने अपनी इस (वक्ष्यमाण) विनीत वाणी से शान्त किया।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण क्रोध के कारण दुर्योधनादि को समाप्त करने की प्रतिज्ञा करनेवाले ही थे पर उसी समय अर्जुन ने उन्हें अपनी स्तुतिपरक वचनों से शान्त कर दिया। आगे के कुछ श्लोक में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण की स्तुति की है ॥ १०६ ॥

जय जगदामोदरते चरणौ शरणं गतोऽस्मि दामोदर ते ।
त्यज रुषमरिपुं जगतां प्राप्नुहि चैव प्रसादमरिपुञ्जगताम् ॥ १०७ ॥

अनुवाद—हे दामोदर ! संसार के आमोद में रत भगवन् ! मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ। आप शत्रुओं के समूह के प्रति अपने रोष को त्यागें तथा संसार के रिपुविहीन प्रसाद को प्राप्त करें (अर्थात् संसार के प्रति अनुग्रह करें)। अथवा सुदर्शन चक्र (आदि), मनुष्यों (पुम्) तथा लोकों

(जगत्) के प्रसाद को प्राप्त करे अर्थात् इन पर कृपा करे, अनुग्रह करे।

व्याख्या—इस श्लोक में अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से क्रोध त्याग कर शत्रुओं पर कृपा करने की प्रार्थना की है क्योंकि अभी शत्रुओं के नाश का समय नहीं आया है ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'अरिपुञ्जगताम्' पद के श्लेष द्वारा दो अर्थ होने से श्लेषालंकार है।

यद्यपि इस श्लोक में 'रिपु' पद एक बार आ चुका था अतः उसी भाव के बोधक दूसरे 'रिपु' शब्द के आघात में कथितपदत्व दोष की सम्भावना की जा सकती है पर यमकादि में यह दोष नहीं माना जाता ॥ १०७ ॥

ननु भवता पापनयः कंसो निहतः कृतश्च तापापनयः।
सुरमनुजानामिह ते सुकृतं कृतमेव तत्र जानामि हते ॥ १०८ ॥

अनुवाद—हे भगवन्! आपने पापपूर्ण नीति वाले कंस को मारा तथा देवों और मनुष्यों के सन्ताप को दूर किया। (इस प्रकार) कंस को मारकर आपने पुण्य ही किया—ऐसा मैं समझता हूं।

व्याख्या—इस श्लोक में अर्जुन ने कृष्ण की पुण्य-स्मृति की है। कंस को मारकर निश्चित ही कृष्ण ने अच्छा कार्य किया क्योंकि पापियों का वध करना पाप नहीं अपितु पुण्य ही है। इस प्रकार दुर्योधनादि का भी वध पुण्य ही होगा पर जब तक वनवास के वर्ष पूरे नहीं हो जाते तब तक यह महान् कार्य न किया जाये—इस प्रकार का संकेत आगे के श्लोक में अर्जुन कृष्ण को देते हैं ॥ १०८ ॥

अपि भवता नरकलयः कृतस्तथान्ये निराकृता नरकलयः।
तद्देवारिजनेऽत्र क्षमस्व कतिचिद्दिनानि वारिजनेत्र ॥ १०९ ॥

अनुवाद—हे पुण्डरीकाक्ष! आपने नरकासुर का वध किया है तथा और भी दूसरे मनुष्यों के कलहों (विघ्नों) को आपने दूर किया है। अतः हे देव! इस शत्रु-समूह को (कौरव) कुछ दिन के लिये क्षमा करें।

व्याख्या—हे कृष्ण! आपने यद्यपि अनेक असुरों को मारा है और अपने भक्तों के विघ्नों को मार्ग से हटाया है फिर भी मेरी आप से यह प्रार्थना है कि जब तक मेरी शर्त पूरी नहीं हो जाती तब तक के लिये आप शत्रु पर कृपा करें ॥ १०९ ॥

आशां शरदा तरणे स्थितोऽरिसैन्ये मदीयशरदान्तरणे।
अहमाशा तव देव पूरयिष्यामि तिष्ठ शान्तयदेव ॥ ११० ॥

अनुवाद—हे देव! मेरे बाणों के द्वारा खण्डित-रण वाले शत्रु-सैन्य के निमित्त ही इन (द्वादश) वर्षों के पार करने के लिये मैं स्थित हूँ (अर्थात् बारह वर्ष के वनवास को काट रहा हू)। हे भगवन्! मैं आपकी आज्ञा को पूर्ण करूँगा तब तक हे शान्तव देव! आप ठहरे।

व्याख्या—हे भगवन्! युद्ध में मैं अपने बाणों से शत्रु-समूह का नाश करूँगा इसीलिये मैं अपनी वनवास की शर्त को पूरा कर रहा हूँ। समय पूरा होने पर मैं पृथ्वी के भारावतरण रूप आपकी इच्छा को अवश्य ही पूर्ण करूँगा। इस श्लोक में भी अर्जुन ने स्पष्ट शब्दों में उन्हें शान्त करने की प्रार्थना की है ॥ ११० ॥

अतिमत्तासुरसमितिध्वसाय विजृम्भिजल्पता सुरसमिति।
कोपादवशमनेन प्रभोर्मनो घटितम[भवद]वशमनेन ॥ १११ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अत्यन्त मतवाले (दुर्योधनादि रूप) असुरों की सभा के नाश के लिये स्पष्ट रूप से, स्नेहपूर्वक, कहते हुए अर्जुन ने क्रोध के कारण व्याकुल भगवान् श्रीकृष्ण के मन को निश्चित रूप से शम से जोड़ दिया। अर्थात् अपनी स्तुति से अर्जुन ने कृष्ण के कोप को दूर कर उनके मन में शान्ति का संचार कर दिया।

व्याख्या—इस श्लोक में दुर्योधनादि को असुर की समकक्षता प्राप्त कराकर उनके अनिवार्य-वध का सकेत किया गया है ॥ १११ ॥

सौभद्रोही रोपितसौभद्रोऽहीशवैरिकेतौ स रथे।
द्वारवतीपुरमलिमृद्वारवतीरद्रुमाधिमध्यगमगमत् ॥ ११२ ॥

अनुवाद—सौभ (साल्व नगर अथवा देवविशेष) से द्रोह करनेवाले (चूर्ण करनेवाले) भगवान् कृष्ण ने अहीश-वैरी गरुड-युक्त ध्वजवाले अपने रथ पर अभिमन्यु (सौभद्र) को बैठाया और द्वारिका पुरी को गये जो (द्वारिका पुरी) भौंरो के कोमल शब्दों से व्याप्त तीर के वृक्षों के मध्य में स्थित है।

टिप्पणी—'सौभद्रोही' विशेषण भगवान् कृष्ण के लिये प्रयुक्त हुआ है। वैसे सौभ पुराणों के अनुसार हरिश्चन्द्र की नगरी का नाम है जो कि अन्तरिक्ष में लटकी है। सौभ का दूसरा अर्थ साल्व किया गया है। साल्व एक नगर जहाँ का राजा साल्व था। अथवा एक देवविशेष का नाम भी साल्व है जिसे विष्णु ने मारा था। इस प्रकार अनेक पौराणिक संकेतों के साथ कृष्ण के लिये कवि ने 'सौभद्रोही' विशेषण प्रयुक्त किया है ॥ ११२ ॥

चतुरम्बुधिमध्यगता जगतोऽपरमा परमा परमाप रमा।
अपि पाण्डुसुता गहने विपिने मधुरामधुरामधु रामधुरा ॥ ११३ ॥

अनुवाद—(पाण्डवों के वन चले जाने पर) चारों समुद्रों के मध्य में रहनेवाली श्रेष्ठ लक्ष्मी जगत् के रमण को छोड़कर श्रीकृष्ण (परं-अथवा शत्रु दुर्योधन) के पास चली गयी तथा गहन वन में श्रीरामचन्द्र की श्रेष्ठता से (अग्रवता) पूर्ण पाण्डवों ने भी वसन्तर्तु पर्यन्त मधुरा नगरी में निवास किया—अथवा सर्वात्मना सुन्दर (आमधुरा) पाण्डुपुत्रों ने उस गहन वन में वसन्तोत्सव की श्रेष्ठता को (मधु-राम-धुरां) धारण किया अर्थात् उस गहन वन में ये पाण्डव साक्षात् वसन्तोत्सव के समान थे अथवा सर्वात्मना सुन्दर (आमधुरा) उन पाण्डवों ने उस गहन (काम्यक) वन में सुन्दर रामचन्द्र की अग्रवता को (मधुरामधुरां) धारण किया अर्थात् जिस प्रकार भगवान् राम ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए वनवास स्वीकार किया उसी प्रकार दुर्योधनादि रूप असुरों का हनन करने के लिए पाण्डवों ने भी वनवास स्वीकार किया।

व्याख्या—इस अन्तिम श्लोक में कवि ने अपनी अनूठी प्रतिज्ञा के द्वारा *अनेक गम्भीर भावों को कूट-कूट कर भरने का प्रयास किया है। जब से* पाण्डव वन को चले गये तब से लक्ष्मी ने भी इस संसार में विचरण करने के अपने सौध को त्याग कर विष्णु का सहारा लिया। अथवा इस श्लोक में आये हुए 'पर' शब्द का दूसरा अर्थ शत्रु दुर्योधन भी किया जा सकता है अर्थात् जब से पाण्डव वन गये तब से उसने दुर्योधन का सहारा लिया ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने अपने प्रिय यमकालंकार के साथ श्लेष का प्रचुर-प्रयोग किया है। 'पर' शब्द के श्लेषालंकार की व्याख्या, ऊपर की जा चुकी है। इसी प्रकार 'मधुरामधु—' इत्यादि पदों में भी श्लेष के द्वारा कवि ने *कई अर्थों को भरने का प्रयास* किया है जिसका विशद उल्लेख हम शाब्दिक अनुवाद में कर आये हैं। इसके अतिरिक्त लुप्तोपमालंकार भी विभावनीय है ॥ ११३ ॥

इति तृतीय आश्वासः।

चतुर्थ आश्वासः

अथ रिपुराज्यन्तनये गतवति पाण्डोविहाय राज्यं तनये।
स नृपो निर्वेदमयात्स्खलनादिव कृत्यतो मुनिर्वेदमयात् ॥ १ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर शत्रु-समूह के लिये विनाशरूप नीति का पालन करनेवाले पाण्डु-पुत्रों के राज्य छोड़कर वन चले जाने पर वह राजा धृतराष्ट्र उसी प्रकार दुःखी हुआ जिस प्रकार कोई मुनि वैदिकोक्त कर्मों से स्खलित होने के कारण दुःखी होता है।

व्याख्या—कपट-द्यूत में पराजित होकर जब वनवास को गये तो सारी घटनाओं को तथा उसके भावी परिणामों को स्मरण करके धृतराष्ट्र बहुत दुःखी होने लगा। इस श्लोक में दुःखी धृतराष्ट्र की उपमा कवि ने एक ऐसे मुनि से देने का प्रयास किया है जो सदा वैदिकोक्त कृत्यों में लगा रहता है पर कभी उसमें किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने के कारण या उसके विपरीत कृत्य होने से दुःखी होने लग जाता है ॥ १ ॥

प्रेक्ष्य सदार्हं तातं सुयोधनः संपदा सदा हन्ता तम्।
कर्ता कुन्यायानामाशंसितवान् क्षयं शकुन्यायानाम् ॥ २ ॥

अनुवाद—अपने पिता धृतराष्ट्र को (उपर्युक्त कारणों से) सन्तप्त देखकर, सम्पत्ति के हन्ता (घातक) तथा मामा शकुनि के कारण प्राप्त होनेवाले (शकुन्यायानां) द्यूतच्छलों के कर्ता सुयोधन ने (अपने लिये) क्षय (नाश) की आशंका की।

व्याख्या—राजा दुर्योधन ने जब अपने पिता को दुःखी देखा तो उनकी उस दशा को देखकर ही उसने शत्रुओं के द्वारा प्राप्त होनेवाले अपने भावी विनाश की शंका की। इस श्लोक में कवि ने दुर्योधन के लिये दो विशेषणों का प्रयोग किया है जिनसे उसके निन्द्य चरित्र पर प्रकाश पड़ता है ॥ २ ॥

अथ परमत्सरवेगामसये दत्त्वा भृशं समत्सरवे गाम्।
कर्णो दुर्वादरतः सुयोधनं दीनमलपद्दुर्वादरतः ॥ ३ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त दुष्ट-वाद में रत कर्ण (राधेय) ने 'समान मूँठवाली खड्ग के लिये' अत्यन्त रोष के साथ वचन कहकर (अर्थात् शूरों के लिये खड्ग ही एक जय का साधन है), दीन दुर्योधन से बड़े आदर के साथ कहा।

व्याख्या—इस श्लोक की ऊपर की पंक्ति में कवि ने बड़े घुमाव-फिराव के साथ अपने अभिप्राय को प्रकट किया। 'त्सरु' पद प्रायः खड्ग की मूँठ के लिये प्रयुक्त होता है। कर्ण ने मूँठवाली खड्ग के लिये (निमित्त) यह कहा अर्थात् 'खड्ग धारण करो। एक खड्ग ही वीरों की जय का परम साधन है।' इस भाव को उसने सरोष प्रकट किया। आगे श्लोक में उसने सुयोधन को युद्ध की तय्यारी करने के लिये प्रेरित किया है ॥ ३ ॥

त्यज कलुषामस्थिरता पश्यासिलता मम द्विषामस्थिरताम्।
चापधरा यास्याम स्वरिपून् हत्वेश्वरा धरायाः स्याम ॥ ४ ॥

अनुवाद—हे राजन्! अपनी कलुषित अस्थिरता का त्याग करो। शत्रुओं की अस्थि में रत मेरी खड्गलता को देखो। हम धनुर्धारी (युद्ध के लिए) चलें तथा अपने शत्रुओं को मारकर (सारी) धरती के स्वामी हो जावें।

व्याख्या—इस श्लोक में कर्ण ने सुयोधन को युद्ध के लिये उकसाया है। वह कहता है कि अपनी इस असमर्थता को सोचना ही छोड़ दो कि 'पाण्डवों के सामने हम लोग खड़े नहीं हो सकते'। मेरी खड्ग उनकी अस्थि तक पहुँचने के लिये उत्सुक है।

पाण्डवों के वन जाने के पश्चात् दुर्योधनादि ने विचार किया कि वनवास से लौटने के पश्चात् पाण्डव हम लोगों को निश्चित ही हमारे कृत्यों के कारण नहीं छोड़ेंगे। अतः अच्छा है कि हम उनको वन में जाकर ही मार डालें जिससे भविष्य की चिन्ता ही समाप्त हो जाये ॥ ४ ॥

इत्थं सहरामस्य श्रुत्वाधिरथेर्वचासि स हरामस्य।
रथमापद्युद्धाय स्वधनुर्दुर्योधनः स्वमुद्धाय ॥ ५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार रुद्र तुल्य उस कर्ण की बात सुनकर दुर्योधन साहसपूर्वक धनुष लेकर युद्ध के लिये रथ पर पहुँचा।

व्याख्या—कर्ण का उपदेश सुयोधन को पूरी तरह से भा गया अतः उसने पाण्डवों को मार डालने का निश्चय किया और अपना धनुष लेकर युद्ध के लिये तय्यार हो गया ॥ ५ ॥

अथ कुरुसेना ध्वानं विदधानोपेत्य साहसेनाध्वानम्।
रोपपराशरजातं ददर्श दधती मुनिं पराशरजातम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात साहसपूर्वक रास्ते में पहुँचकर, शब्द करती हुई तथा बाणस-समूह (बाणजाल) को रखनेवाली रोषान्विता कौरव-सेना ने महर्षि पराशर के पुत्र श्रीव्यास मुनि को देखा।

व्याख्या—मार्ग में ही कौरव-सेना ने मुनि श्रीव्यास को आते हुए देखा। कौरवों की सेना अत्यधिक पदाति व अश्वादि के कारण शब्द कर रही थी तथा उसमें राक्षस भी भरे हुए थे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—'आशरजात' पद का अर्थ राक्षस-समूह है। 'शॄ+हिंसायाम्' धातु से 'आशर' पद निष्पन्न हुआ है। कौरव-सेना में दो प्रकार से राक्षस-समूह की सम्भावना की जा सकती है। प्रथम तो यह कि दुर्योधन और शकुनि आदि ही राक्षस थे जिनसे वह सेना पूर्ण थी अथवा दूसरी सम्भावना यह—जैसा कि महाभारत में भी आया है—कि अलम्बुसादि राक्षस-समूह से वह सेना भरी थी ॥ ६ ॥

यो दलिताञ्जनकायः स्वयमस्मै कुरुमहीभृतां जनकाय।
कुरवो भूमौ लीनां विदधुस्ते विततिमसभूमौलीनाम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो पिसे हुए अञ्जन के समान शरीरवाले हैं उन कुरु राजाओं के वंशकर्ता (जनक) के लिए कौरवों ने (दुर्योधनादि) अपने स्कन्ध देश तथा मस्तकों की पंक्ति को भूमि पर लगा दिया अर्थात् श्रीव्यास मुनि को साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

व्याख्या—श्रीव्यास एक तो ऋषि थे दूसरे कौरवों के बाबा भी थे अतः पूज्य होने के कारण उन्हें प्रणाम करना कौरवों का परम कर्तव्य था। श्रीव्यास के द्वारा धृतराष्ट्र की उत्पत्ति का वर्णन प्रथम आश्वास में ही आ चुका है। इसके अतिरिक्त महाभारत के आदि-पर्व में सविस्तार यह कथा देखी जा सकती है ॥ ७ ॥

स मुनिरुरुध्वानं तं क्षत्रसमूहं क्षणेन रुद्ध्वानन्तम्।
नृपतिनिवेशनमद्भिः कृतार्घपाद्यं विवेश नमद्भिः ॥ ८ ॥

अनुवाद—श्रीव्यास मुनि ने महान् शब्द (करने) वाले उस अनन्त क्षत्रिय-समूह को थोड़ी देर तक रोक कर तथा प्रणाम करते हुए लोगों के द्वारा दिये गये जल से अर्घपाद्य स्वीकार कर राज-सभा में प्रवेश किया।

व्याख्या—श्रीव्यास मुनि युद्ध से कौरवों को रोकने के लिये धृतराष्ट्र से कुछ निवेदन करने के लिए आये थे। उन्होंने प्रस्थान के लिये तय्यार क्षत्रिय-समूह को थोड़ी देर के लिये रोका और राजभवन में प्रवेश करके धृतराष्ट्र से अपनी बात कही ॥ ८ ॥

मुग्धशोभावशकुनयस्थिरमतिराधासुतैकभावशकुनयः।
कुरवो रिपुरोधाय स्वबलं चेरुश्चलत्करि पुरोधाय ॥ ९ ॥

अनुवाद—मुग्ध (आरंभ) शोभा के कारण कुनीति में स्थिरमतिवाले

कर्ण (राधासुत) तथा समान बुद्धिवाले शकुनि के साथ कौरव, चलते हुए हाथियोंवाली अपनी सेना को आगे करके पाण्डवों पर आक्रमण करने के लिए (रिपुरोधाय) चल पड़े।

व्याख्या—राधासुत और शकुनि की बुद्धि कुनीति-मार्ग का सेवन करनेवाली थी क्योंकि इस मार्ग में सुख अर्थात् प्रारंभ में अत्यन्त आनन्द आता है भले ही परिणाम में वह कितनी ही बुरी हो। सुनीति का पालन करनेवाले लोगों को प्रारंभ में कष्ट उठाना पड़ता है पर परिणाम आनन्ददायी होता है परन्तु कुनीति सेवी लोगों का क्रम ठीक इसके विपरीत होता है। उदाहरण के लिये कौरवों और पाण्डवों की नीतियाँ हीं ली जा सकती हैं। कौरवों ने प्रारंभ में कपट-द्यूत के कारण पाण्डवों की सारी सम्पत्ति को छीनकर आनन्द किया पर उनका अन्त, बड़ा ही बुरा रहा। ठीक इसके विपरीत पाण्डवों को अपनी सत्यवादिता आदि नीतियों के कारण प्रारभ में कष्ट भोगना पड़ा पर अन्त में सुख व आनन्द की प्राप्ति हुई॥ ९॥

टिप्पणी—इस श्लोक का अन्वय ५ वें श्लोक के बाद किया जाना चाहिये क्योंकि युद्ध के लिये प्रस्थान करने का प्रसंग वहीं है और वहीं इस श्लोक का भावार्थ सगत भी बैठता है। भला व्यास के राजभवन आने के पश्चात् पुनः सेना का प्रस्थान कैसा॥ ९॥

तव भूपापास्तनयाः पाण्डवनिधनाय यान्ति पापास्तनया.।
करिण इवालाने तान् भवन्निदेशो रुरुध्व बालानेतान्॥ १०॥
सरभसमायातीतः शमाय मैत्रेय एष मायातीतः।
मनुजेशापेशलभा मा भुवस्तेऽनलेऽस्य शापे शलभाः॥ ११॥
वीक्ष्या वायव्या स प्रययौ प्रोच्येति पार्थिवाय व्यासः।
अतिकुपितो मैत्रेयः प्रादुरभूत्प्राणिना रतो मैत्रे यः॥ १२॥

(तिलकम्)

अनुवाद—हे राजन्! नीति-रहित तुम्हारे पापी पुत्र (कौरव) पाण्डवों के वध के लिए जा रहे हैं। अत. इन मन्द बुद्धि बालकों को, आलान में हाथियों के समान, आप आज्ञा दें अर्थात् आज्ञा देकर इनको इस निन्दनीय उद्योग से लौटा लें।

हे राजन्! मायातीत ऋषि मैत्रेय (तुम्हारे पुत्र को) शान्त करने के लिये शीघ्र ही इधर आ रहे हैं। (अत. तुम्हें ऐसा करना चाहिये) जिससे हे मनुजेश! कुत्सित दीप्ति (तेजरहित) वाले तुम्हारे पुत्र (कौरव) इस ऋषि की शाप रूपी अग्नि में शलभ न बन जायें अर्थात् उनके शाप से भस्म न हो जायें।

राजा धृतराष्ट्र से ऐसा कहकर वह व्यास-मुनि वायव्य-मार्ग (आकाश-यान) से चले गये। इसके पश्चात् प्राणियों (चराचर) की अनुकम्पा में रत रहनेवाले अत्यन्त क्रोधी मैत्रेय ऋषि प्रादुर्भूत हुए अर्थात् प्रकट हुए।

व्याख्या—यह 'तिलक' पद्य है। कवि ने १० वें श्लोक में मूढ बालकों की उपमा हाथियों से देकर उनकी उद्दण्डता को उन्मीलित करने का प्रयास किया है। जिस प्रकार किसी उद्दण्ड हाथी को लोग आलान में बाँध देते हैं उसी प्रकार अपनी आज्ञा रूप आलान में धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों को भी बांधना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो महान् अनर्थ होगा और वे भयंकर विनाश के कारण बनेंगे। ११ वें श्लोक में कवि ने क्रोधी मैत्रेय मुनि का वर्णन किया है। उनके शाप का रूपक अग्नि से बांधा है। जिस प्रकार अग्नि की शिखा में पतङ्गे भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार उद्दण्डता करने पर या उनकी बात न मानने पर दुर्योधनादि की भी, उनकी शापाग्नि में भस्म होने की संभावना है। ११ वें और १२ वें श्लोक के ध्यान से पढ़ने पर ऐसा पता लगता है कि मैत्रेय मुनि क्रोधी होने के साथ कृपालु भी बहुत हैं। वे सदा चराचर के ऊपर अनुकम्पा करते आये हैं॥ १०–१२॥

स सकलमानवदत्तं सान्त्वमनादृत्य दीप्तिमानवदत्तम्।
शासितुमाशु भवन्तं सम्प्राप्तोऽहं कुरूत्तमाशुभवन्तम्॥ १३॥

अनुवाद—दीप्तिमान् मैत्रेय मुनि ने, सारे लोगों के द्वारा दी गयी सलाह को तिरस्कृत कर देनेवाले उस दुर्योधन से कहा। हे कुरूत्तम! भावी अशुभ (समाचार) बतलाने के लिये मैं तुम्हारे पास शीघ्र आया हूँ।

व्याख्या—दुर्योधन इसके पहले अपने लोगों व अन्यों के द्वारा दी गयी अच्छी सलाह को अभिमानवश ठुकरा चुका था। भावी विनाश का अनुमान उसे पूर्णतः न हो सका था। अतः उसे अच्छी प्रकार समझाने के लिये अर्थात् राज्य देकर युद्ध से विरत करने के लिये मुनि मैत्रेय का आगमन हुआ॥१३॥

कष्टा राजसभा यः कष्टोऽयं वंश एव राजसभावः।
महणं केशान्तानां साध्वीनां लालयन्ति केशान्तानाम्॥ १४॥

अनुवाद—हाय तुम्हारी वह (द्यूत के लिये रची गयी) राजसभा तथा रजोगुणात्मक तुम्हारा यह वंश (दोनों ही) सन्तापकारी है। हे राजन्! शान्त साध्वी (पतिव्रता) स्त्रियों के केश-ग्रहण की कौन प्रशंसा करते हैं (अर्थात् कोई भी इसकी प्रशंसा नहीं करता। साध्वी स्त्रियों का केश-ग्रहण तो सर्वथा अनुचित है, निन्दनीय है)।

व्याख्या—इस श्लोक में मैत्रेय मुनि ने दुर्योधन को उपालम्भ दिया है

तथा उसके सारे कृत्यों को निन्दनीय बतलाया है। उनके मत में कपट-द्यूत के लिये आयोजित राजसभा तथा यह कौरव वंश दोनों ही अनर्थकारी हैं। द्रौपदी के केश-ग्रहण को अर्थापत्ति-अलंकार के द्वारा कवि ने निन्दनीय बतलाया है। साध्वी स्त्रियों के केश-ग्रहण से तो पामर लोग भी डरते हैं, भय खाते हैं ॥ १४ ॥

इयमपि देवनचेष्टा मतिमद्भिः सज्जनैर्नृदेव न चेष्टा।
राज्यं देहि तदेभ्यः पार्थेभ्य सकलसंपदे हितदेभ्य' ॥ १५ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! तुम्हारी इस द्यूत चेष्टा (व्यापार) को बुद्धिमान् सज्जनों ने पसन्द नहीं किया—अथवा यह उन्हें पसन्द नहीं। अत. (तुम्हारा) हित करनेवाले इन पाण्डवों को सकल-समाज के हित के लिये राज्य दे दो।

व्याख्या—मुनि मैत्रेय ने दुर्योधन को समझा बुझाकर सही रास्ते पर लाना चाहा। अत' उन्होंने पाण्डवों का राज्य लौटा देने के लिए कहा। पाण्डवों का राज्य वापस करने से केवल तुम्हारे लोगों का ही हित नहीं होगा अपितु सारे लोक का कल्याण भी उससे सम्पन्न होगा ॥ १५ ॥

टिप्पणी—'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इस सूत्र के अनुसार 'पार्थ' पद में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया है ॥ १५ ॥

अपि हितमारभसे न त्वं दुर्योधन यदस्यमा रभसेन।
असतामन्तेभ्य. प्रदीयतां भरतसत्तम स्वं तेभ्यः ॥ १६ ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन ? क्या तुम अपना हित नहीं करना चाहते जो जबर्दस्ती कर रहे हो। हे भरतश्रेष्ठ ! दुष्टों का क्रूर अन्त करनेवाले उन पाण्डवों को (राज्यरूप) धन दे दो।

व्याख्या—इस श्लोक में मैत्रेय मुनि ने थोड़ा कुपित होकर दुर्योधन से पाण्डवों को उनका राज्य लौटा देने के लिये कहा। वे पाण्डव दुष्टों का अन्त करनेवाले हैं यदि उनका राज्य न लौटाया तो वे तुम्हारा भी अन्त कर देंगे अत' अपना हित करो और इस साहस (रभस—ज़बर्दस्ती) का त्याग करो ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'रभस' पद के कई अर्थ (शक्ति, प्रबल, वेग, ज़बर्दस्ती, क्रोध, आवेश आदि) शब्द-कोष में प्राप्त होते हैं जिनमें आवेश और ज़बरदस्ती प्रसंगानुकूल होने के कारण अधिक उपयुक्त और संगत जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

इत्थं तापसमेतं कुपितं क्षिपता तप.प्रतापसमेतम्।
नृपसमितावक्षेन स्त्रोरुस्तेनाहत' कृतावक्षेन ॥ १७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नृप-प्रताप से सम्पन्न तथा कुपित मुनि का तिरस्कार करते हुए (अथवा भेजने की इच्छा से) अवज्ञा करनेवाले उस मूर्ख दुर्योधन ने राज-सभा में अपनी जाँघ को (गर्व के साथ) हाथ से ठोंका।

व्याख्या—मुनि मैत्रेय के द्वारा दिया गया उपदेश दुर्योधन को तनिक भी न भाया। अतः उनका अपमान करते हुए तथा अपनी जाँघ पर ताल ठोंकते हुए उसने उनकी बात को सुना-अनसुना कर दिया॥ १७॥

तामूरी द्रागदया द्विषो हनिष्यन्ति हन्त रौद्रा गदया।
इति कुपितेनाशापि क्षितिपसुतोऽत्र संमता च तेनाशापि॥ १८॥

अनुवाद—(हमारी अवज्ञा करके अपनी जाँघ को जो तुमने मेरे समक्ष ठोंका) हाय! निर्दय तथा रौद्र शत्रु अपनी गदा से तेरी जाँघ पर शीघ्र ही प्रहार करेंगे—इस प्रकार कुपित मैत्रेय ने दुर्योधन को शाप दिया। तथा उन्होंने उस शाप की (मोक्षरूपा) आशा भी प्रकट की (अर्थात्—शाप और शाप का मोक्ष दोनों ही मैत्रेय ने बतलाये)।

व्याख्या—दुर्योधन के इस व्यवहार को देखकर मुनि मैत्रेय कुपित हो उठे और उन्होंने उसे शाप देते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि राजन्! यदि तुम्हारे पुत्र पाण्डवों का राज्य लौटाकर उनसे सन्धि नहीं करते तो पाण्डवों के द्वारा कौरवों का नाश होगा परन्तु यदि वे ऐसा करते हैं तो मेरा शाप नहीं लगेगा। यह शाप महाभारत के 'वनपर्व' में इस प्रकार उल्लिखित है॥ १८॥

'शमं यास्यति चेत्पुत्रस्तव राजन्! यदा तदा।
शापो न भविता तात विपरीते भविष्यति'॥ १८॥

टिप्पणी—इस श्लोक में एक ही अर्थ के बोधक दो शब्दों—अदया और रौद्रा—का प्रयोग होने के कारण पुनरुक्तत्व दोष हो सकता है पर श्लेष और यमक में यह दोष नहीं माना जाता क्योंकि यमक रचना-विधान में यह गुण कहा जाता है न कि दोष॥ १८॥

शापविकत्रासौ लब्ध्वापि च नागमद्विवेकत्रासौ।
अपि पुनरासेदे वै रमसेन कृते मनोनिरासे देवैः॥ १९॥

अनुवाद—वह दुर्योधन एक साथ ही दो शापों को प्राप्त कर भी—शाप और शापान्तप्रतीकार—विवेक और भय को न प्राप्त हुआ (अर्थात् उसे न तो कोई विवेक उत्पन्न हुआ और न भय ही)। उसके (विवेक से) मनोभंग होने पर (उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट) देवताओं ने शीघ्रतापूर्वक (अथवा

उत्कण्ठा के साथ) पुनः उसे (दुर्योधन को) प्राप्त किया (अर्थात् उसका आश्रय लिया) ।

व्याख्या—मुनि मैत्रेय के शाप से न तो दुर्योधन को कोई विवेक उत्पन्न हो सका और न भय ही। विवेकरहित मन में बैठे उसके देवताओं ने उसे पुनः घेर लिया ॥ १९ ॥

फलशाकालम्बनतः कंचन पार्थो व्यतीत्य कालं वनतः ।
तस्मादापावनतः स द्वैतवनं वन तदापावनतः ॥ २० ॥

अनुवाद—वह विनीत युधिष्ठिर (शरीर-यात्रा के) आधारभूत फल और शाक वाले, तथा सर्वतो पावन वन (काम्यक) से, कुछ समय बिताकर, द्वैतवन नामक वन को प्राप्त हुए ।

व्याख्या—महाभारतान्तर्गत 'वन-पर्व' में काम्यकवन का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब द्वैतवन की कथा प्रारम्भ होती है ॥ २० ॥

दत्तरसे वनसरसस्तीरे तस्मिन्महर्षिसेवनसरसः ।
सनतिमानवसदयं मनो दधान' समस्तमानवसदयम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—समस्त मानवों के प्रति कृपालु मन को धारण करनेवाले, महर्षियों की सेवा के प्रति भक्तिमान् तथा अत्यन्त विनीत युधिष्ठिर ने, उत्कण्ठा प्रदान करनेवाले वन (द्वैतवन) में सरोवर के किनारे पर निवास किया ।

व्याख्या—द्वैतवन में युधिष्ठिर ने सरोवर के तट पर निवास किया। अनेक विशेषणों का प्रयोग करके कवि वासुदेव ने अपने प्रिय पात्र युधिष्ठिर के चरित्र को पूर्ण रूप से चित्रित किया है। युधिष्ठिर अत्यन्त विनीत, कृपालु और भक्तिमान् थे ॥ २१ ॥

दधतं चीरमयं तं वसन मुनिसहतीः शुची रमयन्तम् ।
प्रतिपन्नाशङ्कार्ये कृष्णोचे वीक्ष्य शत्रुनाशं कार्यम् ॥ २२ ॥

अनुवाद—(शत्रु-पराभव के प्रति) शङ्कालु द्रौपदी ने शत्रु-नाश के कार्य का निश्चय करके, वल्कल वस्त्र धारण करनेवाले तथा पवित्र मुनि-पंक्ति को सन्तुष्ट करनेवाले स्वामी (अर्थ) युधिष्ठिर से कहा ।

व्याख्या—युधिष्ठिर की सत्यवादिता, शान्ति एवं दयादि गुणों को देखकर द्रौपदी के मन में शत्रुओं के नाश के प्रति शङ्का उत्पन्न हो गयी थी अतः उसने शत्रु-नाश को ही कार्य (करणीय) समझकर युधिष्ठिर से अपनी बात कही ॥ २२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए 'वीक्ष्य' पद का अर्थ 'निश्चित्य' किया

गया है क्योंकि 'अवलोक्य' अर्थ उतना संगत नहीं बन सकता। 'प्रतिपक्षाशङ्कार्य' पद में विग्रह करने पर 'अर्य' और 'आर्य' दोनों ही पद उचित और अर्थानुकूल होंगे ॥ २२ ॥

नृप रिपुघाती ननु ते धर्मोऽपि हिनोऽयमाहवाधीननुते ।
तत्तव योग्य नादस्तिष्ठसि यत्काननेषु योग्यन्नादः ॥ २३ ॥

अनुवाद—हे युद्धाधीननुते ! हे राजन् ! तुम्हारा तो धर्म भी शत्रुघातक ही है। अतः जो तुम जगलों में योगियों के अन्न को खाते हुए रह रहे हो वह तुम्हारे योग्य नहीं है।

व्याख्या—द्रौपदी ने इस श्लोक में युधिष्ठिर को उनके धर्म का स्मरण कराया है और इसी कारण उन्हें 'आहवाधीननुते' सम्बोधन से सम्बोधित किया है। द्रौपदी के कथनानुसार क्षत्रियों का तो धर्म ही शत्रुओं को नष्ट करना है अतः अपने धर्म को छोड़कर यतियों के मत को ग्रहण करते हुए वन-वन भटकना तुम्हारे योग्य नहीं। तुम्हें तो कौरवों से युद्ध करना चाहिये ॥ २३ ॥

इह नतनानायतिना सिद्धिर्भ्रियते त्वयाधुना नायतिना ।
मन्यगिरा जपता का केवलमाप्ता जनाधिराजपताका ॥ २४ ॥

अनुवाद—इस वन में, तुम्हारे अनेकों भावी फल संकुचित हो गये हैं। आपने अभी अपने कर्म से सिद्धि नहीं प्राप्त की है। केवल सत्यवादी और स्वाध्यायनिष्ठ पुरुष के द्वारा भला कौन-सी महाराजसौभाग्यश्री प्राप्त की गयी है ?

व्याख्या—इस श्लोक में द्रौपदी ने युधिष्ठिर को यह समझाने का प्रयास किया है कि केवल यतिधर्म और सत्यवादिता पालन करने मात्र से ही लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती है अपितु उसके लिये कार्य करना पड़ता है। आपके अभी तक इस यति-धर्म से हम लोगों को कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी है ॥ २४ ॥

भवति महाराज नता तीक्ष्णे न मृदौ कृतोपहारा जनता ।
त्रिजगद्भानुं नमति त्रिसंध्यमिन्द्रं न तत्प्रभानुन्नमति ॥ २५ ॥

अनुवाद—हे महाराज ! उपहारों को लिये हुए जन-समूह कठोर और क्रूर पुरुष के सामने ही नत होता है कोमल व्यक्ति के सामने नहीं। यह जगत्त्रय सूर्य की प्रभा से प्रेरित हुआ तीन सन्ध्याओं वाले (प्रातः, मध्याह्न, सायं) भानु को नमस्कार करता है इन्द्र को नहीं।

व्याख्या—द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये इस श्लोक में प्रेरित किया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार के द्वारा उसने अपने कथन की पुष्टि की है।

जिस प्रकार सूर्य की स्तुति उसकी प्रभा के कारण सारा जगत् करता है इन्द्र की नहीं, उसी प्रकार कठोर पुरुष को सभी प्रणाम करते हैं कोमल को कोई नहीं पूछता। अतः हे राजन्! आपको भी शान्ति का त्याग करके अपने शत्रु के प्रति कठोर बनना चाहिये ॥ २५ ॥

न दधति राजनयं ते शत्रुषु सततं नरेश्वराजनयन्ते ।
ये भूप क्षान्तत्व तस्माद्युध्यस्व शत्रुपक्षान्त त्वम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—हे नरेश्वर! आप जैसे जो राजा अपने शत्रुओं के प्रति क्षमाभाव (अथवा शान्ति) का पालन करते हैं वे राजनीति नहीं धारण करते। अतः हे नृप! हे शत्रुपक्षान्त! आप युद्ध करें (क्योंकि आप राजनीति को धारण करनेवाले हैं)।

व्याख्या—जो राजा अपने शत्रु के प्रति कोमल व्यवहार करते हैं वे *राजनीति नहीं जानते क्योंकि शत्रु, रोग और अग्नि आदि से सदा सावधान* रहना चाहिये—ये शास्त्र-वचन हैं। पर हे राजन्! आप तो शत्रुओं के अन्तक हैं तथा आप राजनीति भी जानते हैं अतः आप युद्ध करें ॥ २६ ॥

टिप्पणी—'नरेश्वराजनयन्ते' पद में यदि 'अजनयन्—ते' इस प्रकार पदच्छेद किया जाता है तो 'नश्छव्यप्रशान्' इस सूत्र से 'अजनयन्' के न् को रुत्व होने पर सन्धि के नियमानुसार 'अजनयँस्ते' रूप बनेगा जिसके कारण यमकभङ्ग होगा अतः इस बाधा को दूर करने के लिये नकार में मकाराभेद मान लेना चाहिये। 'न नकारमकारयोः' उक्ति के अनुसार न और म में भेद नहीं होता। ऐसा होने पर रुत्व नहीं हो सकेगा और अन्ततः यमक-भङ्ग भी नहीं होगा ॥ २६ ॥

सोऽयमहो मोहस्ते क्रतोदयो जनितयज्ञहोमोहस्ते ।
भ्रातृजनेनारयाजि क्लिष्टेन यदेकदेवनेनात्याजि ॥ २७ ॥

व्याख्या—हे नरेश्वर! आश्चर्य तुम्हारा यह मोह (अज्ञान)। पचयज्ञ और होम (क्रतु) करनेवाले आर्य युधिष्ठिर! तुम्हारे भाइयों ने अपने उदय के विचार (ऊहः) को भी त्याग दिया। एक द्यूत खेलने से ही जो विचार त्याग दिया गया (यह तुम्हारा ही अज्ञान है—आश्चर्य है)।

व्याख्या—इस श्लोक में द्रौपदी ने युधिष्ठिर को उसकी अपने शत्रुओं के प्रति उदासीनता के कारण उलाहना दिया है। वह कहती है कि यह तुम्हारा ही अज्ञान था कि तुमने अपने उदय का विचार द्यूत के कारण त्याग दिया और अब तुम्हारे शेष भाइयों ने भी अपने उदय के विचार को त्याग दिया है ॥ २७ ॥

सकलमवन्यायेन त्वं नीतो विघटनामवन्या येन।
सपदि नरेश कुनिरयं नेय. परिपोढ्य समरे शकुनिरयम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—हे नरेश ! जिस विवादी (अवन्यायेन) शकुनि ने तुमको पृथिवी से पूर्णत वियोग प्राप्त करा दिया (अर्थात् तुम्हारी भूमि छीन ली है) (अथवा कलम पूर्ण-सकलमवन्या—छोटे-छोटे वनों से युक्त भूमि से तुम्हें वियोग प्राप्त करा दिया है) उस शकुनि को आप युद्ध में शीघ्र ही मारकर कुत्सित नरक (कुनिरय) प्राप्त कराइये।

व्याख्या—दुष्ट शकुनि के कपट और छल के कारण पाण्डवों की यह दशा हुई थी। यह बात द्रौपदी को अच्छी प्रकार मालूम थी अत. वह युधिष्ठिर से कहती है कि ऐसे शकुनि को युद्ध में मारकर आप तत्क्षण कुगति प्राप्त करावें ॥ २८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष के कारण ऊपर की पंक्ति में आये हुए 'सकलमवन्या' पद के दो अर्थ किये गये हैं। पहला अर्थ तो अत्यन्त स्पष्ट है। दूसरा अर्थ इस प्रकार किया गया है—द्वितीय चरण से 'अवन्या येन' पदों को एक मान लिया गया है तथा प्रथम चरण के 'सकलमवन्यायेन' पद को अलग कर 'सकलमवन्या येन' किया गया है अन्यथा 'येन' पद की पुनरुक्ति हो जाती। 'कलम' एक धान्य-विशेष होता है ॥ २८ ॥

विरचितनरकङ्काले समरे प्रतिपाद्य नृवर नरक काले।
अचिरादेव स नेयः परामृशन्मां हि सुविशदे वसने य. ॥ २९ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! जहाँ नर-कंकाल के ढेर लगे हों ऐसे कालरूप युद्ध में आप उसे, जिसने पवित्र वस्त्र को पहिनने पर मुझे स्पर्श किया था, प्राप्त कर शीघ्र ही नरक प्राप्त करायें।

व्याख्या—इस श्लोक में भी द्रौपदी ने अपनी पहले कही हुई बात को पुनः दोहराया परन्तु इसमें एक ऐसी हृदयस्पर्शी बात जोड़ दी है जिससे कि युधिष्ठिर उसे मारना न भूलें और वह है द्रौपदी के पवित्र वस्त्र को छूना। दुःशासन के द्वारा ही द्रौपदी का सतीत्व नष्ट करने का प्रयास किया गया था। भरी राजसभा में उसने ही उसे नग्न करने के लिये उसकी साड़ी खींची थी। इन सारी बातों को सुनकर या याद करके भला किसे रोष नहीं उत्पन्न होगा ॥ २९ ॥

आततरा जन्याय स्या राजन्विधुतवैरिराजन्याय।
स्मार्यो राजन्यायः स्वीकर्तव्यः स यः पुराजन्यायः ॥ ३० ॥

अनुवाद—हे राजन् ! जिसमें शत्रुरूप क्षत्रिय राजा जीते गये हैं ऐसे युद्ध

के लिये आप शीघ्रता करें (अथवा जिसमें शत्रु राजा भीते गये हैं ऐसे उत्पन्न हुए महान् संग्राम के लिये—आत्ततराजन्याय—आप शीघ्र ही—स्याः—तय्यार हो जावें)। हे राजन्! आप को राजव्यवहार का स्मरण रखना चाहिये। जो उदय आपका पहले हुआ था वही (आप) स्वीकार करना चाहिये।

व्याख्या—इस श्लोक में द्रौपदी ने सत्य व शान्तिप्रिय युधिष्ठिर को युद्ध के लिये तुरन्त तय्यार होने के लिये सलाह दी है। उसकी इच्छा है कि जिस ऐश्वर्य व श्री को युधिष्ठिर ने पहले प्राप्त किया था उसी को वह फिर प्राप्त करें ॥ ३० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के प्रथम चरण में आनेवाले 'आत्ततरा जन्याय' पदों के श्लेषालङ्कार के कारण दो अर्थ किये गये हैं। प्रथम अर्थ स्पष्ट है। दूसरे अर्थ में इस प्रकार पदच्छेद किया गया है—'आत्ततराजन्याय आत्ततरम्' अतिगृहीतमुत्पादित यत् अजन्यमुत्पातः महासंग्रामरूपः तस्मै (त्वं स्याः)' ॥३०॥

इति शुभपदघन्यायामभिहितवत्या गिर द्रुपदकन्यायाम् ।
दत्तमनोदाहारिप्रातेन च वातसूनुनोदाहारि ॥ ३१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार द्रुपद-कन्या के शुभ-पदों से युक्त रीतिवाली वाणी के कह चुकने पर, शत्रु-समूह को मनोदाह प्रदान करनेवाले वायु-पुत्र भीम ने (युधिष्ठिर से) कहा।

व्याख्या—सुन्दर पदों से युक्त वाणी जब द्रौपदी बोल चुकीं तो अपने पूज्य बड़े भाई को समझाने के लिये वायु-पुत्र भीम ने कहना प्रारम्भ किया। उन्होंने जो कुछ कहा वह नीचे के श्लोकों में कवि ने संक्षेपतः उपनिबद्ध किया है ॥ ३१ ॥

स्फुटतरमाह वरा गा द्रुपदतनूजेयमुत्तमाहवरागा ।
सरम्भी मतमस्याः प्रगृह्य राजन्पुरेव भीमतम स्याः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—हे राजन्! महासंग्राम के लिये अभिलाषिणी (उत्तमाहवरागा) इस द्रुपद-पुत्री ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से सुन्दर वचन कहे हैं। इसके मत को मानकर क्रुद्ध होते हुए आप, पहले के समान ही, (अपने शत्रुओं के प्रति) अति भयानक हो जावें।

व्याख्या—भीम ने भी द्रौपदी की बात की पुष्टि की और युधिष्ठिर से निवेदन किया कि आप द्रौपदी की बात मानकर युद्ध के लिये तत्पर हो जावें। जिस प्रकार से आप पहले शत्रुओं के लिये अति भयावने थे उसी प्रकार अब इस समय भी आप उनके प्रति भयंकर हो जावें ॥ ३२ ॥

अनृशंस द्वादश ते समा निर्यो रिपावसद्वादशते ।
तस्मात्सत्वरणाय क्रियतां बुद्धिर्महेन्द्रसत्त्व रणाय ॥ ३३ ॥

अनुवाद—हे दयालो ! सैकड़ों असद्वादोंवाले आपके शत्रु के लिये बारह वर्ष व्यर्थ हैं । अर्थात् उस शर्त का पालन ही निरर्थक है । अतः हे महेन्द्रसत्त्व ! आप शीघ्र ही युद्ध के लिये विचार करें (निश्चय करे) ।

व्याख्या—दुर्योधन सैकड़ों असत्य-वादों का घर है और आप सत्यनिष्ठ राजा हैं । अतः उसके लिये आपकी यह सत्यनिष्ठा या वनवास के बारह वर्ष कोई माने नहीं रखते । आप महेन्द्र के समान धैर्य धारण करनेवाले हैं । अब आप शीघ्र ही युद्ध के लिये विचार करें ॥ ३३ ॥

नैव गदाधारस्य स्थितस्य मम वीर्यसंपदाधारस्य ।
स्यादवशं कार्यं ते तस्मात्कार्या च नैव शङ्कायेन्ते ॥ ३४ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! आपका (रिपुचयरूप) कार्य, वीर्य-सम्पद् के आश्रयभूत गदाधारी मेरे (भीम के) लिये अवश नहीं होगा अर्थात् मैं उस कार्य को निस्सन्देह ही पूर्ण कर दूँगा । अतः आपको शत्रुओं के नाशार्थ शङ्का (चिन्ता) नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या—इस श्लोक में शत्रु के प्रति भीमसेन की गर्वोक्ति बोल रही है । वह अपने को वीर्य-सम्पद् का आश्रय कहता है तथा अभिमान-वश बड़े से बड़े (भीष्मादि जैसे) वीरों को भी नाश करने में अपने को समर्थ समझता है ॥ ३४ ॥

अचिरादाहत्य जनं ससुयोधनकर्णमादाहत्यजनम् ।
भ्रियतां भूयानायः स्थिरो भवाद्यैव राष्ट्रभूयानाय ॥ ३५ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! दाह से लेकर (लाक्षागृह-दाह), त्याग (वनवास) पर्यन्त तक के लोगों को सुयोधन और कर्ण सहित शीघ्र ही मारकर आप प्रचुर उदर्क (आय) प्राप्त करें । हे राजन् ! आज ही अपनी राज्य-भूमि की ओर प्रस्थान करने के लिये तय्यार हो जाइये ।

व्याख्या—भीम अपनी पहले की ही बात को पुनः दूसरे शब्दों में व्यक्त करता है । लाक्षागृह के दाह से लेकर वनवास-पर्यन्त जितने भी मनुष्य कूटनीति में शामिल थे या जिन्होंने दुर्योधन को हम लोगों के पतन के अभिप्राय से साथ दिया, उन सबको युद्ध में शीघ्र ही मार डालिये और आगामी फल प्राप्त कीजिये ॥ ३५ ॥

इत्थं मतिमानाभ्यामभिहितमाकर्ण्य वचनमतिमानाभ्याम् ।
मधुरं च क्षेमहितं धर्मसुतो वचनमाचचक्षे महितम् ॥ ३६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अत्यन्त मानी इन दोनों (द्रौपदी और भीम) के द्वारा कहे गये वचनों को सुनकर बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने पथ्य, मधुर, शुभ और हितकारी वचन कहे।

व्याख्या—द्रौपदी तथा भीम दोनों ही अत्यन्त स्वाभिमानी थे अतः उन्होंने जो कुछ कहा वह बिना शत्रुपक्ष के बल को सोचे विचारे और अपनी स्थिति को तौले बगैर कहा। इन दोनों की बातें सुनकर युधिष्ठिर ने अपना मन प्रकट किया ॥ ३६ ॥

पाण्डव पक्षो भवतो' श्रुतो मया शत्रुभूमिपक्षोभवतोः।
अतिसरम्भी मम न स्फुटमत्रार्थे करोत्यादरं भीम मनः॥ ३७॥

अनुवाद—हे पाण्डव (भीमसेन)! शत्रु राजाओं के प्रति क्षोभयुक्त आप दोनों का (द्रौपदी और भीम) अत्यन्त साहसरूप (संग्राम रूप) पक्ष मैंने सुन लिया। परन्तु हे भीम! इस विषय में स्पष्ट ही मेरा मन आदर नहीं करता अर्थात् इस पक्ष का समर्थन मेरा मन स्पष्ट ही नहीं करता।

व्याख्या—युधिष्ठिर ने संक्षेप में अपने मत को इस श्लोक में प्रकट कर दिया है। पर उनका मन उन लोगों के पक्ष का समर्थन क्या सोचकर नहीं करता इसका स्पष्टीकरण आगे के श्लोकों में किया जायगा ॥ ३७ ॥

इह नाम तनुमहे यं गुर्वनुचर्येति धर्ममतनुमहेयम्।
अत्र सबाधा' स्याम स्फुटं यदि रण क्षणादिवाधास्यामः॥ ३८॥

अनुवाद—हे भीम! इस वनवास में हम लोग गुरुओं के अनुसार जिस महान् अत्याज्य धर्म का पालन कर रहे हैं उसमें हमलोग सबाध हो जाएँगे अर्थात् अपने धर्म का त्याग कर देंगे यदि तुम्हारे द्वारा समर्थित युद्ध को हम अपनाएँगे।

व्याख्या—युधिष्ठिर के मत में व्रत-पालन परमावश्यक है। राज्य धन एवं सुख की अपेक्षा धर्म-पालन अधिक श्रेयस्कर है। क्योंकि मनुष्य के मरने पर धर्म ही उसका साथ देता है राज्यादि नहीं। इस वनवास में युधिष्ठिर अपनी शर्त के अनुसार १२ वर्ष सन्यासियों की भाँति बिता रहे हैं परन्तु यदि वे इसी समय युद्ध के लिये तय्यारी करेंगे तो अपने व्रत-पालन को त्यागना पड़ेगा जिससे वे सत्यनिष्ठ न कहलाएँगे। अतः इस अवधि में युद्ध नहीं किया जा सकता, यह उनका प्रथम तर्क है ॥ ३८ ॥

अपि समरे सत्यस्य स्याद्बाधा गुरुजनान्तरे सत्यस्य।
तस्मात्साहसमासु प्रधन पश्यामि शत्रुसाहसमासु॥ ३९॥

अनुवाद—हे भीम! इसके अतिरिक्त युद्ध स्वीकार करने पर गुरुजनों

(भीष्मादि) के प्रति सत्य की बाधा होगी अर्थात् निजसमय-प्रतिपालन में रुकावट आयेगी। अतः शत्रुओं के प्रति क्षमा रूप इन बारह वर्षों के बीच में इस युद्ध को मैं साहस (अनार्य) ही मानता हूँ।

व्याख्या—उसी पूर्वोक्त तर्क को युधिष्ठिर ने इसमें और अधिक स्पष्ट किया है। यदि हम बीच में ही युद्ध करते हैं तो जो प्रतिज्ञा हमने अपने गुरुजनों के सामने की थी वह नष्ट हो जावेगी जिससे हम लोगों पर धब्बा ही लगेगा। अत: इन बारह वर्षों के बीच में युद्ध नहीं किया जा सकता है॥ ३९॥

टिप्पणी—'शत्रुसाहसमासु' पद का विग्रह इस प्रकार किया जायेगा—'शत्रुषु रिपुषु यः साहः सहनं तदुपरि क्षमा तस्या याः समा द्वादशवर्षाणि तासु'—। ये बारह वर्ष वास्तव में शत्रु के प्रति क्षमा रूप हैं। अर्थात् १२ वर्ष तक शत्रु को क्षमा किया जा रहा है॥ ३९॥

उचितारम्भी मत्वा पुनः प्रवक्ष्यामि परं भीम त्वा।
द्विषतामवलोपाय स्यादपि नून जनोऽयमबलोपाय.॥ ४०॥

अनुवाद—हे भीम! उचित कार्यों का करनेवाला मैं तुमको पर (दूसरा) समझकर तुमसे पुनः कहता हूँ। क्या बल और उपाय-रहित हमारा जैसा व्यक्ति शत्रुओं को नष्ट करने के लिये समर्थ होगा? अर्थात् हमलोग शत्रुओं को नहीं जीत सकते।

व्याख्या—इस समय युद्ध न छेड़ने का एक अन्य तर्क युधिष्ठिर प्रस्तुत करते हैं। हमारे पास न तो कोई सेना है और न ही कोई उपाय अथवा शस्त्रास्त्र ही हैं अतः ऐसी हालत में भला हमलोग उन शत्रुओं को कैसे जीत सकेंगे जिन्हें देवता भी नहीं जीत सकते। इसलिये इस समय युद्ध की बात छेड़ना बुद्धिमानी नहीं॥ ४०॥

प्रनिहतपरशुभरणत' ख्यातं रामं समेत्य परशुभरणतः।
अरिबलहा रेजे य कथं नु भीष्म. सप्रहारे जेयः॥ ४१॥

अनुवाद—हे भीम! रण में शत्रुओं के शुभों को कुण्ठित करनेवाले तथा परशु-धारण के कारण प्रसिद्ध राम (परशुराम) को युद्ध में प्राप्तकर जो शत्रु (परशुराम) के बल को ही समाप्त करनेवाले हैं इन भीष्म को युद्ध में भला हमलोग कैसे जीतेंगे? अर्थात् हम उन्हें कदापि नहीं जीत सकते।

व्याख्या—भीष्म पितामह अपार-बलशाली हैं। उन्होंने परशुराम के बल को भी क्षीण कर दिया है जिन परशुराम ने पृथिवी पर अनेक बार क्षत्रियों

का संहार किया था तथा जो विष्णु के छठे अवतार माने जाते हैं। अतः ऐसे अपार-बलशाली भीष्म को हम नहीं हरा सकते ॥ ४१ ॥

यत्र च सान्निध्यमितौ क्षात्त्रो ब्राह्मस्तथाम्भसांनिध्यमितौ ।
द्वावपि वेदाचार्यः शस्त्राचार्यः स कथं भवेदाचार्यः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—तथा हे भीम ! समुद्र के समान अपार क्षात्र तथा ब्राह्म दोनों ही धर्मों ने जिस द्रोणाचार्य का सान्निध्य प्राप्त किया है वह वेदाचार्य तथा शस्त्राचार्य (धनुर्वेदाचार्य) द्रोणाचार्य भला हम लोगों के द्वारा कैसे सामना किये जा सकते हैं ?

व्याख्या—भीष्म पितामह दोनों ही धर्मों से युक्त थे। वे क्षात्रधर्म और ब्राह्मधर्म दोनों में ही समान रूप से निष्णात थे। अतः युद्ध में उनका सामना करना आसान कार्य नहीं ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—'कथं भवेदाचार्य' पदों में 'आचार्य' पद में 'चर' धातु गत्यर्थक है। आचरितुमभिगन्तुं शक्य आचार्यः ॥ ४२ ॥

युधि शलशल्यकृपाणा कुरुपृतनां प्राप्य निशितशल्यकृपाणाम् ।
अचिरादेव च मूढः पुमान्प्रयात्यन्तमपि च देवचमूढ. ॥ ४३ ॥

अनुवाद—राजा शल्य तथा कृपाचार्य की, तीक्ष्ण शस्त्र-फलकों (शल्य) व कृपाणों वाली कौरव की सेना को युद्ध में प्राप्त कर देवसेना से भी रक्षित मूर्ख पुरुष शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है।

व्याख्या—युधिष्ठिर ने स्पष्ट शब्दों में कौरवसेना की अजेयता का वर्णन कर दिया है। कौरवों की सेना में जब राजा शल्य और कृपाचार्य हो जाते हैं तो भले ही कोई ऐसा व्यक्ति युद्धभूमि में आवे जिसकी रक्षा देवताओं की सेना कर रही हो तो वह भी मारा ही जाता है। अतः इनकी अजेयता को जानकर भी जो युद्ध करे वह 'मूर्ख' पुरुष ही कहा जावेगा ॥ ४३ ॥

अरिभिः सह जेयस्य स्मर कवचं कुण्डलं च सहजे यस्य ।
संरम्भी मानी ते कर्णो विद्धः कथं नु भीमानीते ॥ ४४ ॥

अनुवाद—हे नीति-रहित भीम ! शत्रुओं (दुर्योधनादि) के साथ में (रहनेवाले) जेय कर्ण का स्मरण करो जिसके कवच और कुण्डल सूर्य से प्राप्त हुए हैं (उसका स्मरण करो)। वह क्रोधी और मानी कर्ण युद्ध में भरूक तुम्हारे द्वारा कैसे मारा जा सकता है।

व्याख्या—इस श्लोक में युधिष्ठिर कर्ण की अजेयता का वर्णन करते हैं। कर्ण ने जन्म से ही कवच और कुण्डल सूर्य से प्राप्त किये हैं जो वज्र से भी अभेद्य है। अतः जब वह युद्ध में आवेगा तो भला तुम उसे कैसे जीत सकोगे।

इन सबका विचार किये बगैर युद्ध के लिये प्रस्थान करने की सलाह देने के कारण युधिष्ठिर ने क्रोधवश भीम को 'अनीते' शब्द से सम्बोधित किया है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—'स्मृत्यर्थानां कर्मणि षष्ठी' इस नियम के अनुसार स्मृत्यर्थक धातुओं के योग में कर्म को षष्ठी विभक्ति होती है। अतः 'जेयस्य' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है ॥ ४४ ॥

इह मे सन्नाशाय त्वया ह्युपायान्तराणि संनाशाय ।
अहितानामुच्यन्तां तदन्यथा वाक्यविरचना मुच्यन्ताम् ॥ ४५ ॥

अनुवाद—इसलिये हे भीम। इस विषय में शत्रुओं के सम्यक् नाश के लिये, तुम मुझ मन्द आशावाले को दूसरे उपाय बतलाओ, नहीं तो ये बातें बनाना छोड़ दो।

व्याख्या—युधिष्ठिर ने स्पष्ट शब्दों में भीम से कहा कि तुम जो कुछ कह रहे हो वह अभिमान और क्रोधवश कह रहे हो। मैंने शत्रु-पक्ष की अजेयता के विषय में तुमको सविस्तार बतला दिया है अतः अब तुम विचार-पूर्वक कोई ऐसे उपाय बतलाओ जिससे अपनी वनवास की शर्त भी न भङ्ग हो और हम शत्रुओं को भी जीत लें ॥ ४५ ॥

इत्थं मानसमेतौ बोधयति नराधिपे स्वमानसमेतौ ।
पुर आविरभूद्देव श्रीमान्व्यासो जगत्स्थविरभूदेव. ॥ ४६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर के द्रौपदी और भीम को समझा चुकने पर, जंगम और स्थावर भूमि के देव-तुल्य श्रीमान् व्यास (अथवा स्थावर और जंगम के भूदेव-ब्रह्मा) उन पाण्डवों के सामने प्रकट हुए।

व्याख्या—उन लोगों के वार्तालाप कर चुकने पर सहायतार्थ श्रीव्यास मुनि आये ॥ ४६ ॥

राज्ञे स त्वच्छाय स्वयमदिशन्मन्त्रमधिकसत्त्वच्छायः ।
रिपुरोधी मान्येन स्थाणुं पार्थो भजेत धीमान्येन ॥ ४७ ॥

अनुवाद—अधिक सत्वगुण (या धैर्य) तथा शोभा-सम्पन्न उन श्रीव्यास मुनि ने स्वयं पवित्र राजा युधिष्ठिर को मंत्र दिया जिस पूज्य मंत्र के द्वारा रिपुरोधी अर्जुन शंकर (स्थाणु) को भजेंगे।

व्याख्या—शंकर से अस्त्र-प्राप्ति के लिये श्रीव्यास ने एक मंत्र युधिष्ठिर को दिया। युधिष्ठिर ने उस मंत्र को अर्जुन को दिया। अर्जुन ने उसके जाप से पाशुपतास्त्र प्राप्त किया ॥ ४७ ॥

सुनरामाराध्यन्तं धर्मसुतः प्राप्य मन्त्रमाराध्यं तम् ।

स पराशरदायादात्पार्थाय च शत्रुसैन्यशरदायादात् ॥ ४८ ॥

अनुवाद—धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने पराशरमुनि पुत्र श्रीव्यास से प्राप्त, अत्यन्त आराधनीय तथा शत्रु-समूह से उत्पन्न मनः-पीड़ा को अन्त करनेवाले उस मन्त्र को शत्रु-सेना पर बाणों की वर्षा करनेवाले अर्जुन को दे दिया।

टिप्पणी—'आराद्यन्त' पद का विग्रह इस प्रकार करने से अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है—'अरीणां समूह आरम् तस्मात् च आधिः मनः-पीड़ा आराधि तस्य अन्त.' इति ॥ ४८ ॥

तस्यावाचश्चरणे गलमालिङ्गन्नुवाच वाधश्च रणे।
अर्जुन रक्षा मम ते भरश्च शत्रोश्च हानिरक्षाममते ॥ ४९ ॥
स गुडाकेशानन्त भगवन्त भज शमाधिकेशान तम्।
स हि बहुधाराधयता सुखदृश्य. शकरोऽम्बुधारा धयता ॥ ५० ॥
इति त तरसादिशता स्मरतारिचमूश्च चारुवरसादिशता'।
धृतममुना दोलाभं मनो स्मरद्राज्यमपि न नादो लाभम् ॥ ५१ ॥

अनुवाद—चरणों में झुके हुए अर्जुन के कण्ठ का आलिङ्गन करते हुए युधिष्ठिर ने कहा हे अर्जुन ! युद्ध में 'मेरी रक्षा' तेरा भार है तथा हे अक्षाममते ! शत्रु की हानि (नाश) भी (तेरे ऊपर निर्भर है)।

हे गुडाकेश ! हे शमाधिक ! उस अनन्त भगवान् ईशान (शंभु) का भजन करो। निश्चय ही बहुत प्रकार से आराधना करते हुए तथा जलधारा का पान करते हुए तुम्हें वह शंकर सरलता से दर्शनीय होंगे।

इस प्रकार उस अर्जुन को आदेश देते हुए तथा शीघ्र ही सैकड़ों सुन्दर अश्वारोहियोंवाली शत्रु-सेना को स्मरण करते हुए उस युधिष्ठिर का मन डोल गया तथा (अर्जुन के वियोग में शोकविह्वल) उन्होंने उस राज्य को भी लाभ नहीं माना (अपितु तिनके के समान गिना)।

व्याख्या—४९ वें श्लोक में युधिष्ठिर ने प्रेमार्द्र मन से तथा रुँधे कण्ठ से अर्जुन को युद्ध में अपनी रक्षा का भार सौंपा। शत्रुओं का नाश भी अर्जुन पर ही निर्भर करता है क्योंकि वह अक्षाम (महती) मति को धारण करनेवाला है। ५० वें श्लोक में तपस्या के लिये उद्यत अर्जुन के लिये तदनुकूल सम्बोधन ही कवि ने प्रयुक्त किये हैं। तपस्या के लिये भी अर्जुन परम उपयुक्त थे क्योंकि उन्होंने गुडाका (निर्निद्रता) को प्राप्त किया था तथा वे शान्त-स्वरूप भी थे जो तपस्या के लिये प्रथम तत्त्व है।

५१ वें श्लोक में कवि ने जिस भ्रातृस्नेह की सरिता बहाई है वह सही चित्र खींचने में समर्थ है। युधिष्ठिर ने तपस्या के लिये अर्जुन को भेज तो

दिया पर शत्रुओं का स्मरण करके उनका मन डोल गया। अर्जुन को छोड़कर उन्हें ऐसा लगने लगा जैसे कि राज्य कुछ भी नहीं। अर्जुन के वियोग में उनका मन डूबने-उतराने लगा और राज्य के भावी लाभ को वे नगण्य समझने लगे ॥ ४९-५१ ॥

श्रुतधौरवमधुराज्ञ पार्थो मङ्गलयपूर्वरमधु राज्ञः।
सरसं पापीयातश्चीरी जटिल' शरासिचापी यातः॥ ५२ ॥

अनुवाद—युधिष्ठिर की मधुर आज्ञा को सुनकर तथा राजा युधिष्ठिर से स्वरायत्नपूर्वक परम आशीर्वचन रूप मधु का पान करके वल्कल तथा जटाधारी अर्जुन धनुष-बाण तथा खड्ग लेकर (उस स्थान से) चल पड़े।

व्याख्या—युधिष्ठिर के आशीर्वचन को मधु कहकर उसे अत्यन्त सरस कहा गया जिसे अर्जुन ने अच्छी प्रकार पान किया। अपने शस्त्रों को लेकर संन्यासी का वेष धारण कर अर्जुन तपस्या करने के लिये द्वैतवन से चल पड़े ॥ ५२ ॥

रुरुपृषतापीवरसा विलङ्घ्य सरितस्ततः प्रतापी तरसा।
दिव्यजनाभोऽगस्य प्रस्थं स प्राप स तुहिनाभोगस्य॥ ५३ ॥

अनुवाद—रुरु (मृगविशेष) और पृषतों के द्वारा पिये गये जलवाली नदियों को शीघ्रता से पार कर प्रतापी और देवताओं के समान अर्जुन बर्फ के विस्तारवाले (हिमाचल) पर्वत के शिखर (प्रस्थ) पर पहुँचे।

व्याख्या—नदियों को पार करते हुए अर्जुन हिमालय पर्वत पर पहुँचे। नदियों का जल मृगों द्वारा पिया गया था जिससे उन नदियों का मनुष्यों के द्वारा अपेय होना सूचित होता है ॥ ५३ ॥

स उज्ज्वलदाशाकाशास्तस्थौ तत्रार्जुनस्तदाशाकाशः।
भितराभूयाह रहश्चेतस्तपसा कृशो बभूवाहरहः॥ ५४ ॥

अनुवाद—(अपने तेज से) दिशाओं और आकाश को उद्भासित करते हुआ तथा उस (ईश्वर प्रसादनरूप) आशा को मन में ध्यान करता हुआ वह अर्जुन वहीं ठहर गया। एकान्त में उस अर्जुन ने (मनसा, वाचा, कर्मणा) अपने चित्त में शंभु को ही बसाया तथा (तपस्या के कारण) प्रतिदिन अति कृश होने लगा।

व्याख्या—अर्जुन की इस भयकर तपस्या का विस्तृत वर्णन महाभारत में देखा जा सकता है। उसने पतले पत्ते खाने प्रारंभ किये फिर जल पीना प्रारंभ किया अन्ततः उसने सब कुछ छोड़ दिया जिससे उसका शरीर अत्यन्त कृश होने लगा ॥ ५४ ॥

दलितमहावप्रोऽथ स्थिरखुरपातेन परमहावप्रोथः।
सं समदारारात्यन्तं क्रूरः कोलः कदाचिदारात्यन्तम् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर कभी, अपने दृढ़ खुरपात से महान् तटों को उखाड़ फेंकनेवाला तथा अद्भुत लीला युक्त सुनाम (प्रोथ) वाला क्रूर शूकर, मदभरे शत्रुओं को नष्ट कर डालनेवाले अर्जुन के निकट आया।

व्याख्या—यहाँ से किरातार्जुन युद्ध का प्रारम्भ श्रीवासुदेव करते हैं। यह क्रूर वराह एक दानव था जो अर्जुन को देखकर आक्रमण करने की इच्छा से पास में आया था ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—'श्र' वाली धातु से क्विप् प्रत्यय से 'आर' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'समदारात्यन्तं' पद अर्जुन का विशेषण है—समदा ये आरातयः शत्रव-स्तेषामन्तस्तत्स्वरूपं (तमर्जुनम्) ॥ ५५ ॥

तदनु हसन्नादाय त्वरितो गाण्डीवमतुलसन्नादाय।
सोऽनलभा वरविशिखानमुञ्चदस्मै हृतप्रभावरविशिखान् ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अग्नि के (तेज) समान अर्जुन ने शीघ्र ही हँसते हुए गाण्डीव (धनुष) लेकर, भयकर शब्द करने वाले इस वराह पर सूर्य-ज्वाला के प्रभाव को भी हरण करने वाले (अथवा अग्नि के रक्त—शिखाओं के प्रभाव को भी हरण करने वाले) श्रेष्ठ बाणों को फेंका।

व्याख्या—उस भयकर वराह को अपनी ओर आता हुआ देखकर अर्जुन ने उस पर बाण फेंकना प्रारम्भ किया। अर्जुन ने मुस्कराते हुए गाण्डीव इस कारण लिया क्योंकि इस शूकर का वध उनके लिये कोई कठिन बात न थी ॥ ५६ ॥

टिप्पणी—'हृतप्रभावरविशिखान्' पद के श्लेष अलङ्कार के द्वारा दो अर्थ हुए हैं जिन्हें हम यहाँ सविग्रह स्पष्ट करते हैं—

१. हृतप्रभावा रविशिखा सूर्यज्वाला यैस्तान् तादृशान्।
२. रक्त अग्ने विशिखा शिखा या यैस्तान् तादृशान् ॥

बाणवरा हेमहिता यदा तदा निपतिता वराहे महिता।
चापशरी रोधरतः शबरो ददृशे महाशरीरो धरतः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—जब सम्मानित, गमन को रोक देनेवाले (अतदाः) तथा सुवर्ण के पुङ्ख वाले श्रेष्ठ बाण वराह पर गिरे तो अर्जुन ने पर्वत से (आते हुए) चाप और बाण लिये महाकाय किरात को देखा जो अर्जुन को रोकने में लगा था।

व्याख्या—इस स्थान पर कवि ने कथा में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है।

अर्जुन और व्याध दोनों के ही बाण उस वराह पर साथ-साथ पड़े जिसके कारण अहमहमिकया भावना से उन दोनों में युद्ध का सूत्रपात हुआ ॥ ५७ ॥

नाडय मा मे कोलं हन्तुमहं मेदिनीमिमामेकोऽलम् ।
अधीरङ्गेह त्वा तृप्ति यास्यामि युद्धरङ्गे हत्वा ॥ ५८ ॥
रुद्धदिगुर्वि व्याधः स्फुरदिषुवृष्टयेति परुषगुर्विव्याध ।
असुभिर्विकलं कोलं धनञ्जयोऽपि व्यधत्त विकलङ्कोऽलम् ॥ ५९ ॥

(युग्मम्)

अनुवाद—हे भद्र (वीर)! मेरे वराह को मत मारो। इस सम्पूर्ण पृथिवी (जगत्) को मैं अकेला ही मारने में समर्थ हूँ। हे वीर! युद्ध-रङ्ग में मैं तुमको अपने अङ्गों से मारकर तृप्ति प्राप्त करूँगा।

इस प्रकार कठोर वाणीवाले (परुषगु) इस व्याध ने चंचल बाण-वर्षा से दिशाओं और पृथिवी को रुद्ध करके वराह को मारा तथा कलङ्करहित अर्जुन ने भी उस वराह को प्राणों से विकल कर दिया (अर्थात् उसे मार डाला)। ५९ ॥

व्याख्या—दोनों ही वीरों ने उस वराह पर साथ-साथ बाण फेंके। अतः दोनों में इस बात का विवाद छिड़ा कि मैंने इस वराह को मारा। दूसरा कहता मैंने मारा है। इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे की शक्ति तौलने के लिये युद्ध प्रारंभ कर दिया जिसका वर्णन आगे के श्लोकों में किया जायेगा ॥५८–५९॥

स परुषगीर्बाणानां श्रेणिममुञ्चद्रयेऽत्र गीर्वाणानाम् ।
इभनरा जन्याजिरजिरे धारितकिरातराजव्याजे ॥ ६० ॥

अनुवाद—कठोर वाणीवाले तथा कठिन वेगवाले अर्जुन ने शीघ्र ही समराङ्गण में किरात-राज का वेष धारण करनेवाले तथा देवों में श्रेष्ठ (शम्भु) पर बाणों की पंक्ति छोड़ी।

व्याख्या—अर्जुन के बल और भक्ति की परीक्षा लेने के लिये भगवान् शंकर ने किरात का वेष धारण कर रखा था। युद्ध होने पर अर्जुन ने उन पर बाणों की वर्षा प्रारंभ की पर वह अर्जुन के सारे बाणों को हाथों से ही रोक लेते थे। उनके शरीर पर कोई भी बाण नहीं लग पाता था ॥ ६० ॥

अरिसमितावक्रशितास्तयोस्ततस्तैलपायिता वक्रशिनाः।
पयगुरुमा बाणाः संक्षुण्णगिरिगुरुमावाणाः ॥ ६१ ॥

अनुवाद—शत्रु-संग्राम में उन दोनों के (अर्जुन और किरात) कठिन, वक्र, तीक्ष्ण, अकृशित, तेल से साफ किये गये तथा पहाड़ों के चूर्ण किये गये महान् पत्थरों की गतिवाले बाण, चारों ओर फैलने लगे।

व्याख्या—युद्ध में दोनों ने अपने २ बाण फेंके जिससे सारी दिशायें भर गयीं परन्तु वह किरात फिर भी किसी प्रकार आहत न हो सका। बाणों की तीक्ष्णता के विषय में कवि ने अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है ॥ ६१ ॥

कुपित कैरातपतिः स्मयमानस्तत्र सायकैरातपति।
अरिदम्भक्षयदस्तान्किरीटिनो मार्गणानमक्षयदस्ताम् ॥ ६२ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के दम्भ को नष्ट करनेवाले कुपित किरातपति ने, युद्ध में बाणों से अर्जुन के सन्तप्त (दुःखी) हो जाने पर, मुस्कुराते हुए अर्जुन के फेंके गये बाणों का भक्षण कर लिया (अर्थात् अर्जुन के सारे बाण समाप्त हो गये)।

व्याख्या—महाभारत में उल्लेख आया है कि अर्जुन जितने भी बाण फेंकते थे उन सबको किरात अपने हाथों से ही रोक लेता था इस प्रकार अपने बाणों के समाप्त हो जाने पर अर्जुन बहुत खिन्न हुए। ६२ ॥

टिप्पणी—'कैरातपति' में किरात पद में 'अण्' प्रत्यय प्रयुक्त होने से 'कैरात' शब्द बना जिसका अर्थ है किरातों का समूह—'किरातानां समूहः कैरात तस्य पतिः कैरातपतिः ॥ ६२ ॥

सुबृहदुरस्त्राणान्ते रणे गणा न प्रसेदुरस्त्राणां ते।
सकलकलापेतस्य स्थितिं न जग्मुः कलापे तस्य ॥ ६३ ॥

अनुवाद—महान् कवच (उरस्त्राण) भी जहाँ नष्ट हो जाता है ऐसे उस युद्ध में समस्त कलाओं से रहित उस अर्जुन के अस्त्र-समूह सफल नहीं हो सके। उस अर्जुन के बाण भी (अक्षय) तूणीर में शेष न रहे। अर्थात् तरकस के सारे बाण समाप्त हो गये परन्तु सिद्धि न मिली।

व्याख्या—किरात कोई साधारण किरात न था अपितु शंकर भगवान् ही थे। अतः उनके सामने भला अर्जुन के अस्त्र समूह कैसे टिक सकते थे पर इस बात का पता अर्जुन को न था ॥ ६३ ।

स शिलीमुखरहितायां कार्मुकयष्ट्यां रणेषु सुखरहितायाम्।
तस्मै दिव्याय तया नाडनमददादथापदि व्यायतया ॥ ६४ ॥

अनुवाद—युद्ध में हित करनेवाली धनुर्यष्टि के बाणों से रहित हो जाने पर अर्जुन विपत्ति में, उस दीर्घ धनुर्यष्टि से ही दिव्य (किरात) को मारने लगे।

व्याख्या—जब अर्जुन ने देखा कि उनके सारे बाण समाप्त हो गये हैं तो क्रोध में आकर उस संकट में अपने धनुष की कोटि से व्याध को मारना चाहा ॥ ६४ ॥

गुर्वी दुर्वारा सा किरातराजेन युगपदुर्वारासा।
नागसमा नागारिप्रतिमेन ज्याग्निपात्यमानागारि ॥ ६५ ॥

अनुवाद—गरुड़ (नागारि) के समान उस किरातराज ने महान्, दुर्वारा, नाग सदृश तथा महान् शब्द (टकार) करनेवाली धनुर्यष्टि को तत्क्षण ही छीनकर निगल लिया।

व्याख्या—जिस प्रकार गरुड़ सर्प को निगल लेता है उसी प्रकार उस धनुर्यष्टि को किरातराज ने निगल लिया। यहाँ पर उपमालंकार है ॥ ६५ ॥

उपहृतकाननमग्नेः स्फुटलब्धे धनुषि लुब्धकाननमग्ने।
स द्रुतमहिमन्युरसिद्वितीयमपतद् द्विपः समहिमन्युरसि ॥ ६६ ॥

अनुवाद—दग्ध खाण्डव-वन में अग्नि के वरदान से प्राप्त धनुष के व्याध के मुख में चले जाने पर, अर्जुन ने बड़े क्रोध के साथ तत्क्षण खड्ग लेकर शत्रु के महान् वक्षःस्थल पर मारा।

व्याख्या—अर्जुन ने जब देखा कि किरात ने उनके धनुष को भी उनसे छीन लिया तो उन्हें और भी अधिक क्रोध आया तथा उन्होंने खड्ग हाथ में लेकर शत्रु के वक्षःस्थल पर प्रहार किया परन्तु उनका वह प्रयास भी असफल रहा ॥ ६६ ॥

सोऽपि च समुद्रमासिप्रवरः शबरेश्वरेण समुद्रमासि।
अभिनदशङ्कोपेतं मुष्टया पार्थोऽपि कर्कश कोपे तम् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—किरातराज ने उस महान् खड्गश्रेष्ठ को भी समस्त कर लिया। इस पर अर्जुन ने भी कुपित होकर निःशङ्क तथा कठोर उस किरातराज पर घूँसे का प्रहार किया।

व्याख्या—एक-एक करके अपने सारे प्रयास असफल होते हुए देखकर अर्जुन का क्रोधित एवं लज्जित होना स्वाभाविक ही था। अतः अबकी बार उन्होंने किरातराज पर घूँसे से प्रहार किया परन्तु जब प्रतिकार रूप में किरात ने मुष्टि-प्रहार किया तो अर्जुन पृथिवी पर गिर पड़े।

यद्यपि अर्जुन के सारे दिव्य अस्त्र एक-एक करके विफल हो गये थे अतः अर्जुन को अपने प्रतिपक्षी की दिव्यता को समझ लेना चाहिये था परन्तु क्रोध के कारण अर्जुन इस विचित्र-रहस्य पर विचार ही न कर सके ॥ ६७ ॥

न्यपतच्चण्डालस्यः स्फुटिततनुर्मुष्टिभिश्च चण्डालस्य।
स यमन्दे वेदमयं नाथं जगतां मनश्च देवे दमयन् ॥ ६८ ॥

अनुवाद—अर्जुन वन-किरात की मुष्टि-प्रहार से घायल शरीर हो तथा

अत्यन्त शिथिल होकर पृथिवी पर गिर पड़े। अर्जुन ने अपने मन को देवता में सावधान करते हुए वेदरूप, जगत् के नाथ की वन्दना की।

व्याख्या—महाभारत के अन्दर किरातार्जुन की कथा अत्यन्त विस्तृत है। जब अर्जुन के सारे अस्त्र-शस्त्र विफल हो गये तो अन्ततः वह मल्लयुद्ध पर आ गये। मल्लयुद्ध में भी अर्जुन किरात के मुष्टि-प्रहार से घायल होकर पृथिवी पर अचेत होकर गिर गये। होश आने पर उन्होंने शंकर की पूजा प्रारम्भ की तथा उन पर जो पुष्प चढ़ाया वह किरात के शिर पर पहुँच गया। यह देख अर्जुन का संशय मिटा और किरात का वेष छोड़कर शंकर भी अपने असली रूप में प्रकट हुए। अर्जुन ने शंकर की स्तुति की ॥ ६८ ॥

अथ रिपुकेसरिदम्भस्तम्भकरं बिभ्रतं च के सरिदम्भः।
भक्तजनाधिकचपलं मन शिरोमण्डलं च नाधिकचपलम् ॥ ६९ ॥
धृतभूमिश्रीभूतं भगवन्तं भस्मराशिमिश्रीभूतम्।
कलितं चोरगलतया शबलं शरदम्बराशुचोरगलतया ॥ ७० ॥
पितृवनसदनं गहनं सुगाहमसतां सतां च सदनङ्गहनम्।
मूर्धनि सोमाभरणं पार्श्वोद्देशे तथैव सोमाभरणम् ॥ ७१ ॥
जितनीचरणं हरिणा श्रितकरमभिवन्द्यमानचरणं हरिणा।
अहरवसाननटं क यमिनो गमयन्तमुद्गतानन्दटङ्कम् ॥ ७२ ॥
स ददृशमरसमग्रे स्थितं जनौघे विराजदमरसमग्रे।
कौशिकिरातङ्क्रान्तं ददर्श देव न सं किरात कान्तम् ॥ ७३ ॥

(पञ्चभिः कुलकम्)

अनुवाद—इसके अनन्तर शत्रुरूपी सिंहों के दम्भ को शान्त करनेवाले, शिर पर गंगाजल को धारण करनेवाले, भक्तजनों के प्रति स्थिरानुग्रहरूप मन को धारण करनेवाले तथा अधिक केशों और मांसयुक्त शिरो-मण्डल (पञ्च-मुख) को धारण करनेवाले (अर्थात् समान केश तथा नातिस्थूल या नातिकृश मांसयुक्त शिरोमण्डल को धारण करनेवाले शंकर को अर्जुन ने देखा)।

भूमि, श्री और भूतों (प्राणियों) को धारण करनेवाले, भगवान्, भस्मराशि चर्चित (शरीरवाले), सर्प-लताओं से भूषित तथा शरत्कालीन आकाश की प्रभा (किरणों) को चुरानेवाले कण्ठ के कारण श्वेत कृष्ण (शबल) वर्णवाले (शंकर को अर्जुन ने देखा)।

श्मशानरूप गृह में रहनेवाले, दुष्टों के लिये दुष्प्राप्य तथा सज्जनों (भक्तों) के लिये सुलभ, सुकुमार अंगोंवाले कामदेव को मारनेवाले, शिर पर

चन्द्ररूपी भूषण को धारण करनेवाले तथा उसी प्रकार वामाङ्गभाग में पार्वती को धारण किये हुए (भगवान् शंकर को अर्जुन ने देखा)।

दुष्टों के रण को जीतनेवाले, हाथ में चन्द्र धारण किये हुए, विष्णु (इन्द्र या सूर्य) के द्वारा वन्दनीय चरणोंवाले, सन्ध्या-समय (जगत् के कल्याण के लिये) में नाट्य करनेवाले, योगियों को सुख प्राप्त करानेवाले तथा पाँच मुखों (तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात तथा ईशानरूप) की विच्छित्ति (टंक) को धारण करनेवाले (भगवान् शंकर को अर्जुन ने देखा)।

दम-रम (बाह्येन्द्रिय निग्रहरूप) को धारण करनेवाले अर्जुन ने (कौशिकि) आतङ्कान्तरूप, (ब्रह्मादि) देवताओं से पूर्ण जनसमूह में विराजमान तथा सुन्दर देव शम्भु को सामने खड़ा हुआ देखा पर उस किरात को नहीं (अर्थात् किरात का शरीर छोड़कर स्थित शंकर भगवान् को उसने देखा)।

व्याख्या—भक्ति-संरम्भ में डूबे हुए कवि वासुदेव ने इन पाँच श्लोकों में महादेव का सुन्दर चित्रण किया है। 'रिपुकेसरि—', 'उरगलतया', 'सोमाभरण' पदों में रूपक 'शारदम्बरांशुचोरगलतया' में उपमा तथा 'गहन सुगाहमसना मतां च' में यथासंख्य अलंकार दर्शनीय है ॥ ६९–७३ ॥

टिप्पणी—'कौशिकि' पद अर्जुन का पर्यायवाची है। अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्यय लगने से कौशिकि पद निष्पन्न हुआ है—कौशिकस्येन्द्रस्यापत्यं कौशिकिरर्जुनः—'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहेषु कौशिकः' इत्यमरः ॥६९–७३ ॥

प्रेक्ष्य च सुरवं शबरं पार्थेन प्रेक्ष्य चैव सुरवशवरम् ।
व्रणजावत्यक्तेन प्रोत्थितमानन्दबाष्पतत्यक्तेन ॥ ७४ ॥

अनुवाद—सुन्दर शब्दवाले किरात को देखकर और फिर देव-समूह में श्रेष्ठ भगवान् शंकर को देखकर घाव-रहित तथा आनन्द-बाष्प-समूह से सिञ्चित अर्जुन उठ बैठा।

व्याख्या—पहले तो उसने किरात को देखा था परन्तु जब स्तुति करने के पश्चात् उसने अपने सामने भगवान् शंकर को खड़ा पाया तो आनन्द के कारण उसकी आँखों में आँसू आ गये और अपने सारे घावों को भूलकर वह उठ बैठा। जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह इतने समय से तपस्या कर रहा था वह लक्ष्य आज उसे सहसा प्राप्त हो गया इसी कारण वह अपनी चोटों को भी भूल बैठा जैसे कि बिल्कुल स्वस्थ हो—क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ ७४ ॥

स ततो मानं दमयन्निरीक्षमाणः पुमांसमानन्दमयम् ।

तुष्टाव महादेवं तुष्ट बीभत्सुराहवमहादेवम् ॥ ७५ ॥

अनुवाद—वह अर्जुन (बीभत्सु) उस आनन्दमय पुरुष (महादेव) को अच्छी प्रकार से देखता रहा और अपने अहकार को उसने दूर कर दिया। इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार के युद्धरूपी उत्सव (आहवमहान्) से प्रसन्न महादेव की अर्जुन ने स्तुति की।

व्याख्या—अर्जुन की वीरता को देखकर भगवान् शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा शङ्कर को अपने सामने सहसा खड़ा देखकर अर्जुन का अहकार भी जाता रहा। अर्जुन ने अत्यन्त आनन्द-विभोर होकर भगवान् शङ्कर की स्तुति की जिसका वर्णन कवि ने आगे के श्लोकों में किया है ॥ ७५ ॥

दलिताञ्जननीलाभस्कन्ध न धन्यो ममाद्य जननीलाभः।
जन्म स तावल्लभते कारुण्यं यत्र गिरिसुतावल्लभ ते ॥ ७६ ॥

अनुवाद—पिसे हुए अञ्जन के समान नीले कण्ठवाले हे शम्भो ! आज मेरा जन्म निष्फल नहीं रहा। हे पार्वती प्राणनाथ ! जिस प्राणी पर आपकी (जब तक) दया होती है तब तक वह जन्म प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस श्लोक से अर्जुन स्तुति प्रारंभ करते हैं। उनका इस ससार में फिर स लौट कर आना सफल ही हुआ क्योंकि भगवान् शकर के दर्शन उनको प्राप्त हुए। ससार में मनुष्य-शरीर धारण करके आने का अर्थ यह है कि शकर भगवान् उससे प्रसन्न हैं। इस श्लोक में कवि ने मोक्ष और पुनर्जन्म के विषय में अपनी धारणा अभिव्यक्त की है। मोक्ष तो अहिल्या के शिलाभाव की प्राप्ति के समान है यहाँ पर शान्तरस का ही प्राचुर्य है। परन्तु पुनर्जन्म तो उन्हीं का होता है जिन पर ईश्वर प्रसन्न हो। जन्म और मोक्ष में जड़ और चेतन का-सा भेद है। जन्म सक्रिय है मोक्ष निष्क्रिय है ॥ ७६ ॥

उदित' सच्चित्त्त्व ब्रह्मेति दधद्भिरच्छसच्चित्तत्वम्।
गुरुमहिमा ननु,परमस्त्रय्या त्व बोधित. पुमाननुपमरमः ॥ ७७ ॥

अनुवाद—हे शम्भो ! निर्मल सच्चित्त के धारण करनेवाले साधुजनों ने 'तुम्हीं वह सच्चिद्रूप ब्रह्म (अथवा जगत्स्रष्टा ब्रह्मा) हो' ऐसा कहा है। निश्चित ही त्रयी (वेदत्रयी, देवत्रयी तथा वर्णत्रयी) के द्वारा आप महामहिमयुक्त, परम पुरुष तथा अनुपमश्रीमान् निर्णय किये गये हैं (जाने गये हैं)।

व्याख्या—अर्जुन इस श्लोक में श्रीशकर के स्वरूप की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। साधुओं ने उन्हें ब्रह्म कहा है तथा त्रयी ने उनके स्वरूप को निर्णीत किया है ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका

लक्षण वेदों में अनेक प्रकार से किया गया है—'चैतन्यं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्मेति'। ब्रह्मेति पद का विच्छेद करने पर 'ब्रह्मा इति' पद भी उपयुक्त जचते हैं। रूपान्तर से जगत्सृष्टि करने के कारण शंकर को विद्वानों और साधुओं ने ब्रह्मा भी कहा है—

बृहदस्य शरीरं यदप्रमेय प्रमाणतः।
बृहद्विस्तीर्ण इत्युक्त ब्रह्मा तेन स उच्यते॥

अथवा—बृंहति प्रजामिति ब्रह्मा।

इस श्लोक में आये हुए 'त्रयी' पद के कई अर्थ लिये गये हैं—वेद, देव तथा वर्णत्रयी। तीन वेदों ने शंकर के स्वरूप का निर्धारण किया है। देवत्रयी के द्वारा ही शंकर सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। अथवा आकार, उकार और मकार इस वर्णत्रय—ओम्—के द्वारा शंकर को परमपुरुष या परम तत्त्व भी कहा गया है। इस प्रकार इस त्रयी के द्वारा शंकर का स्वरूपावधारण हुआ है॥ ७७॥

यदि देव सुधाभानुः ख मरुदात्मानलोऽम्बु वसुधा भानुः।
प्रतिपन्ना भवदन्तः पर वराकाः शरद्घनाभ वदन्तः॥ ७८॥

अनुवाद—हे देव! चन्द्रमा (सुधाभानुः), आकाश, वायु, यजमान, अग्नि, जल, पृथिवी और सूर्य—ये आठ मूर्तियाँ यद्यपि आपकी ही हैं तथापि *ये सारी मूर्तियाँ आपके अन्दर ही विद्यमान हैं। हे शरद्घनाभ!* परन्तु मूर्ख लोग कहते हैं कि ये चन्द्रप्रभृति अन्य हैं (अर्थात् आपसे अलग देवता हैं)।

व्याख्या—शास्त्रों में भगवान् शंकर की आठ मूर्तियाँ बतलाई गयी हैं परन्तु कवि का कहना है कि ये आठों शक्तियाँ आपके ही अन्दर विद्यमान हैं जैसे कि अग्नि के अन्दर चिनगारी विद्यमान रहती है। आठों शक्तियाँ बहिर्जगत में अंश रूप ही हैं परन्तु उनका मुख्य नियन्ता शंकर ही हैं—तस्यैव भासा सर्वमिद विभाति। परन्तु जो तुच्छ बुद्धि के प्राणी हैं वे इन शक्तियों को शंकर से पृथक् देवता मानते हैं जो उनकी अल्पज्ञता का ही सबूत है॥ ७८॥

विगलितनरकेशे ते निन्दावानिन्द्र एव नरके शेते।
मुदितमना देव त्व क्रमयेऽपि ददासि चिन्तनादेव स्वम्॥ ७९॥

अनुवाद—हे भगवन्! आपका निन्दक इन्द्र कदाचित् अपने दुर्भाग्य के कारण गिरे हुए मनुष्य केशों से पूर्ण नरक में शयन करता है। हे देव! (अहर्निश) चिन्तन से प्रसन्न मनवाले आप छोटे से कीड़े को भी अमरत्व प्रदान करते हैं।

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् शंकर के निन्दक और भक्तों का भेद प्रकट किया गया है। जो प्राणी भगवान् शंकर का अहर्निश चिन्तन करता है उससे वे प्रसन्न होते हैं तथा उसे देवत्व प्रदान करते हैं ॥ ७९ ॥

न जगति मे भव मत्त. पुमान्प्रमत्तोऽस्ति वीर्यवैभवमत्तः।
सतत यो मे शरण तेन हि कृतवांस्त्वयोमेश रणम् ॥ ८० ॥

अनुवाद—हे उमेश ! हे भव ! इस ससार मे मेरे अलावा और कोई पुरुष शक्ति, वैभव तथा लक्ष्मी के मद से मतवाला तथा प्रमत्त नहीं है क्योंकि मैंने जो सदैव मेरा रक्षक है उसके साथ ही (किरातरूपधारी आपके साथ) युद्ध किया।

व्याख्या—इस श्लोक में अर्जुन ग्लानि का अनुभव कर रहे हैं। वे अपने इष्टदेव शंकर से क्षमा माँगते हैं। वे इस बात से लज्जित हैं कि उन्होंने शक्ति के मद में आकार शंकर से ही युद्ध कर लिया। इससे अधिक और क्या निन्दनीय या लज्जास्पद बात होगी कि कोई अपने रक्षक के लिये ही भक्षक बन बैठे ॥ ८० ॥

अपि परिभवदे वादे यदपकृत सगरे च भव देवादे !
मयि खलु घनमोहरते क्षन्तव्यं तत्त्वयानघ नमो हर ते ॥ ८१ ॥

अनुवाद—हे देवादे ! हे भव ! पराभवप्रद वाद तथा युद्ध में मैंने आपके साथ जो भी अपकार किया है हे अनघ ! अत्यन्त अज्ञान में लीन मुझे आप (उसके लिये) क्षमा करें। हे हर ! आपको प्रणाम है।

व्याख्या—अर्जुन अपने किये पर अत्यन्त लज्जित है। उसने युद्ध में तथा बहस में अपने इष्टदेव के लिये बहुत सी अनर्गल बातें कही हैं जिनका वर्णन मूल महाभारत में सविस्तार किया गया है। अत' उन बातों को पौनः पुन्येन सोचकर उसके मन को खेद हो रहा है। वह भगवान् शंकर से अत्यन्त प्रणत एवं विनीतभाव के साथ उन अपकारों को क्षमा करने की प्रार्थना करता है ॥ ८१ ॥

भक्तिरसादीशस्त नमन्तमिति पाण्डवं प्रसादी शस्तम्।
ऊचे भागवत म त्वयि प्रसन्नोऽस्मि पुण्यभागवतंस ॥ ८२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार भक्ति-रस से प्रणाम करते हुए, प्रशस्त तथा भागवत अर्जुन से प्रसन्न शकर बोले हे पुण्यात्माओं में शिरोमणि अर्जुन ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ।

व्याख्या—अर्जुन समझता था कि मेरे कार्य से मेरा इष्टदेव अवश्य ही

मुझमे नाराज होगा पर शंकर तो अपने भक्त की वीरता, तपस्या व क्षत्रियत्व की परीक्षा लेने के लिये ही आये थे। अतः उस परीक्षा में अर्जुन को उत्तीर्ण हुआ देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ८२ ॥

आरलोपार्थमुदारं मदीयमस्त्रं गृहाण पार्थ मुदारम्।
इति जगदालोकगुरुस्तदस्त्रमस्मै ददौ तदा लोकगुरुः॥ ८३॥

व्याख्या—हे पार्थ! शत्रुओं के विनाश के लिये तुम प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र ही मेरे महान् अस्त्र (ब्रह्मास्त्र) को ग्रहण करो। इस प्रकार कहकर जगत् के गुरु तथा जगत् के प्रकाशरूप नेत्रों (सूर्य-वह्निरूप) वाले (अथवा जगत् के आलोकभूत रश्मिवाले या जगत् के आलोकभूतवाणी (गो) वाले शिव (उ') ने अपना अस्त्र अर्जुन को दे दिया॥ ८३॥

टिप्पणी—'जगदालोकगु' पद के कई अर्थ किये गये हैं क्योंकि गो पद अनेकार्थक है। गो पद का पहला अर्थ नेत्र लिया गया है। भगवान् शंकर के सूर्य और अग्नि ही नेत्र हैं जिनसे वह संसार को आलोक प्रदान करते हैं। 'गो' पद का दूसरा अर्थ रश्मि लिया गया है जो लोकप्रसिद्ध है। रश्मियाँ शंकर की ही अंशरूप हैं जो संसार को आलोक प्रदान करती हैं तथा गो पद का तीसरा अर्थ वाणी (वाक्) लिया गया है। वाणी भी शंकर से ही प्रसूत है वाणी से ही जगत् के सारे पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

इसी प्रकार इस श्लोक में कवि ने वर्णों के द्वारा ईश्वर का नाम प्रकट किया है। शकर के लिये उसने 'उ.' पद प्रयुक्त किया है। कविशिक्षा में इस बात का उल्लेख आया है—'अ' वर्ण विष्णुवाचक 'आ' ब्रह्मावाचक 'इ' कामदेववाचक 'ई' लक्ष्मीवाचक तथा 'उ' शंकरवाचक है॥ ८३॥

शरचापासीनस्य प्रभुरुद्गीर्य क्षणादुपासीनस्य।
स्वं च बुधामेयाय प्रदर्श्य तस्मै वपुः स्वधामेयाय॥ ८४॥

अनुवाद—प्रभु श्रीशंकर ने थोड़ी ही देर में समीप में बैठे हुए अर्जुन के बाण, धनुष तथा खड्ग को उगल कर दे दिया तथा पण्डितों के द्वारा भी अमेय (अशक्य) उस अर्जुन को अपना शरीर प्रदर्शित कर अपने धाम चले गये।

व्याख्या—जैसा कि वर्णन पहले आ चुका है किरात वेषधारी शङ्कर ने क्रमशः अर्जुन के बाण, धनुष तथा खड्ग को ग्रसित कर लिया था। प्रसन्न होने पर अपने अस्त्र-दान के साथ अर्जुन के भी पूर्वोद्दिष्ट शस्त्रों को श्रीशङ्कर ने प्रदान किया।

अर्जुन को 'अमेय' इस अर्थ में कहा गया है कि यश और पराक्रम

आदि के प्रसंग में उनकी स्तुति कर सकना या स्वरूप निर्धारण कर सकना पण्डितों के लिये भी शक्य नहीं ॥ ८४ ॥

प्राप्तवरमुमापतितः सुरेन्द्रयन्तानिनीपुरमुमापतितः ।
सह तेनाकाशं स प्रतिपेदे पाण्डवः मनाकाशंसः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—उमापति शंकर से वर प्राप्त करनेवाले अर्जुन के पास, स्वर्ग ले जाने का इच्छुक इन्द्र का सारथि मातलि आया। स्वर्ग जाने की इच्छा वाला (मनाकाशंस) वह अर्जुन उसके साथ आकाश में (रथ द्वारा) पहुँच गया।

व्याख्या—इन्द्र ने अर्जुन को स्वर्ग लाने के लिये अपने सारथि को भेजा। इन्द्र अर्जुन के द्वारा दानवों का (निवात कवच) नाश कराना चाहते थे। स्वर्ग देखने का इच्छुक अर्जुन भी सारथि की बात सुनकर बिना किसी हिचक के चल पड़ा ॥ ८५ ॥

सोऽथ सभानुमहतः प्रापन्नभसः सुरर्षभानुमतः ।
वसतिं नाकेशानां परिमलसुरभिं सुराङ्गनाकेशानाम् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात्, इन्द्र के अनुग्रह से सूर्य और ग्रहों से युक्त आकाश से (होता हुआ) अर्जुन देवाङ्गनाओं के केशों के परिमल से सुगन्धित देवताओं के निवास (स्वर्ग) पर पहुंचा।

व्याख्या—थोड़ी ही देर में अर्जुन देवों के सदन स्वर्ग पहुँच गये। स्वर्ग में अप्सराओं के निवास का भी उल्लेख प्रचुरता से पुराणों में प्राप्त होता है। देवाङ्गनाओं के केशों की सुगन्धि से सम्पूर्ण स्वर्ग लोक सुगन्धित हो उठा था ॥ ८६ ॥

मधुलवमन्दोलिततः कल्पतरोमोदतोऽतिमन्दोऽलितत. ।
मुहुरादायादाय व्यजनसुखमदान्महेन्द्रदायादाय ॥ ८७ ॥

अनुवाद—हिलते हुए कल्पतरु के परागकणों को बारंबार ले-लेकर बहने वाले तथा सुगन्धि के कारण आये हुए भौरों के साथ फैलनेवाले अतिमन्द वायु ने महेन्द्र-पुत्र अर्जुन को पंखे का सुख प्रदान किया।

व्याख्या—स्वर्ग-लोक में शीतल, मन्द तथा सुगन्धित वायु बह रही थी जो कि अर्जुन को व्यजन का सुख प्रदान कर रही थी। स्वर्ग-लोक में कल्पतरु, मन्दार आदि सात वृक्षों के नाम पुराणों में इधर-उधर बहुशः गिनाये गये हैं ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—अर्जुन को 'महेन्द्रदायाद' कहा गया है क्योंकि इन्द्र के सम्पर्क

से ही कुन्ती में अर्जुन की उत्पत्ति हुई थी जिसका वर्णन महाभारत के आदिपर्व में व युधिष्ठिरविजय के प्रथम आश्वास में किया गया है ॥ ८७ ॥

हृदयेऽपि तरङ्गेहे स्नेहादासीनमेव पितरं गेहे ।
प्राप्य शमर्जु ननाम ब्रुवन्स लोकप्रकाशमर्जुननाम ॥ ८८ ॥

अनुवाद—स्नेह के कारण तरंगवत् चेष्टावाले हृदय में भी स्थित अपने पिता को स्वर्ग में प्राप्त कर सरल अर्जुन ने लोकप्रसिद्ध अपने नाम का उच्चारण करते हुए प्रणाम किया ।

व्याख्या—मनुष्य का मन यद्यपि चंचल होता है तथापि प्रेम के कारण पिता इन्द्र अर्जुन के हृदय में विद्यमान था। ऐसे पिता को स्वर्ग में प्राप्त कर अर्जुन ने अपना परिचय देते हुए प्रणाम किया। शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या इन्द्र अपने पुत्र से परिचित न था जो कि अर्जुन ने अपना नाम लिया पर ऐसी बात नहीं है। स्मृतिकार का आदेश है कि अपने से बड़े या पूज्य व्यक्ति के पास जाने पर मनुष्य अपने नामोच्चारण सहित प्रणाम करे। अतः इस नियम के अनुसार अर्जुन ने 'मैं अमुक आपके चरणों में प्रणाम करता हूं' ऐसा कहा ॥ ८८ ॥

तस्मात्साम रचयतः संगृह्णन्नस्त्रकर्म सामरचयतः ।
नन्दितसुरसेनाके पञ्च समा न्यवसदेष सुरसे नाके ॥ ८९ ॥

अनुवाद—सामोपाय का साधन करनेवाले तथा देवगण से युक्त उस इन्द्र से अस्त्र-विद्या ग्रहण करता हुआ अर्जुन प्रसन्न देव-सेनावाले सुरस स्वर्ग में पाँच वर्षों तक रहा।

व्याख्या—अर्जुन ने अपने पिता से स्वर्ग में पाँच वर्षों तक अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। उसके आगमन से अपनी विजय निश्चित एवं अवश्यम्भावी मानकर देव-सेना प्रसन्न रहने लगी थी। स्वर्ग में चारों ओर प्रीति का ही वातावरण था ॥ ८९ ॥

असुरसदस्त्राणान्तं पार्थं पारंगतं सदस्त्राणां तम् ।
ज्ञात्वा सामरसेनः स्वयं महेन्द्रो जगाद सामरसेन ॥ ९० ॥

अनुवाद—अर्जुन को असुर-सभा की सुरक्षा का अन्तरूप तथा श्रेष्ठ अस्त्रों में पारंगत जानकर देव-सेना से युक्त इन्द्र ने स्वयं शान्त-भाव से अर्जुन से कहा।

व्याख्या—जब इन्द्र ने यह जान लिया कि इसने मेरे द्वारा दी गयी अस्त्रों की शिक्षा को सम्यक् आत्मसात् कर लिया है और अब यह निवात कवचों की सुरक्षा को भंग कर सकता है तो इन्द्र ने उससे निम्नलिखित बात कही ॥ ९० ॥

सुकटुकवचना मानस्थिता निवातोपपदकवचनामानः ।
सन्ति सुराणामरयः पार्थ गणस्तेषु चामराणामरयः ॥ ९१ ॥
त्वरितममूनन्तेन त्वं योजय तत्र वीर्यमून ते न ।
स्याददरिराशिक्षयतः कृता च मम दक्षिणा परा शिक्षयतः ॥ ९२ ॥
इत्थं सज्जनकवचः श्रुत्वा पार्थोऽथ सकलसज्जनकवचः ।
रथमुत्तमसारहयं निजपितुराद्दूरतां च तरसा रहयन् ॥ ९३ ॥
शक्त्या चापीवरया पुरमसुराणां समेत्य चापी वरया ।
पाटितविकटकवाटं विपाटवर्षैर्व्यधत्त विकटकवाटम् ॥ ९४ ॥

(चक्कलकम्)

अनुवाद—अत्यन्त तीक्ष्ण-वचनों वाले तथा अभिमानी 'निवातकवच' देवताओं के शत्रु हैं। हे पार्थ ! उनके (वध) प्रति देव-गण निर्बल हैं।

हे पार्थ ! तुम शीघ्र ही इनको (निवातकवच) नाश से जोड़ो अर्थात् इनका अन्त करो। उनके लिये तुम्हारा पराक्रम कम नहीं है। शत्रु-समूह के नाश से मुझ शिक्षक की श्रेष्ठ दक्षिणा भी पूरी हो जायेगी।

इस प्रकार अपने श्रेष्ठ पिता के वचन सुनकर समस्त सज्जनों का कवच रूप अर्जुन उत्तम बलयुक्त घोड़ोंवाले रथ पर चढ़कर तथा रथ के वेग के कारण अपने पिता से दूर होते हुए (दानवों के नगर में पहुँचे)।

धनुर्धारी ने श्रेष्ठ तथा महान् सामर्थ्य से, दानवों के नगर में पहुँचकर अपने बाणों की वर्षा से (वहाँ के) विकट कपाटों को तोड़ दिया तथा सेना को नष्ट (विकटकवाटं) कर दिया।

व्याख्या—इन चार श्लोकों में अर्जुन के अदम्य साहस और पराक्रम पर प्रकाश डाला गया है। शिक्षा प्रदान कर देने के बाद इन्द्र ने अर्जुन से दक्षिणा में निवात कवचों का वध माँगा। अर्जुन ने अपने पिता की इच्छा पूर्ण की।

टिप्पणी—निवात कवच नाम के दानव इन्द्र के शत्रु थे। वे समुद्र के भीतर दुर्गम स्थान में रहते थे। वे तीन करोड़ बताये जाते हैं। निवात कवचों का अद्भुत-नगर पहले देवराज इन्द्र का ही था परन्तु इन दानवों ने देवताओं को वहाँ से भगा दिया था। कहते हैं पूर्वकाल में महान् तपस्या करके दानवों ने भगवान ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे रहने के लिये यह स्थान और देवताओं से अभय माँगा। तब इन्द्र ने ब्रह्मा जी से यह प्रार्थना की 'भगवन् ! हमारे हित के लिये आप ही इनका संहार कीजिए।' तब ब्रह्मा ने कहा 'इन्द्र ! इस विषय में विधाता का विधान ऐसा ही है कि दूसरे शरीर द्वारा तुम ही इनका नाश करोगे' इसी से इन्द्र ने इनका वध करने के लिए अर्जुन को

अपने अस्त्र दिये। अर्जुन ने जिन दानवों को युद्ध में मारा उनके लिये देवता असमर्थ एवं निर्बल थे ॥ ९४ ॥

अथ पार्थशिलीमुखकृत्तगलैर्नगराजनिभैरवनी चपला।
सुरवैरिगणैः ससमुद्रसरिन्नगराजनि भैरवनीचपला ॥ ९५ ॥

अनुवाद—इसके बाद अर्जुन के बाणों से कटे हुए कण्ठ वाले तथा पर्वत-राजतुल्य दैत्य-समूह (के गिरने से) भयकर तथा नीच-मांस वाली (भैरवनी-चपला) एवं समुद्र, नदी और नगरों से युक्त धरती चंचल हो उठी।

व्याख्या—युद्ध में गिरते हुए पर्वतों सदृश दानवों के भार के कारण पृथिवी डोल उठी जो भयकर तथा नीच दानवों के मांस से भरी थी तथा जिस पर अनेक नदियाँ और नगर स्थित थे। दैत्यों की उपमा पर्वतराज से दी जाने के कारण उपमालंकार है तथा दानवों की विशालकायता भी सूचित होती है ॥ ९५ ॥

समरे दनुवंशभुवां नगरं सकलं सकलङ्कबलं कवलम्।
स विधाय शिलीमुखहव्यभुजा वरदे वरदेवबले बवले ॥ ९६ ॥

अनुवाद—वह अर्जुन युद्ध में अपनी शराग्नि से दानवों के, दुष्ट-सेना सहित सम्पूर्ण नगर को कवलित करके (नष्ट करके) वर (आशीर्वाद) प्रदान करने वाली श्रेष्ठ देव-सेना में चले गये।

व्याख्या—निवातकवचों के नगर को दानवों से शून्य करने के पश्चात् आशीर्वाद प्राप्त करने के विचार से अर्जुन पुनः देवसेना में लौट गया ॥ ९६ ॥

त्रिविष्टपं स आगतः पराजितः पराजितः।
अपूजयज्जगत्त्रयं सदैव त सदैवतम् ॥ ९७ ॥

समाप्तं चेदमस्य ग्रन्थस्य पूर्वार्धम्।

अनुवाद—शत्रुओं के द्वारा अजित (पराजित) अर्जुन श्रेष्ठ युद्ध से (पराजि-तः) पुनः स्वर्ग (त्रिविष्टप) आ गये। देवताओं सहित तीनों जगत् ने सदैव उनकी पूजा की।

व्याख्या—इस अन्तिम श्लोक में, पूर्ववत्, कवि ने केवल दो पादों में ही यमकालंकार का प्रयोग किया है। जिस दिन से अर्जुन निवातकवचों का वध करके आया, तीनों लोकों के प्राणियों व देवताओं ने उसके इस महान् कार्य के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की, स्तुति की।

इति चतुर्थ आश्वासः।

पञ्चम आश्वासः

अथ नरदेवनिदेशात्पार्थे संप्राप्तसुरपदेऽनिदेशात् ।
तापसवेशमयन्तस्तन्त्रानाः शत्रुपराभवं शमवन्तः ॥ १ ॥
सभृतलोमशकुन्ता राक्षसघाताय तेऽनुलोमशकुन्ताः ।
प्रययुर्यावन्तस्तीर्णगणाम्भूप्रदेशजा यावन्तः ॥ २ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन के भूमि-लोक से देवलोक चले जाने पर, तापस-वेष धारण किये हुए, शत्रुओं को पराभूत करते हुए तथा शान्त (वे युधिष्ठिरादि तीर्थ स्थानों पर गये') ॥ १ ॥

(हाथों में) सपत्र कुन्तों (भालों) को धारण किये हुए तथा (उचित दिशा में बैठे हुए, शब्द के द्वारा शुभ फल प्रदान करनेवाले) अनुलोम पक्षियों वाले, वे युधिष्ठिरादि अपनी स्त्री (द्रौपदी) को साथ लिए हुए, उन सभी तीर्थ-स्थानों पर गये, जितने भूलोक में स्थित थे ॥ २ ॥

व्याख्या—अर्जुन को तपस्या के लिये भेजकर युधिष्ठिर का मन पहले ही खिन्न हो चुका था अतः उन्होंने उस स्थान पर (द्वैतवन) अब रहना उचित न समझा। वे चारों भाई अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ तीर्थ करने लग गये। तीर्थ स्थानों को जाते समय मार्ग में जो राक्षस मिलता उसका वध ये लोग कर देते थे।

इस श्लोक में 'अनुलोमशकुन्ता:' पद शुभ-शकुन का सूचक है। युधिष्ठिरादि जब चले तो उनके प्रस्थान के समय उचित दिशाओं में बैठे हुए पक्षियों ने अपने कूजन से भावी शकुन की सूचना दी।

ते हि कृतागस्त्यागा व्यतियातमहेन्द्रपर्वतागस्त्यागाः ।
प्रतिपन्नाहिमवन्तं सत्त्वसमूहं सुकोपनाहिमवन्तम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—वे निष्पाप युधिष्ठिरादि महेन्द्र-पर्वत और अगस्त्य मुनि के पर्वत (विन्ध्याचल) को पारकर, अत्यधिक क्रुद्ध सर्पों सहित सत्त्वसमूह की रक्षा करनेवाले हिमाचल पर्वत पर पहुँचे।

व्याख्या—द्वैत-वन से चलने पर युधिष्ठिरादि को सबसे पहले महेन्द्र पर्वत और फिर विन्ध्यपर्वत मिला उन सबको पार कर वे हिमाचल पर्वत पर पहुँचे ॥ ३ ॥

टिप्पणी—विन्ध्य-पर्वत को अगस्त्य-मुनि का पर्वत बतलाने के पीछे एक पौराणिक कथा निहित है। एक बार विन्ध्य-पर्वत हिमालय की स्पर्धा में इतना बढ़ने लगा कि सूर्य का प्रकाश विलीन होने लगा और संसार में अन्धकार छाने लगा। देवताओं ने अगस्त्य-मुनि से प्रार्थना की। वे उसके पास पहुँचे तो वह उनकी श्रद्धा के लिये नीचे झुका। अगस्त्य मुनि ने कहा मैं जब तक लौट कर वापस न आऊँ तुम इसी प्रकार पड़े रहोगे। कहते हैं जब से ऋषि अगस्त्य उस दिशा में गये तब से लौटकर वापस ही न आये।

अगस्त्य-पर्वत दक्षिण भारत के मद्रास प्रान्त में स्थित एक पर्वत का नाम है जिसमें ताम्र-पर्णी नदी निकलती है ॥ ३ ॥

तस्य च पादे वनगैः परीतमायुः परंतपा देवनगैः।
जनितानन्द शिखरैर्गगनलिहं गन्धमादन दंशिखरैः ॥ ४ ॥

अनुवाद—वे परंतप युधिष्ठिरादि उस पर्वत की तलहटी में (स्थित) गन्धमादन पर्वत पर गये जो (पर्वत) वन गत सुरतरुओं (देवनग) से युक्त था, वन-मक्षिकाओं (या व्याल) से युक्त कठोर शिखरों से आकाश को स्पर्श करता था तथा (साधुओं के कारण) जो आनन्ददायी था।

व्याख्या—इस श्लोक में गन्धमादन पर्वत की दिव्यता का वर्णन कवि ने किया है। इस पर्वत की चोटियाँ आकाश को छूती थीं तथा कल्पवृक्षों से यह पवत व्याप्त था ॥ ४ ॥

टिप्पणी—गन्धमादन-पर्वत रुद्र-हिमालय का अंश-विशेष है, जो बद्रिकाश्रम से उत्तर-पूर्व की ओर थोड़ा हटकर आरम्भ होता है।

'दंशि' पद का अर्थ वन-मक्षिका है, परन्तु 'दंशन्तीति दंशिन.' इस निर्वचन के अनुसार इस पद का अर्थ 'व्याल' भी किया जा सकता है ॥ ४ ॥

शिरसो भागे यस्य क्रोधवशो नाम सुरसभागेयस्य।
तिष्ठन्नलिनीलोऽभाद्राक्षसलोकः कुबेरनलिनीलोभात् ॥ ५ ॥

अनुवाद—देव-सभा के द्वारा स्तुत्य जिस गन्धमादन पर्वत के शिखर-भाग पर, कुबेर की पुष्करिणी की रक्षा के लोभ से रहता हुआ 'क्रोधवश' नामक भ्रमरों के समान काला राक्षस-समूह, सुशोभित हो रहा था।

व्याख्या—गन्धमादन पर्वत पर ही कुबेर का क्रीड़ा-सरोवर था जिसकी रक्षा के लिये कुबेर ने 'क्रोधवश' नामक राक्षसों को नियुक्त कर रखा था जो अत्यन्त क्रोधी और बलवान् थे। इसी सरोवर पर भीम और 'क्रोधवश' नामक राक्षसों का युद्ध के लिये भीषण युद्ध हुआ था।

'अलिनीलो' पद में वाचक लुप्तोपमालंकार है ॥ ५ ॥

हारपदे व्याललताकलितः श्लिष्टः करेण देव्या ललता ।
य प्रीततमोऽनुदिनं धूर्जटिरधिवसति च्छिन्नतमोऽनुदिनम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—कण्ठ में सर्पों की हारलता धारण किए हुए, देवी पार्वती के क्रीड़ा-प्रिय हाथों से आलिङ्गित तथा अत्यन्त प्रसन्न शंकर जिस गन्धमादन पर्वत पर सदैव निवास करते हैं जो (पर्वत) तमोगुणरहित सात्विक पुरुषों को प्रेरित करनेवालों (पर्वतों) का भी स्वामी है अर्थात् अत्यन्त एकान्तता या शान्ति के कारण सात्विकों को तपस्या के लिये प्रेरित करनेवाला है ।

व्याख्या—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि गन्धमादन पर्वत रुद्र-हिमालय का अंश-विशेष है, जहाँ पर भगवान् शंकर निवास करते हैं। यह पर्वत देवताओं का क्रीडास्थल है। अपनी रमणीयता या सात्विकता के कारण ही यह भगवान् धूर्जटि का प्रिय स्थान है ॥ ६ ॥

वहति युवा यो वायु कल्पावधि येन सान्ववायो वायु ।
यत्राधिकपीनांस- पतिरध्यास्ते नमोऽधि कपीना सः ॥ ७ ॥

अनुवाद—(जहाँ पर) जो वायु कल्पान्त तक तरुण ही (स्वस्थ) बहती है। जिस हनुमान् के कारण वायु प्रख्यात वंशवाला (सान्ववाय) है वह वानरों का पति, अधिक पीन स्कन्धोंवाला (हनुमान्) भी आकाश को छूनेवाले पर्वत पर रहता है ।

व्याख्या—उपर्युक्त तथा वक्ष्यमाण कतिपय श्लोकों के द्वारा कवि वासुदेव गन्धमादन पर्वत के माहात्म्य और श्रेष्ठता का वर्णन कर रहे हैं। भगवान् शङ्कर तो इस पर्वत पर निवास करते ही हैं इसके अतिरिक्त वानर पति हनुमान भी इसी पर्वत पर रहते हैं क्योंकि यहाँ पर सदैव सुन्दर और स्वस्थ-वायु बहा करती है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन कल्प है अथवा १००० युगों का काल-कल्प होता है ॥ ७ ॥

लीनमृगीशावदरीसघ सततोपगतदिगीशा बदरी ।
यं विविधर्षिवितार राजयते तुङ्गश्रृङ्गधर्षिवितारम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—छिपे हुए मृगियों के बच्चों से युक्त गुफा-समूहवाले तथा ऊँची चोटियों से आकाश के तारों को भी पराभूत करनेवाले जिस गन्धमादन पर्वत पर, सदैव आनेवाले दिग्पालों से युक्त तथा विविध ऋषियों से व्याप्त बदरी (आश्रम) अत्यधिक सुशोभित होती है ।

व्याख्या—इस गन्धमादन-पर्वत की महिमा का दूसरा कारण बदरिका-

श्रम है जहाँ पर अनेकों ऋषि-मुनि निवास करते हैं तथा उसकी अति-पावनता से आकृष्ट होकर दिक्पाल भी आया करते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—बदरिकाश्रम हिमालय पर स्थित हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है ॥ ८ ॥

तत्र शिवे दमहर्षौ दधद्भिरभ्यस्यमानवेदमहर्षौ ।
मुनिभिरमेह् वदोपे तैर्नरनारायणाश्रमे हृतदोपे ॥ ९ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् गन्धमादन पर्वत पर स्थित, दोषों को (कायिक, वाचिक, मानसिक) नष्ट करनेवाले तथा वेदों का अभ्यास करनेवाले महर्षियों से युक्त मंगलकारी नरनारायणाश्रम (बदरिकाश्रम) में, उन पाण्डवों ने दम और हर्ष को धारण करनेवाले मुनियों के साथ, निवास किया।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने बदरिकाश्रम का वर्णन किया है। बदरिकाश्रम में लोगों के हर प्रकार के दोषों का नाश होता है तथा वहाँ के वातावरण की पवित्रता इसी बात से स्पष्ट है कि ऋषिगण वहाँ पर सदैव चारों वेदों का पाठ किया करते हैं ॥ ९ ॥

निपतितमादाय ततः कदाचिदार्तवमगोत्तमादायनतः ।
सस्पृहमगदत्तरसा पाञ्चाली भीममगदत्तरसा ॥ १० ॥

अनुवाद—इसके बाद कभी विशाल एवं श्रेष्ठ गन्धमादन-पर्वत से गिरे हुए पुष्प को लेकर, पर्वत के प्रति उत्पन्न कौतूहलवाली द्रौपदी (पाञ्चाली) शीघ्र ही लोभवशात् भीम से बोली।

व्याख्या—एक बार जब पाण्डव बदरिकाश्रम में बैठे थे तो हवा के साथ कुबेर के सुन्दर सरोवर से उड़कर एक पुष्प द्रौपदी के पास गिरा जिसका नाम 'सौगन्धिक' था। उस पुष्प को देखकर तथा उसकी अलौकिक-सौरभ से द्रौपदी के मन में कौतूहल उत्पन्न हो गया तथा उसी प्रकार के अन्य पुष्प लाने की अभिलाषा से तुरन्त ही भीम से कहने लगी ॥ १० ॥

नहि पुष्पं नामेदमरमणीयतरं फलोपपन्ना मे दृक् ।
मारुतजातेयानि त्वयेदृशान्यद्भुतानि जाने यानि ॥ ११ ॥

अनुवाद—हे भीम ! निश्चय ही इतना सुन्दर-पुष्प (मैंने) कभी नहीं देखा (अथवा इतना रमणीय पुष्प नहीं होता)। (अतः) आज मेरी दृष्टि ने (जन्म) फल प्राप्त कर लिया। हे भीम ! मैं समझती हूँ इसी प्रकार के दूसरे अद्भुत-पुष्प तुम्हीं ला सकते हो (दूसरा कोई नहीं)।

व्याख्या—ये सौगन्धिकोपपन्न दिव्य-पुष्प थे अतः इसके पूर्व द्रौपदी द्वारा इनका कभी न देखा जाना स्वाभाविक ही था। इनकी सुगन्धि व दर्शन प्राप्त

कर उसकी घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय मानों सफल हो गयी। परमात्मा ने मनुष्यों को नेत्र सुन्दर वस्तु देखने के लिये प्रदान किये हैं। अत इस अलौकिक-पुष्प को देखकर उसके नेत्रों का जन्म सफल हो गया।

इसके अतिरिक्त द्रौपदी को भीम की शक्ति पर पूर्ण विश्वास है अतः वह उसे ही पुष्प लाने के लिये भेजती है ॥ ११ ॥

इति सरस रम्भोरूवचनेन दृशौ वितृत्य सरम्भोरू।
स खलु गभीरगदावानभ्यपतद्वेगभागभीरगदावान् ॥ १२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार उत्कण्ठित द्रौपदी के वचनों से उत्साह के कारण विशाल नेत्रों को फैलाकर, महान् गदा को लेकर, भयरहित तथा वेगवान् वह भीमसेन गन्धमादन के वनों में पहुँचा।

व्याख्या—द्रौपदी के वचनों को सुनकर उत्साह और आवेश के कारण भीम के भी नेत्र फैल गये। उत्साह की स्थिति में मुख-मण्डल पर एक विशेष प्रकार की दीप्ति उत्पन्न हो हो जाती है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—'दाव' पद अरण्य और अग्नि के अर्थ में प्रयुक्त होता है पर यहाँ पर प्रकरणानुकूलतः इसका अर्थ 'अरण्य' लेना ही अधिक उपयुक्त है। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः ॥ १२ ॥

स वने कुसुमान्यस्य प्रविचिन्वन् पर्वतस्य कुसुमान्यस्य।
पथि बलवानरसत्वं दृशि विदधानं ददर्श वानरसत्त्वम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—पृथिवी पर पूज्य (कुसुमान्यस्य) इस गन्धमादन पर्वत के वन में फूलों को खोजते हुए भीम ने मार्ग में अलसाये हुए नेत्रोंवाले तथा बलवान् किसी वानर-प्राणी को देखा।

व्याख्या—भीम के मार्ग में वानरपति हनुमान के मिलन की कथा महाभारत की प्रसिद्ध-कथा है। हनुमानजी के नेत्र विशेष रूप से आलस्य से भरे थे, इस कारण कवि ने 'दधानं' पद के स्थान पर 'विदधानं' पद का प्रयोग किया है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—'अलसत्वं' के स्थान पर कवि ने यमकभङ्ग के दोष से बचने के लिये 'अरसत्व' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'वानरसत्त्व' पद में यदि सत्त्व के 'त्त' के स्थानपर 'त' कर दिया जाय तो कोई दोष नहीं उत्पन्न होता ॥१३॥

निद्रापरमध्वनि त भीम प्लवगं जगाद परमध्वनितम्।
वानर पापापेहि प्रयच्छ मार्गं न मे कृपा पापे हि ॥ १४ ॥

अनुवाद—मार्ग में सोते हुए उस वानर से भीम ने उच्च स्वर में कहा'

'हे वानर ! हे पापिष्ठ ! दूर हट । मुझे मार्ग दे । (क्योंकि) पापी व्यक्तियों पर मैं कृपा नहीं करता हूँ ।

व्याख्या—भीम अपने बड़े भाई हनुमान से युगवैभिन्न्य के कारण परिचित नहीं थे । दूसरे उनका स्वभाव भी अपने दूसरे भाइयों से भिन्न था । अतः अपने उद्धत व अभिमानी-स्वभाव के कारण वे हनुमान को भी एकाएक अपशब्द कह बैठे । उन्होंने हनुमान को प्रकारान्तर से मौत के घाट उतार देने तक की धमकी दी । परन्तु हनुमान बिना किसी उत्तेजना के शान्तभाव से लेटे रहे क्योंकि वे अपने छोटे भाई को अच्छी प्रकार जानते थे ॥ १४ ॥

इति रिपुमानस्तेन. स्वय प्लवग. प्रभर्त्स्यमानस्तेन ।
मन्दं बद्ध्वा नेत्रद्वितय निजगाद भैरवध्वानेऽत्र ॥ १५ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त भीम के द्वारा भर्त्सित किये जाने पर, शत्रुओं के मान का हरण करनेवाले हनुमान ने अपने अलसाये हुए दोनों नेत्रों को थोड़ा फैलाकर ज़ोर से चिल्लानेवाले भीम से कहा ।

व्याख्या—जब हनुमान की भीम ने अत्यधिक भर्त्सना की तो उन्होंने भी अपने बन्द नेत्रों को थोड़ा खोला और उससे वक्ष्यमाण-क्रम से कहा ।

इस श्लोक में आये हुए 'बद्ध्वा' पद का अर्थ 'फैलाकर' किये जाने पर ही अर्थ की संगति बैठेगी, नान्यथा । वानर के पर्यायवाची 'प्लवग' शब्द का निर्वचन इस प्रकार होगा 'प्लवेन प्लुतगत्या गच्छति इति प्लवगः' ॥१५॥

अङ्ग महानिद्रोऽहं जरया च गतो बहून्यहानि द्रोहम् ।
उद्धृतबालधि याहि क्षन्तव्य मादृशोष्वबालधिया हि ॥ १६ ॥

अनुवाद—हे वीर ! मुझे बड़ी नींद आ रही है तथा बुढ़ापे के कारण बहुत दिनों से निर्बल भी हो गया हूँ । इसलिये मेरी पूँछ (बालधि) उठाकर चले आओ (क्योंकि) ज्ञानी पुरुष को मुझ जैसे (बूढ़े) व्यक्ति पर क्षमा करनी चाहिये ।

व्याख्या—इस श्लोक में हनुमान ने बिना किसी अभिमान के भीम के दुरभिमान को नष्ट करने के लिये अत्यन्त विनीत भाव से अपनी असमर्थता प्रकट की है । पहला कारण हनुमान के अपने स्थान से न उठ सकने का है उनकी गाढ़ी नींद और दूसरा है उनका बुढ़ापा ।

हनुमान ने भीम को 'अबालधी' कहकर वास्तव में उस पर कटाक्ष किया है । क्योंकि भीम पहले ही 'न मे कृपा पापे हि' पदों से अपने अभिमान को सूचित कर चुके हैं । अतः हनुमान उनसे क्षमा करने के लिये प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥

इति धीर सत्त्वस्य श्रुत्वा वचन वृकोदरः स त्वस्य।
व्यतनुत दुर्वालस्य स्पर्शमकर्षच्च वामदुर्वालस्यः॥ १७॥

अनुवाद—इस प्रकार उस प्राणी (हनुमान्) के वचन सुनकर धीर-भीम (वृकोदर) ने बड़े आलस्य (तिरस्कार) से उसकी तीक्ष्ण पूँछ का स्पर्श किया और फिर उसे हटाने लगा।

व्याख्या—इस श्लोक में आया हुआ 'दुर्वालस्यः' पद विशेष महत्व का है। हनुमान् की बात भीम को बड़ी सरल लगी, अतः बड़े तिरस्कार और आलस्य से पहले उसने अपने बायें हाथ से ही उसकी पूँछ को हटाना चाहा—सावज्ञमथ वामेन स्मयाञ्जग्राह पाणिना॥ १७॥

नास्य चचाल यदा हि स्थिरमग्रं दशमुखस्य चालयदाहि।
सूचितभीमोहास्यस्तमेव शरणं जगाम भीमो हास्यः॥ १८॥

अनुवाद—जब रावण के घर (लङ्का) को जलानेवाली हनुमान् की पूँछ के स्थिर अग्र-भाग को भी न हिला सका तो मुख से भय और मूर्च्छा को प्रकट करता हुआ तथा लोगों के द्वारा हँसा जाता हुआ वह भीम उसकी ही शरण में आया।

व्याख्या—पूरी शक्ति लगाने पर भी भीम उसकी पूँछ को अपने स्थान से न हटा सका अतः उसका सारा घमण्ड चूर चूर हो गया। उसका मुख अपनी गलती के अनुभव से भयभीत हो गया तथा खेद के कारण उसे मूर्च्छा सी आने लगी। लोग उसकी हँसी उड़ाने लगे जब उसने समझा कि मैंने गलती की है, ये तो कोई दिव्य प्राणी हैं तो वे उसका परिचय प्राप्त करने के लिये व क्षमा माँगने के लिये उसके पास गये।

"उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम्।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबल॥
जानुभ्यामगमद् भीमस्तस्थौ व्रीडन्नधोमुखः।
प्रणिपत्य च कौन्तेय. प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम॥"

महाभा०—वनपर्व॥ १८॥

कपिवर मे तत्त्वेन मूहात्मानं कृपासमेतत्त्वेन।
भक्तिरसादङ्ग त्वा नमामि शरणं च यामि सादं गत्वा॥ १९॥

अनुवाद—हे कपिवर! कृपा करके आप मुझे तत्वतः अपने को बतलाइये कि आप कौन हैं सही-सही अपना परिचय दीजिए। हे अङ्ग (वीर)! मैं भक्ति पूर्वक आपको प्रणाम करता हूँ और (आपकी पूँछ न उठा सकने के कारण) दुःखी होकर आपकी शरण में आया हूँ।

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में भीम अपने किये पर पश्चात्ताप करते हैं तथा हनुमान से अपना परिचय देने की प्रार्थना करते हैं ॥ १९ ॥

इत्थं मानोनेन भ्रान्त्वा भीमेन चोद्यमानोऽनेन ।
हनुमान् सामोद स प्रोचे प्रणयात्प्रयुज्य सामोदंस' ॥ २० ॥

अनुवाद—इस प्रकार भूल करके, मानरहित भीम से प्रेरित किये गये उन्नत कंधोंवाले हनुमान ने सहर्ष, सस्नेह और सशान्ति कहा।

व्याख्या—एक बार भूल करने के पश्चात् भीम का सारा अभिमान जाता रहा। भीम के प्रार्थना करने पर भगवान् हनुमान ने भी अपना परिचय प्रेमपूर्वक आगे के श्लोकों में दिया ॥ २० ॥

टिप्पणी—'भ्रान्त्वा' के स्थान पर यदि 'भ्रान्ता' पद का प्रयोग किया जाये। जैसा कि अन्यत्र उपलब्ध है—तो अर्थ और भी अधिक संगत और उपपन्न होगा ॥ २० ॥

मारुतसुत रामस्य प्रेष्यं विद्धि प्रियं च सुतरामस्य ।
मां हनुमन्तं नाम प्लवगं ध्यायन्तमुत्तमं तन्नाम ॥ २१ ॥

अनुवाद—हे मारुतसुत (भीम) ! तुम मुझको उस उत्तम नाम (श्रीराम) का ध्यान करनेवाला, राम का सेवक तथा उनका (राम) अत्यन्त प्रिय हनुमान नाम का वानर समझो।

व्याख्या—पवनसुत हनुमान ने अपना पूर्ण परिचय अत्यन्त ही विनीत भाव से भीम को दिया है। वे अहर्निश राम का ध्यान करते हैं तथा उनके अत्यन्त प्रिय सेवक हैं। हनुमान ने अपने को 'भक्त' न कहकर भगवान राम का 'दास' बतलाया है जिससे उनकी अत्यधिक विनम्रता सूचित होती है ॥२१॥

द्रष्टुमुदारामस्य प्रियां मया लङ्घितस्तदा रामस्य ।
चलकल्लोलो जलधी रिपुरपि समवेक्षि विषयलोलो जलधीः ॥ २२ ॥

अनुवाद—उस समय (त्रेता युग में) उन राम की उदारशीला प्रिया (सीता) को खोजने के लिये मैंने चंचल-कल्लोल वाले समुद्र को लाँघा था तथा मैंने ही विषय-लम्पट, जड़बुद्धि शत्रु-रावण को भी अच्छी प्रकार देखा था।

व्याख्या—कपीश्वर हनुमान अपने अतीत काल की घटनाओं द्वारा अपने अद्वितीय पराक्रम का वर्णन कर रहे हैं। महोदधि को मैंने पार किया और रावण को भी मैंने ही सबसे पहले अच्छी प्रकार देखा। हनुमान ने रावण को 'जदधी' इसलिये कहा क्योंकि वह परस्त्री पर कुदृष्टि डालनेवाला

था तिस पर भी उसने जगज्जननी-स्वरूपा उदारशीला सीता का हरण किया जिसके कारण निश्चय ही वह जड़-बुद्धि धारण करता था। हनुमान के मन में रावण के लिये अत्यन्त ही क्षुद्रता और हेय धारणा है। वह उसे 'त्रिपदलोलुप' भी इसी कारण कहता है॥ २२॥

टिप्पणी—'जलधी.' पद में 'डलयोरैक्यम्'—इस नियम के अनुसार 'जडधी' मानकर अर्थ करना पड़ेगा।

'जडधिः' पद के स्थान पर 'जलधी' सन्धि के नियमानुसार हुआ। 'रोरि' सूत्र से र् (॰) का लोप और फिर 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इस सूत्र से अन्तिम इकार को ईकार हुआ है॥ २२॥

इति वातापत्येन प्रोक्तं वचनं निशम्य तापत्येन।
स नियतमायतबाहो धन्योऽहं योऽलमधिगमाय तवाहो॥ २३॥

अनुवाद—इस प्रकार वायु-पुत्र हनुमान् से वचन सुनकर तापत्यवंशज भीम ने कहा। हे आयतबाहो! अहो, मैं निश्चित ही धन्य हूं जो मैं (त्रेता-युग में समुद्र लंघन करनेवाले) आपको प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

व्याख्या—हनुमान् का परिचय प्राप्त करने पर भीम अपने को धन्य मानता है क्योंकि यह सौभाग्य की ही बात तो है कि त्रेतायुग में समुद्र को लांघनेवाले महापुरुष को वह इस युग में देख सका है॥ २३॥

टिप्पणी—युधिष्ठिरादि के तापत्यवंशज होने की कथा प्रारंभ में गन्धर्व-राज के युद्ध के समय ही आ चुकी है। तपती एक सूर्यकन्या थी जो अत्यन्त ही सुन्दर थी। अपनी तपस्या से तीनों जगत् में प्रसिद्ध होने के कारण उसका नाम 'तपती' था। उसका विवाह राजा संवरण से हुआ था। राजा संवरण के द्वारा ही तपती में राजा कुरु की उत्पत्ति हुई थी जिससे कौरव-वंश चला था। अतः भीम तापत्यवंशज कहे गये हैं।

"एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यथा मतः॥
तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपम्।
तापत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन॥

महा० आदि पर्व॥ २३॥

तुलितसमप्रजनं त्वा किंचिद्याचामि सरसमग्रजं नत्वा।
द्रष्टुं हन्त तवाहं स्पृहयेऽर्णवतारिविमहं ततबाहम्॥ २४॥

अनुवाद—अपने पराक्रम से समस्त लोगों की परीक्षा करनेवाले हे अग्रज (हनुमान्)! मैं सहर्ष प्रणाम करके आपसे कुछ प्रार्थना करता हूँ।

हन्त ! मैं आपके विस्तृत भुजाओंवाले अर्णवतारी शरीर को देखना चाहता हूँ।

व्याख्या—भीम ने हनुमान से उस शरीर को देखने की इच्छा प्रकट की जिससे उन्होंने समुद्र पार किया था। अर्थात् उनके विराट्-स्वरूप के देखने को अभिलाषा भीम ने प्रकट की॥ २४॥

टिप्पणी—इस श्लोक में भी यमकभङ्ग के दोष से बचने के लिये कवि ने 'वाहम्' के स्थान पर 'बाहम्' का प्रयोग किया है—बवयोरैक्यात्॥ २४॥

श्रुत्वा तदनुजगदित तेन दधानेन धाम तदनु जगदितम्।
खमरोधि कपीनेन स्फुरता दंष्ट्राङ्कुरैरधिकपीनेन॥ २५॥

अनुवाद—इसके उपरान्त अपने अनुज भीम की बात सुनकर, सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त तेज को धारण करनेवाले कपीश्वर हनुमान् ने दंष्ट्राङ्कुरों से चमकते हुए तथा अत्यधिक स्थूल (अतिमासल) शरीर से आकाश को ढक लिया।

व्याख्या—पवनसुत हनुमान ने अपना पर्वताकार शरीर धारण किया। उनका वह शरीर जगत् के सम्पूर्ण तेज को धारण करनेवाला था। बड़ी-बड़ी दाढ़ों से वे चमक रहे थे। इस प्रकार अपने महान् शरीर से उन्होंने सम्पूर्ण आकाश को ही व्याप्त कर लिया॥ २५॥

तद्वपुरनलसमस्य प्रेक्ष्य प्लवगाधिभर्तुरनलसमस्य।
मीलितनेत्रस्ततया समजनि भीमो महावने त्रस्ततया॥ २६॥

अनुवाद—(तेज के कारण) अग्नि-तुल्य उस वानरेन्द्र (हनुमान्) के महोद्यमयुक्त शरीर को देखकर महान् वन में स्थित भीम की आँखें अत्यन्त भय के कारण बन्द हो गयीं।

व्याख्या—जिस प्रकार श्रीकृष्ण के विराट्-स्वरूप को देखकर अर्जुन व्याकुल हो गये थे और भय के कारण 'किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव" आदि प्रार्थना करने लगे थे, उसी प्रकार से भीम भी भय के कारण उस रूप को न देख सके और उनके नेत्र बन्द हो गये। इस विराट्-स्वरूप को न देख सकने का मुख्य कारण हनुमान का अग्नितुल्य तेजस्वी होना है॥ २६॥

तस्मिन्भीमे चकिते हनुमान् वदने च तस्य भीमेचकिते।
संहृतिमतनुत तस्य स्वस्य शरीरस्य तूर्णमतनुततस्य॥ २७॥

अनुवाद—भीम के चकित हो जाने पर तथा उसके मुख के, भय के कारण काले पड़ जाने पर, हनुमान ने अपने अत्यन्त विस्तृत (अतनुततस्य) शरीर को तुरन्त ही समेट लिया।

व्याख्या—अपने छोटे भाई भीम को भय से व्याकुल देखकर हनुमान् ने तुरन्त ही पूर्ववत् शरीर धारण कर लिया।

भयभीत होने पर मुख की कान्ति जाती रहने के कारण भीम का मुख मेघश्याम हो जाना स्वाभाविक ही था ॥ २७ ॥

तदनु पुनः सूनमदः प्रचिचेतु वायुनन्दनः सूनमदः ।
प्रैक्षत वरो हानुमतं वपुरमुना मार्गमारुरोहानुमतम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर हनुमान के शरीर को देखकर नितरां मद-रहित (सूनमदः) वायु-पुत्र भीम पुष्प (सौगन्धिक) पुष्प को खोजने के लिये उनके (हनुमान्) द्वारा सन्दर्शित मार्ग पर चले।

व्याख्या—सौगन्धिक-पुष्पों की प्राप्ति के लिये हनुमान ने भीम को मार्ग बतलाया। भीम ने भी उसी मार्ग को अपनाया ॥ २८ ॥

तेन तथोपर्यस्य भ्रमता शैलस्य दशमथो पयस्य ।
तत्प्रापे देवसरस्त्रिदशैरपि यत्र न प्रपेदेऽवसरः ॥ २९ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त (गन्धमादन) पर्वत पर घूमते हुए उस भीम ने, अपनी दृष्टि चारों ओर फेंकने पर, (कैलासशिखर के समीप) देवसर (कुबेर की पुष्करिणी) प्राप्त किया जहाँ पर (राक्षसों से रक्षित होने के कारण) देवता भी प्रवेश नहीं कर पाते थे।

व्याख्या—यक्षराज कुबेर की पुष्करिणी थी जिसकी रक्षा 'क्रोधवश' नामक राक्षस करते थे। बिना कुबेर की आज्ञा के कोई भी इस सरोवर में प्रवेश न कर पाता था ॥ २९ ॥

क्रियतेऽमलकेशेन स्त्रीणां सघेन सार्धमलकेशेन ।
सेवा यत्तोयस्य क्रोधवशगणश्च यत्तो यस्य ॥ ३० ॥

अनुवाद—अलकापुरी का राजा (कुबेर) निर्मल केशोंवाली स्त्री-समूह के साथ जिस देवसरोवर की (नित्य ही) सेवा करता है (अर्थात् कुबेर नित्य ही स्त्री-समूह के साथ उस सरोवर में जल-क्रीडा करता था) तथा जिसकी रक्षा में 'क्रोधवश' नामक राक्षस-समूह यत्नशील रहता है।

व्याख्या—इन श्लोकों के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुबेर का इस सरोवर में एकाधिकार है, उसकी आज्ञा बिना कोई भी वहाँ प्रवेश करने में असमर्थ था क्योंकि राक्षस-समूह उसकी रक्षा में सदैव सन्नद्ध रहता था ॥ ३० ॥

तत्र स दलिततममलं सौगन्धिकमप्यपश्यदलिततममलम् ।

विपुले सरसि ततोऽयं पवनतनूजः पपात सरसितसोयम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—उस विस्तृत-सरोवर में उस (भीम) ने भौंरों से व्याप्त अत्यन्त निर्मल एवं विकसित सौगन्धिक नामक कमल-विशेष को देखा। इसके बाद पवन-तनय भीम शब्द-युक्त जल में कूद पड़े।

व्याख्या—पुष्पों की सुगन्धि के कारण भ्रमरों ने पुष्पों को घेर रखा था। जब भीम पुष्पों को चुनने के लिये जल में घुसे तो जल कल-कल शब्द करने लगा॥ ३१॥

टिप्पणी—जल के अन्दर यद्यपि अनेकों सौगन्धिक थे तथापि एक वचन में ही पद का प्रयोग किया गया है। ऐसे प्रयोग महाकवि वासुदेव ने कई स्थानों पर किये हैं—जातावेकवचनम्॥ ३१॥

वेगेन गदावन्तं निपतन्तं सरसि विधुतनगदावं तम्।
तिष्टन्तो वाप्यवने रुरुधुर्यक्षाः समन्ततो वाप्य वने॥ ३२॥

अनुवाद—वन में पुष्करिणी-रक्षण में नियुक्त यक्ष, सरोवर में वेग से गिरनेवाले गदाधारी तथा पर्वत के वनों को कम्पित कर देनेवाले उस भीम को, हर ओर से रोकने लगे।

व्याख्या—भीम जब जल में कूदे तो उनके वेग के कारण पर्वत के वन हिलने लगे। यक्षों ने भी उन्हें फूल तोड़ने से रोका क्योंकि बिना कुबेर की आज्ञा के कोई भी फूल नहीं तोड़ सकता था॥ ३२॥

द्विपतो निष्याय ततः सरसः प्रोत्तीर्य सलिलनिध्यायततः।
भीमो हेमाङ्गदया चूर्णीचक्रे चमूमिहेमां गदया॥ ३३॥

अनुवाद—इसके उपरान्त उनको शत्रु जानकर, समुद्र के समान विशाल सरोवर से निकल कर, भीम ने अपनी हेमाङ्गदयुक्त गदा से यक्षों की सेना को चूर्ण कर दिया।

व्याख्या—यह कथा सविस्तार महाभारत के वन-पर्व में वर्णित है। यक्षों ने भीम को पुष्प तोड़ने से बहुत बार मना किया परन्तु जब भीम एक भी न माने और सरोवर के कमलों को तोड़ने लगे तो यक्ष-सेना ने उन पर कठिन-प्रहार प्रारम्भ किये। भीम ने भी प्रतिकार में उन पर भयंकर प्रहार किया और थोड़ी ही देर में शत्रु-सेना को चूर-चूर कर दिया॥ ३३॥

ताश्चासावनवाप्याः सुमनस उद्धृत्य रंहसा वनवाप्याः।
तुङ्गतमादनवनतः प्रियान्तिकमवाप गन्धमादनवनतः॥ ३४॥

अनुवाद—यह अविनीत भीम शीघ्र ही कुबेर-वन-पुष्करिणी से दुर्लभ

(सौगन्धिक) पुष्पों को चुनकर, अत्यन्त उन्नत गन्धमादन-वन से (उतर कर) अपनी प्रिया (द्रौपदी) के समीप पहुँचा।

व्याख्या—भीमसेन के लिये 'अनवनत' पद कवि ने अभिप्राय-विशेष से प्रयुक्त किया है। वह स्वभाव से ही उद्धत है। युधिष्ठिर जितने ही शान्त और विनयी हैं, भीम उतने ही क्रोधी और उद्दण्ड। प्रारम्भ से ही हम उसके चरित्र को कोपनशील पाते हैं। अपने बड़े भाई हनुमान् को तो वह गालियाँ दे बैठा। बड़ों के मना करने पर उसने एक न मानी॥ १४॥

प्रथमासे नीतेन स्वशिरः कुसुमेन याज्ञसेनी तेन।
तस्या नगरमिताया प्रीतिर्जज्ञे पुरेव नगरमितायाः॥ १५॥

अनुवाद—अपने शिर को आभूषित किये हुए उन फूलों से याज्ञसेनी (द्रौपदी) बहुत सुशोभित हुई। पर्वत पर विहार करनेवाली वह द्रौपदी इतना प्रसन्न हुई जितना पहले अपने नगर में स्थित रहने पर प्रसन्न थी। अर्थात् अपने शिर पर उन पुष्पों को धारण कर वह अपने को महान् ऐश्वर्य के साथ नगर में रहती हुई सी मानने लगी।

व्याख्या—अलौकिक पुष्पों को प्राप्त कर द्रौपदी का हर्षित होना स्वाभाविक ही है। कवि ने उसके उस हर्ष की उपमा पूर्वकाल में अर्थात् वनवास के प्रारम्भ में नगर में स्थित रहने के समान दी है। जिस प्रकार अपने राज्य में अभीप्सित वस्तु को तत्क्षण प्राप्त कर वह आनन्दित हो उठती थी उसी प्रकार आज इस वन में अपना मन पसन्द उपहार पाकर वह हर्षित हो उठी॥ १५॥

अथ तटमापुरयतः श्वेतस्य नगस्य गगनमापूरयत:।
ते सोदर्या: श्रमत: परिरक्षन्तो मुनीन् बदर्याश्रमतः॥ १६॥

अनुवाद—इसके अनन्तर वे युधिष्ठिरादि चारो भाई यत्नपूर्वक मुनियों की रक्षा करते हुए बदर्याश्रम से चलकर तुरन्त ही गगनस्पर्शी 'श्वेत' नामक पर्वत के तट पर पहुँचे।

व्याख्या—यद्यपि वे चारो भाई स्वयं संन्यासियों के वेष में थे तथापि उन्होंने अपनी क्षत्रिय-वृत्ति का त्याग नहीं किया था। वे स्थान-स्थान पर मुनियों की रक्षा करते चलते थे। उनके संकटों का निवारण करते चलते थे॥ १६॥

विपुलतरूपेतस्य प्रान्ते प्रापुर्मनोज्ञरूपे तस्य।
सूचितभाविजयेन प्रभया योगं नरर्षभा विजयेन॥ १७॥

अनुवाद—वे नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरादि विस्तृत वृक्षों से युक्त 'श्वेतपर्वत' के

रमणीय प्रान्त में अपने भाई अर्जुन (विजय) से मिले जो अपने मुख की कान्ति से भावी-विजय को सूचित कर रहा था।

व्याख्या—पाँच वर्षों तक स्वर्ग में इन्द्र से अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा प्राप्त करने के बाद अर्जुन इन्द्र के रथ पर बैठ कर आये। रथ से उतर कर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेन के चरण-स्पर्श किये। आते समय अर्जुन का मुख प्रसन्नता से खिला हुआ था जिससे भावी-विजय की सूचना मिल रही थी। कौरव-सेना में कर्ण, द्रोण, भीष्मादि जैसे वीरों के होने पर भी अब विजय निश्चित थी क्योंकि अर्जुन ने दिव्य-अस्त्रों की प्राप्ति कर ली थी ॥ ३७ ॥

विनिवृत्ताः श्वेतस्य प्रस्थात्तेऽभ्यागते सिताश्वे तस्य ।
अधिगतसद्योगस्य प्रान्तमगुर्यामुनस्य सद्योऽगस्य ॥ ३८ ॥

अनुवाद—अर्जुन (सिताश्व) के मिलने पर वे युधिष्ठिरादि 'श्वेतपर्वत' के शिखर से लौटकर तुरन्त 'यामुन' नामक पर्वत के समीप पहुँचे, जहाँ पर (पर्वत पर) सज्जन निवास किया करते थे।

टिप्पणी—अर्जुन के लिये 'सिताश्व' पद का प्रयोग किया गया है क्योंकि अर्जुन के रथ के घोड़े सफेद थे ॥ ३८ ॥

तत्र हरगुहाभोगे तन्वन्मृगयां मनोहरगुहाभोगे ।
अतिरभसेनोग्राहिप्रवरेणोपेत्य भीमसेनोऽग्राहि ॥ ३६ ॥

अनुवाद—विस्तृत और रमणीय गुफाओंवाले उस 'यामुन' नामक पर्वत पर शिकार खेलते हुए भीमसेन को अतिसाहस युक्त एवं उग्र अजगर ने पकड़ लिया।

व्याख्या—एक दिन शिकार खेलते हुए भीम पर्वत की कन्दरा में एक महाबली अजगर के पास पहुँच गये, जो मृत्यु के समान भयानक और भूख से पीड़ित था। उसे देखकर भीम भयभीत हो गये। उस अजगर ने भीम के शरीर को लपेट लिया। उस समय महाराज युधिष्ठिर ही द्वीप के समान उन्हें त्राण देनेवाले हुए ॥ ३९ ॥

प्राप्य कृती तमहिं स प्रश्नोत्तरैर्विधाय मुदितमहिंस्रः ।
अकरोदहितान्तस्य भ्रातुर्मोक्षं महीभृदहितान्तस्य ॥ ४० ॥

अनुवाद—विद्वान् (कृती) एवं हिंसारहित राजा युधिष्ठिर ने उस सर्प को प्रश्नोत्तरों से सन्तुष्ट करके, महासर्प के कारण दुःखी (अहितान्तस्य) एवं शत्रुओं के नाशरूप अपने भाई भीम को छुड़ाया।

टिप्पणी—कथा प्रसिद्ध है कि जब युधिष्ठिर ने सर्प के प्रश्नों का उत्तर दे दिया तो भीम को सर्प से छुटकारा मिला। राजा युधिष्ठिर ने सर्प से उसका

आदि वृत्तान्त पूछा। उसने कहा 'मैं ऐश्वर्यसम्पन्न स्वर्ग का स्वामी नहुष हूँ मैं ऐश्वर्य के मोह म मदोन्मत्त हो गया था। मेरा अन्याय इतना बढ़ गया था कि एक हजार ब्रह्मर्षियों को मेरी पालकी ढोनी पड़ती थी। मुनिवर अगस्त्य जब एक बार पालकी ढो रहे थे तब मैंने उन्हें लात लगायी। वे क्रोध में भरकर बोले 'अरे ओ सर्प! तू नीचे गिर।' उनके ऐसा कहने पर मैं विमान से नीचे गिर गया। मेरी प्रार्थना पर शाप का प्रतिकार अगस्त्य मुनि ने बतलाया 'राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शाप से मुक्त करेंगे।' यह कहकर नहुष ने अजगर का शरीर त्याग दिया और दिव्य-देह धारण कर पुनः स्वर्ग में चले गये ॥ ४० ॥

सजनरसद् तेन भ्रात्रा सह धर्मसूनुरसदन्तेन।
पुनरेव प्राप सरः स द्वैतवनं कृतादिवप्रापसरः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—आदि (यामुन पर्वत) तट (वप्र) से चलकर धर्मपुत्र-युधिष्ठिर दुष्टों का नाश करनेवाले अपने भाई भीम के साथ पुन सज्जनों को हर्ष प्रदान करनेवाले द्वैतवन सरोवर पहुँचे।

व्याख्या—अजगर को व अपने भाई को मोक्ष-प्रदान करने के पश्चात् युधिष्ठिर पुन द्वैतवन-सरोवर पहुंचे ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—'कृतादिवप्रापसर' का दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। 'वप्र' पद का अर्थ पूर्वज भी होता है। 'वप्र पितरि केदारे वप्रः प्राकाररोधसो' इति रुद्र.। अतः इस 'आदिवप्र—' पद की टीका इस प्रकार भी संभव है— 'आदिवप्र आदिपिता स्वगोत्रमहत्तरो नहुषस्तस्य कृतोऽपसरणं सर्पदेहान्मोक्षो येन स.' ॥ ४१ ॥

तत्र तदा पार्थेभ्यः स्वां दर्शयितु श्रिय मुदाऽपार्थेभ्यः।
द्विपघटया त्रातेन व्यधायि रिपुणाथ घोषयात्रा तेन ॥ ४२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त धनरहित पाण्डवों को अपनी लक्ष्मी दिखलाने के लिये हस्ति-समूह से रक्षित उस शत्रु-दुर्योधन ने घोष-यात्रा प्रारभ की।

व्याख्या—दु शासन और कर्ण की योजना से वनवासी पाण्डवों को जलाने के लिये घोषयात्रा के बहाने से दुर्योधन ने अपना ऐश्वर्य दिखलाना चाहा। इसके लिये अपनी गोष्ठों को देखने के लिये वह द्वैतवन गया और उसी सरोवर के पास उसने अपना भी डेरा डाल दिया। उसकी इस यात्रा में सैकड़ों व हजारों की सख्या में हाथी, घोड़े और रथादि भी थे। उसकी महिषियाँ भी घोषयात्रा के साथ गयी हुई थीं ॥ ४२ ॥

सोऽथ सदारावरजः संप्राप वनं यदा सदारावरजः।

सलिले सरसो दारैर्गन्धर्वः क्रीडति स्म सरसोदारैः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर जिस समय अपनी स्त्रियों और दुःशासनादि भाइयों सहित दुर्योधन (हस्त्यादियों के) शब्द और (सैन्योत्थित) धूल के साथ द्वैतवन पहुँचा उस समय सरोवर के जल में गन्धर्वराज-चित्रसेन अपनी सरस और उदार स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे।

व्याख्या—जब दुर्योधन ने बुरी नियत के साथ द्वैतवन की ओर प्रस्थान किया तब उसकी इच्छा व योजना को इन्द्र समझ गये। अतः वनवास के कष्ट के कारण क्षीण-शरीर पाण्डवों की रक्षा के लिये उसने गन्धर्वराज चित्रसेन को उस वन में भेजा। गन्धर्वराज की सेना ने सरोवर को घेर लिया और गन्धर्वराज अपनी स्त्रियों के साथ सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगे॥ ४३ ॥

स कुरूंस्तानभ्यर्णस्थायिकलत्रः समागतानभ्यर्णः।
नवघनवद् गुरुरोघः स्थगयन्निपुवर्षणेन वल्गु रुरोघ॥ ४४॥

अनुवाद—सरोवर में स्थित स्त्रियोंवाले गन्धर्वराज चित्रसेन ने समीप में आये हुए कौरवों को बाणों की वृष्टि से, महान् आकाश को, नवीन बादलों के समान, आच्छादित करते हुए रोक दिया।

व्याख्या—जिस प्रकार नवीन बादलों से आकाश ढक जाता है उसी प्रकार शर-वृष्टि से आकाश को आच्छादित करते हुए, कौरवों को चित्रसेन ने आगे बढ़ने से रोक दिया॥ ४४॥

अथ रभसेनोदीर्णं कर्णं विद्राव्य चित्रसेनो दीर्णम्।
प्रथयन्को रवमनयन्निबध्य गगनं क्षणेन कौरवमनयम्॥ ४५॥

अनुवाद—इसके अनन्तर गन्धर्वराज चित्रसेन ने साहसपूर्वक उद्भट भयभीत कर्ण को भगाकर भूमि पर शब्द करते हुए, थोड़ी देर में ही, नीतिरहित कौरव (दुर्योधन) को बांध कर आकाश ले गया।

व्याख्या—महाभारत में दुर्योधन, शकुनि, विकर्ण, कर्ण आदि का चित्ररथ के साथ भीषण युद्ध का वर्णन किया गया है। यद्यपि कर्ण बहुत घायल हो गया था पर उसने गन्धर्वों के आगे पीठ नहीं दिखायी। तब गन्धर्वों ने सैकड़ों और हजारों की संख्या में कर्ण पर ही धावा बोला। उन्होंने कर्ण के रथ के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तब वह हाथ में ढाल-तलवार लेकर रथ से कूद पड़ा और विकर्ण के रथ पर बैठकर प्राण बचाने के लिये उसके घोड़े छोड़ दिये। गन्धर्वों ने अपने बाणों से दुर्योधन के रथ को भी चूर-चूर कर दिया। इस प्रकार रथ से नीचे गिर जाने पर उसे चित्रसेन ने जीवित ही कैद कर लिया॥ ४५॥

त्रिदशद्विपभुवि वसन् पार्थः श्रुत्वा स कौरवप्रभुविपदम्।
युद्ध्वा परमारिभिः सुयोधनममोचयत्स परमारिभ्यः ॥ ४६ ॥

अनुवाद—त्रिदशभूमि में निवास करते हुए उस अर्जुन ने कौरवप्रभु (दुर्योधन) की आपत्ति सुनकर गन्धर्वराज के साथ युद्ध करके शत्रुओं का वध करनेवाले (परमारिभिः) उत्कृष्ट शत्रुओं (गन्धर्वों) से सुयोधन को छुड़ाया।

व्याख्या—जब दुर्योधन को पकड़कर चित्रसेन आकाश की ओर ले जाने लगा तो कुछ सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर पाण्डवों की शरण में गये और युधिष्ठिर के सामने गिड़गिड़ाने लगे। युधिष्ठिर को दया आ गयी। भीम ने यद्यपि युधिष्ठिर के विचार से असहमति प्रकट की परन्तु अन्तत 'वय पञ्चाधिकं शतम्' आदि वाक्यांशों के द्वारा युधिष्ठिर ने सभी भाइयों को एकमत कर लिया और अर्जुन को इस कार्य के लिये भेजा। अर्जुन और गन्धर्वों का भयकर युद्ध हुआ। अन्ततोगत्वा अर्जुन ने चित्रसेन के चगुल से सुयोधन की मुक्ति दिलायी ॥ ४६ ॥

व्रीडाद्धितदीनमनाः स च गच्छन्ननशनाय वितनान मनः।
अथ सर्वस्वापितं न्यवेदयन्नमरशत्रवः स्वापे तम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—लज्जा के कारण दुःखी-मन सुयोधन ने जाते हुए, अपने मन में अनशन का विचार किया। इसके उपरान्त (निर्वेद के कारण) सब कुछ त्याग कर देनेवाले सुयोधन से दैत्यों ने स्वप्न में कहा।

व्याख्या—इस स्थान पर कवि ने कथा को अत्यन्त सक्षिप्त कर दिया है। दुर्योधन जब स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से वल्कल धारण कर उपवास के नियमों का पालन करने लगा तो पातालवासी दैत्य और दानवों ने सोचा कि हमारा पक्ष तो दुर्योधन के प्राणान्त होने से गिर जायगा। दैत्यों ने यज्ञकुण्ड में आहुति दी तो उसमे बड़ी ही अद्भुत 'कृत्या' जभाई लेती हुई प्रकट हुई। उसको दैत्यों ने दुर्योधन को लाने के लिये आज्ञा दी। जब कृत्या दुर्योधन को ले आयी तो दैत्यों ने उसे युद्ध के लिये उत्तेजित किया और कहा कि जो पुरुष आत्महत्या करता है वह अधोगति प्राप्त करता है। दैत्यों के उपदेश के पश्चात् 'कृत्या' पुन दुर्योधन को उसके स्थान पर ले आयी। दूसरे दिन जागने पर दुर्योधन ने इस सारे प्रसंग को एक स्वप्न समझा ॥ ४७ ॥

प्राप्नुहि मानाशयता श्रद्धा राज्ये नरेन्द्र मा नाशय ताम्।
तव हि सहायाः स्यामः स्वयं रणे च त्वया सहायास्याम: ॥ ४८ ॥

अनुवाद—आप मानाशयता को प्राप्त करें तथा हे राजेन्द्र! आप राज्य

प्रति अपनी उस श्रद्धा का त्याग न करें। निश्चय ही हम आपकी मदद करेंगे और युद्ध में आपके साथ हम स्वयं आवेंगे।

व्याख्या—स्वप्न में दैत्यों ने दुर्योधन से कहा कि आप शोक मत करें और राज्य के प्रति निराश न हों। आपकी मदद के लिये हम आपके साथ हैं जिस प्रकार देवता सदा पाण्डवों के साथ हैं ॥ ४८ ॥

इति सुरसे नाकलये निगदति ससत्कमानसेनाकलये।
स्नेहादसुरसमूहे पुनरसुना हृदयमुद्यदसुरसमूहे ॥ ४९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार आकाशस्थ (नाकलये) सुरस असुरसमूह के, संमत्कमानवती सेना के युद्ध के लिये, कह चुकने पर अर्थात् परामर्श दे चुकने पर दुर्योधन ने भी उदित होनेवाले प्राणधारणरस से पूर्ण हृदय को धारण किया।

व्याख्या—जब दुर्योधन ने दैत्यों से इस प्रकार की आशाजनक बात सुनी तो उसके मन मे पुनः प्राण-धारण करने की इच्छा जागृत हुई। उसने पाण्डवों के साथ युद्ध करने का पक्का विचार किया और सेना के साथ हस्तिनापुर की ओर चल पड़ा ॥ ४९ ॥

तदनु करिपुरायातः सुयोधनस्त्यक्तनाकरिपुरायातः।
मानसमापद्यज्ञ दधत्ततः पौण्डरीकमापद्यज्ञम् ॥ ५० ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त नाकरिपुओं (दैत्यों) को त्याग कर सुयोधन हस्तिनापुर आया (करिपुरायातः) और आपत्काल में मूढ़-मन को धारण करनेवाले दुर्योधन ने पौण्डरीक-यज्ञ किया।

व्याख्या—कर्ण के दिग्विजय कर चुकने के उपरान्त दुर्योधन का वैष्णव या पुण्डरीक-यज्ञ सम्पन्न करने का वर्णन भी महाभारत में आया है ॥ ५० ॥

तस्माद्दवलेऽपेते शौरिं पार्थाश्च विदलदवलेपे ते।
काम्यकमापन्नार्या युक्ताः शक्त्या नितान्तमापन्नार्योः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—उस स्थान से चूर हुए घमण्डवाले तथा बलरहित शत्रु-दुर्योधन के चले आने पर, वे पाण्डव और श्रीकृष्ण, नारी द्रौपदी के साथ सदैव यथाशक्ति साधुओं की रक्षा करते हुए काम्यक वन में पहुँचे।

व्याख्या—द्वैतवन को छोड़कर अब पाण्डव काम्यक वन आये। उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी थे जो द्वैतवन में दुर्वासा ऋषि से पाण्डवों की रक्षा करने के लिये आये थे। इसके पश्चात् वे अनुमति लेकर द्वारिकापुरी को चले गये ॥ ५१ ॥

तत्र सदारावेषु भ्रमत्सु मृगयाकृते सदारावेषु।
उटजमवापापायस्थितमेषां सैन्धवो युवा पापाय॥ ५२॥

अनुवाद—देवदारु आदि से युक्त (सदारौ) इस वन में शिकार के लिये सिंहनाद-सदृश उन पाण्डवों के विचरण करते समय (जयद्रथ के) विनाश (अपाय) के लिये निर्मित कुटिया के समीप (द्रौपदी के प्रति) पाप व्यवहार के लिए सिन्धुदेश का राजा जयद्रथ पहुँचा।

व्याख्या—जब पाँचों पाण्डव शिकार के लिये वन में चले गये तो जयद्रथ, वृद्धक्षत्र का पुत्र तथा सिन्धुदेश का राजा, जो विवाह की इच्छा से साल्वदेश की ओर आ रहा था, आश्रम के समीप आया जहाँ पर दरवाजे पर पाण्डवों की प्यारी पत्नी द्रौपदी खड़ी थी। जयद्रथ की दृष्टि उस पर पड़ी। उसके सौन्दर्य को देखकर उसके मनमें बुरे विचार उठने लगे और वह काम से मोहित हो उठा॥ ५२॥

टिप्पणी—'उटज' के लिये कवि ने 'अपायस्थितम्' विशेषण का प्रयोग किया है क्योंकि आगे चलकर इसी उटज के कारण जयद्रथ का विनाश होनेवाला है॥ ५२॥

स द्रुपदस्य सुतां तां ददर्श चकमे च भयमुदस्य सुतान्ताम्।
भर्तो सौवीराणां हृत्वा च गतः प्रियामसौ वीराणाम्॥ ५३॥

अनुवाद—उस जयद्रथ ने (वनवास के कारण) खिन्न उस द्रुपद-पुत्री को देखा और भय त्यागकर उसकी इच्छा करने लगा। सौवीर-देश का स्वामी वह जयद्रथ वीर-पाण्डवों की प्रिया को हरकर चल पड़ा।

व्याख्या—पहले तो जयद्रथ ने द्रौपदी के सामने विवाह की अपनी इच्छा प्रकट की। जब द्रौपदी ने उसकी इस बात पर उसे खूब धिक्कारा तो उसने जबरदस्ती उसे अपने रथ पर बैठा लिया॥ ५३॥

तमनुससारासन्तं भीमो जगृहे च शिरसि सारासं तम्।
अशनैरप्रीतस्य व्यधित शिखाः पञ्च च क्षुरप्री तस्य॥ ५४॥

अनुवाद—भीमसेन ने दुष्ट जयद्रथ का पीछा किया और हुङ्कार के साथ उसकी शिर की जटाओं को पकड़ लिया। भीम ने तुरन्त ही व्याकुल होते हुए उस जयद्रथ के बालों को अर्धचन्द्राकार बाण से काटकर उसके पाँच चोटियाँ रख दीं।

व्याख्या—जब पाण्डव वन से लौट रहे थे तो उन्हें मार्ग में बहुत से अपशकुन होने लगे। आश्रम पर द्रौपदी की दासी रो-रही थी। उसने सारी बात पाण्डवों को बतलाई। चलते समय भीम को युधिष्ठिर ने यह आज्ञा दी थी

कि 'दुःशला का ख्याल रखना। उसे जान से मत मारना।' अतः भीम ने जयद्रथ के लम्बे-लम्बे बालों को अर्धचन्द्राकार बाण से मूँडकर पाँच चोटियाँ रख दीं। इस प्रकार उसे अपमानित किया ॥ ५४ ॥

विकृताकार भीतं सैन्धवमवबध्य स कटकारम्भी तम्।
रणरणकाशमनैषी द्रौपद्या नरपतेः सकाशमनैषीत् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—चढ़ाई करनेवाले (कटकारम्भी) तथा द्रौपदी की व्याकुलता को शान्त करने के इच्छुक भीम, भयभीत तथा धूलि-धूसरित शरीरवाले उस जयद्रथ को बांधकर राजा युधिष्ठिर के पास ले गये।

व्याख्या—घूँसों और लातों के प्रहार से जयद्रथ धूल में लथपथ और अचेत सा हो गया था। भीम ने उसे बांधा और उठाकर अपने रथ पर डाल दिया ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—'रणरणकाशमनैषी' पद का अर्थ 'द्रौपदी की व्याकुलता को, जो बलात्कार से उत्पन्न हुई थी, शान्त करने का इच्छुक' किया गया है। वैसे 'रणरणक' पद का अर्थ शब्दकोष में कामदेव भी किया गया है। कामदेव अर्थ मानने पर 'जयद्रथ के कामदेव को शान्त करने का इच्छुक' अर्थ करना पड़ेगा। दोनों ही अर्थ समीचीन और उपयुक्त हैं ॥ ५५ ॥

सं कृतदु सहजायाश्रममपि भर्तारमतिमृदुःसहजायाः।
सैन्धवमनुनयमानं पाण्डुतनूजो मुमोच मनुनयमानः ॥ ५६ ॥

अनुवाद—राजा मनु के समान नीतिमान्, मानी और अतिमृदु पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर ने पत्नी के प्रति (हरणरूप) असहनीय अपराध को करनेवाले भगिनी (दुःशला) के पति को भी सान्त्वना देते हुए छोड़ दिया।

व्याख्या—कवि ने प्रत्येक स्थान पर युधिष्ठिर को दयालु और क्षमावान् प्रदर्शित किया है। उनकी विजय, उनकी क्षमाशीलता, दानवीरता या त्याग-तपस्या में निहित है। जयद्रथ ने यद्यपि घोर अपराध किया था पर उसे भी युधिष्ठिर ने थोड़ा ही माना। यदि वे उसका वध करवा देते तो उनकी भगिनी दुःशला को वैधव्य-जीवन बिताना पड़ता। अतः अति कोमल-स्वभाव राजा युधिष्ठिर ने उसका ध्यान करके जयद्रथ को उतनाही अपमानित व भर्त्सित करना उचित समझा। महाभारत में भीम से वे इसी कारण कहते हैं—

'न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि हि सैन्धवः।
दुःशलामपि सस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम्' ॥ ५६ ॥

सोऽपि विभा वैरस्य स्मरणात्पार्थैर्महानुभावैरस्य।
अमजत कृतिमानीशं को लभते द्विपति दैन्यकृति मानी शम् ॥५७॥

अनुवाद—उस निस्तेज जयद्रथ ने भी महानुभाव पाण्डवों के साथ वैर का स्मरण करके शीर्वकर की उपासना की। शत्रु के दैन्योत्पादक होने पर भला स्वाभिमानी पुरुष कल्याण (शान्ति) प्राप्त कर सकता है ?

व्याख्या—पाण्डवों से पराजित और अपमानित होने के कारण जयद्रथ बहुत दुःखी हुआ अतः बन्धन से मुक्त होने के बाद अपने निवास-स्थान को न जाकर वह हरिद्वार गया और वहाँ पर भगवान् शंकर की शरण होकर उसने कड़ी तपस्या की। जयद्रथ की कड़ी तपस्या करने के कारण की पुष्टि कवि ने अर्थान्तर न्यास के द्वारा की है। जब कोई शत्रु दुःखदायी बन जाये तो भला दूसरे राजा को शान्ति कैसे मिल सकती है। पाण्डव जयद्रथ की दीनता के कारण बने अतः जब तक वे जीवित रहेंगे तब तक उसे अपने जीवन में शान्ति नहीं मिल सकती। इसी कारण उनके विनाश की प्रार्थना के साथ उसने शंकर की उपासना करनी प्रारम्भ की ॥ ५७ ॥

अपि वनमाराधीमान्रोद्धुं पार्थान्सुरोत्तमाराधीमान् ।
निजपुरमुत्सवि विश्वान्सुहृदश्च ह्लादयन्समुत्स विविश्वान् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—शंकर की आराधना करनेवाला वह बुद्धिहीन (अधीमान्) जयद्रथ इन पाण्डवों के नाश के लिये वन भी गया। और फिर उसने सहर्ष अपने सारे मित्रों को आनन्दित करते हुए उत्सवयुक्त अपने नगर में प्रवेश करने की इच्छा की।

व्याख्या—शंकर की आराधना के लिये जयद्रथ वन गया। उसे 'अधीमान्' इसलिये कहा गया क्योंकि पाण्डवों को कोई भी नहीं मार सकता और वह उन्हीं के नाश के लिये प्रार्थना कर रहा था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर जब प्रकट हुए तो उन्होंने उससे केवल इतना ही कहा कि केवल एक दिन तुम अर्जुन को छोड़कर शेष चार पाण्डवों को युद्ध में पीछे हटा सकते हो। अर्जुन पर तुम्हारा वश इसलिए न चलेगा क्योंकि वे देवताओं के स्वामी नर के अवतार हैं तथा श्रीकृष्ण सदा उसकी रक्षा किया करते हैं ॥ ५८ ॥

तस्मिन्नाश्वपयाते चम्वा सह निहतकेतनाश्वपया ते ।
विपिनमनररम्यं तद् द्वैतवनमुपेत्य पुनररम्यन्त ॥ ५९ ॥

अनुवाद—नष्ट हुई ध्वजाओं और घुड़सवारों वाली सेना के साथ उस जयद्रथ के शीघ्र ही चले जाने पर, वे पाण्डव गन्धर्व और किन्नरादियों से रमणीय द्वैतवन में आकर पुनः रमण करने लगे।

व्याख्या—युधिष्ठिर ने जयद्रथ को क्षमा करके उसको सेना के साथ भेज

दिया। वह जब चला गया तो वे लोग पुनः काम्यक वन छोड़कर द्वैतवन में निवास करने लगे। पूर्वोक्त गन्धर्व और किन्नरादि के निवास से यह द्वैतवन अत्यन्त रमणीय लग रहा था॥ ५९॥

इति स महानावसता वनमेषां तिष्ठता च ह्यानावसताम्।
शनकैरागमदन्त समयो नमता च जनमरागमदं तम्॥ ६०॥

अनुवाद—इस प्रकार वन में निवास करते हुए तथा दुष्टों के दमन में लगे हुए एवं राग तथा मद से रहित साधुजनों को प्रणाम करने वाले इन पाण्डवों का महान् (१२ वर्ष का) समय शनैः शनैः समाप्त हुआ।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि वासुदेव ने वनवासी पाण्डवों की वनवासावधि का उपसंहार उनके गुणों की व्याख्या करते हुए किया है॥ ६०॥

दृष्ट्वा सत्येनसि तान्पार्थान्क्षमिणश्च रिपुषु सत्येन सितान्।
मुदमधिकामायासीद्धर्मस्तेषां रतश्च कामायासीत्॥ ६१॥

अनुवाद—सत्य से बंधे हुए तथा पाप होने पर भी शत्रुओं के प्रति क्षमावान् उन पाण्डवों को देखकर धर्म अत्यन्त प्रसन्न हुआ और पाण्डवों के अभिलाष (पूर्ति) के लिये यत्नशील रहने लगा।

व्याख्या—पाप या अपराध करने पर भी पाण्डव जयद्रथ जैसे राजा को क्षमा कर देते थे तथा अपने वचनों का पालन करते थे। उनके इन गुणों से धर्म प्रसन्न हुआ और उनके मनोरथ की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील रहने लगा। धर्म की परीक्षा लेने के लिये मृग का रूप धारण कर ब्राह्मण की अरणि लेकर भागने की कथा कवि आगे निबद्ध करता है॥ ६१॥

टिप्पणी—'सितान्' का अर्थ 'बद्धान्' किया गया है क्योंकि 'षिञ्' धातु का प्रयोग बन्धन के अर्थ में किया जाता है॥ ६१॥

स विचारी क्षान्तेषु प्रयोक्तुकामाः प्रभुः परीक्षां तेषु।
अहरत सारङ्गत्वाद् द्विजस्य भाण्ड मुदः प्रसारं गत्वा॥ ६२॥

अनुवाद—सदसद्विचारी वह धर्म, क्षमाशील उन पाण्डवों की परीक्षा लेने की इच्छा से, प्रसन्न होकर, मृग रूप से ब्राह्मण के भाण्ड (अरणि-युग्म) को लेकर भागा।

व्याख्या—धर्म ने पाण्डवों में अपनी श्रद्धा की परीक्षा लेने की भावना से मृग का रूप धारण किया और अग्निहोत्र के लिये तय्यार किसी ब्राह्मण का अरणि सहित मन्थन-काष्ठ लेकर भागा॥ ६२॥

टिप्पणी—महाभारत में कथा आयी है कि जब चारों भाइयों सहित

युधिष्ठिर अपने आश्रम पर बैठे हुए थे तब एक ब्राह्मण घबराया हुआ युधिष्ठिर के पास आकर बोला 'राजन् ! मैंने अरणी के सहित अपना मन्थन-काष्ठ पेड़ पर टाँग दिया था। उसमें एक मृग अपना सींग खुजाने लगा, इससे वह उसके सींग में फँस गया। यह विशाल मृग चौकड़ी भरता हुआ उसे लेकर भाग गया। सो आप उसके खुरों के चिह्न देखते हुए उसे पकड़िये और मन्थन-काष्ठ ला दीजिये, जिससे मेरे अग्निहोत्र का लोप न हो' ॥ ६२ ॥

विप्रवरारण्यन्ते विविशु पार्था महत्तरारण्यं ते।
कृतशरतोदा वेगादन्तर्धानं मृगस्ततो दाविऽगात् ॥ ६३ ॥

अनुवाद—शरों से वध करनेवाले वे पाण्डव विप्रवर के अरणि-युग्म के लिये महान् अरण्य में घुस गये। इसके बाद वह मृग तुरन्त ही वन में अन्तर्धान हो गया।

व्याख्या—विप्रवर की बात सुनकर युधिष्ठिर को बहुत दुःख हुआ अतः अपने भाइयों सहित वे धनुष लेकर मृग के पीछे चले। उन भाइयों ने मृग को बींधने का बहुत प्रयास किया परन्तु देखते-देखते वह उनकी आँखों से ओझल हो गया ॥ ६३ ॥

तत्र च पानीयार्थं जह्यात्रभीष्ट नृपोऽनुपानीयार्थम्।
भ्रातॄस्तापात्यन्तग्लानास्ते चापि भगवतापात्यन्त ॥ ६४ ॥

अनुवाद—फिर वहाँ पर राजा युधिष्ठिर ने अभीष्ट वस्तु (मृग) को न प्राप्त कर ताप (गर्मी) के कारण अत्यन्त ग्लान अपने चारों भाइयों को (क्रमशः) पानी लाने के लिये भेजा। वे चारों भाई यक्ष-रूपधारी भगवान् धर्म के द्वारा भूमि पर गिरा दिये गये।

व्याख्या—महाभारत के वन-पर्व में यह आख्यान सविस्तार देखा जा सकता है। भूख-प्यास से शिथिल होकर पाण्डव जब वट वृक्ष की छाया में बैठ गये तो पानी लाने के लिये युधिष्ठिर ने सर्वप्रथम नकुल को भेजा। नकुल जैसे ही जलाशय पर पहुँचे वैसे ही आकाशवाणी हुई कि पहले मेरे नियम के अनुसार मेरे प्रश्नों का उत्तर दो उसके बाद जल पीना और ले जाना। परन्तु प्यास के कारण नकुल ने उस आकाशवाणी की अवहेलना की और जैसे ही जल पीने झुके वैसे ही वे पृथिवी पर गिर पड़े। विलम्ब होने पर युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा पर उत्तर दिये बिना जल पीने के कारण वह भी भूमि पर गिर पड़े। इसी प्रकार चारों भाई धराशायी हो गये ॥ ६४ ॥

गत्वासमन्ता तं प्रश्नानामुत्तरैः प्रसन्नं तातम्।
कृत्वा नीरेऽपास्तानजीवयद्धर्मजोऽथ नीरेपास्नान् ॥ ६५ ॥

अनुवाद—शत्रुओं को झुका देनेवाले तथा निष्पाप (नीरेपाः) धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने स्वयं जाकर प्रश्नों के उत्तरों से अपने पिता धर्म को प्रसन्न करके जल में गिरे हुए अपने भाइयों को पुनः जीवित किया।

व्याख्या—जब महाराज युधिष्ठिर ने देखा कि उनके भाइयों के गये बहुत विलम्ब हुआ पर वे अभी तक लौट कर नहीं आये तब वे जलाशय के तट पर स्वयं पहुँचे और वहाँ पर उन्होंने अपने भाइयों को मरा हुआ पाया। जब वे जल में उतरने के लिये तैयार हुए तो एक विशाल काय यक्ष वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ दिखलाई पड़ा और युधिष्ठिर से भी उसने वही बात कही। युधिष्ठिर ने उसके सारे प्रश्नों के यथोचित उत्तर दिये जिन्हें सविस्तार महाभारत में देखा जा सकता है।

यह यक्ष और कोई नहीं अपितु युधिष्ठिर के पिता धर्मराज थे उन्हें देखने के लिये आये थे। उनकी कृपा से युधिष्ठिर ने ब्राह्मण की अरणि-युग्म को प्राप्त किया और अपने भाइयों को पुनरुज्जीवित किया ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—'रेपस्' शब्द पाप के अर्थ में प्रयुक्त होता है। नीरेपाः निर्गतं रेपः कल्मषं यस्मात् स तादृक् (युधिष्ठिरः) ॥ ६५ ॥

> धर्मे रन्ता तेन प्रीतेन च लम्भितो वरं तातेन।
> तत्र च जातावरणे राजा चक्रेऽर्पणं द्विजातावरणेः ॥ ६६ ॥

अनुवाद—धर्म में रमण करनेवाले राजा युधिष्ठिर ने अपने प्रसन्न-पिता धर्म से वर प्राप्त किये और फिर धर्म के अन्तर्हित होने पर (जातावरणे) युधिष्ठिर ने ब्राह्मण को अरणि-युग्म समर्पित कर दी।

व्याख्या—'जातावेकवचनम्' के अनुसार सदैव की भाँति कवि ने यहाँ पर भी 'वरान्' के स्थान पर 'वरं' का प्रयोग किया है। युधिष्ठिर को धर्म ने कई वरदान दिया। प्रथम अरणि-युग्म प्रदान, दूसरा अज्ञातवास में यथारुचि रूप धारण करने की शक्ति, तीसरे तप और सत्य में सदा मन की प्रवृत्ति ॥६६॥

> तदनु गतासु समासु द्वादशसु वनान्तखेदितासु समासु:।
> विप्रमदसि चापास्ते शमीतरुण्यस्तविलसदसिचापास्ते ॥ ६७ ॥
> स्मृतकुरुराजद्वेषा रूपान्तरधारिणो विराजद्वेषाः।
> प्राप्तविराटोपान्ताः पाण्डुसुता रेमिरे पराटोपान्ताः ॥ ६८ ॥

अनुवाद—तदनन्तर वन में खेद उत्पन्न करनेवाले बारह वर्षों के बीत जाने पर तथा विप्रों की सभा के विसर्जित हो जाने पर शत्रुओं के आडम्बर को नाश करनेवाले उन पाण्डवों ने शमी-वृक्ष पर अपने खड्ग और धनुष को रखकर कुरुराज दुर्योधन-कृत अपमानादि रूप द्वेष का स्मरण करते हुए, अन्य

रूप धारण करके तथा तदुचित वेष से सुशोभित होकर विराट के समीप जाकर वहीं (विराट-नगर में) निवास किया।

व्याख्या—युधिष्ठिरादि ने मत्स्य देश के राजा विराट का आश्रय लिया क्योंकि वह उदार, धर्मात्मा और वृद्ध थे तथा साथ ही पाण्डवों पर प्रेम भी रखते थे। विराट नगर में वे भिन्न-भिन्न रूप धारण कर रहने लगे जिनका वर्णन कवि ने आगे के श्लोकों में अत्यन्त ही मनोरम शैली में किया है। विराट की सभा में युधिष्ठिर 'कंक' नामक ब्राह्मण बनकर रहने लगे जिनका काम राजा तथा मंत्री आदि को पासा खिलाकर प्रसन्न रखना था। भीमसेन ने 'बल्लव' नामक रसोइये का रूप धारण किया। अर्जुन अन्तःपुर की स्त्रियों को संगीत और नृत्य-कला की शिक्षा देनेवाले 'बृहन्नला' बने। नकुल ने 'ग्रन्थिक' नाम रखकर अश्वपाल का कार्य संभाला तथा सहदेव ने 'तन्तिपाल' नाम से विराट की गौओं के संभालने का कार्य लिया, रानी द्रौपदी ने 'सैरन्ध्री' नाम से विराट की महारानी की दासी के रूप में कार्य-भार संभाला ॥६७–६८॥

सत्यगिरा संन्यासस्थितया मूर्त्यारिमतानिरास्त्या स'।
अभृत सभास्ताराणां पतिरिव नृपतिर्धुरं सभास्ताराणाम् ॥ ६९ ॥

अनुवाद—राजा युधिष्ठिर ने सत्य वाणीवाले, संन्यासस्थित तथा अरिमत को न प्रकट करनेवाले शरीर से कान्तियुक्त होकर (सभा.) सभासदों (सभास्ताराणाम्) की अग्रता को उसी प्रकार धारण किया जिस प्रकार तारागणों का स्वामी चन्द्रमा (तारागणों में श्रेष्ठता धारण करता है)।

व्याख्या—राजा युधिष्ठिर ने 'कंक' नामक ब्राह्मण-शरीर धारण किया जो सत्यवादी था एवं संन्यास धारण किये था। राजा विराट की सभा में सभासदों के बीच वे चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ और कान्तिमान् थे ॥ ६९ ॥

असुहृद्दुरोघललोपिस्वबलो भूत्वा वृकोदरो बललोऽपि।
कर्म महानसमानं व्यधित विराटस्य धृतमहानसमानम् ॥ ७० ॥

अनुवाद—दुष्टों के उरोबल को नष्ट करनेवाले अपने बल के रहने पर भी, बलवान् व महान् वृकोदर ने अपने लिये अयोग्य, विराट के महानस कर्म (रसोई) को अपनाया।

व्याख्या—जैसा कि वर्णन आ चुका है भीम ने 'बल्लव' नाम से रसोइये का कार्य-भार सभाला। महाभारत में वर्णित है—

"पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम नामतः।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः॥
सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे ॥ ७० ॥"

दत्तरसं गीतानि क्लीबो भूत्वा तथैव संगीतानि।
रिपुराशिक्षयदस्य प्रिया सुतामर्जुनोऽप्यशिक्षयदस्य ॥ ७१ ॥

अनुवाद—उसी प्रकार अर्जुन भी नपुंसक बनकर, शत्रु-समूह के नाशक राजा विराट की प्रिय पुत्री को स्नेहपूर्वक नृत्य, गीत-वाद्यादि की शिक्षा देने लगे।

व्याख्या—अर्जुन के नपुंसक 'बृहन्नला' का रूप धारण करने का कारण यह था जिससे कि वह राजा के अन्तःपुर में बिना रोक-टोक आ जा सके। अर्जुन ने इसके लिये अपने कुण्डल उतार दिये तथा शिर पर चोटी गूँथी ॥ ७१ ॥

अपि च मृदुः स हयानां विततिं विनयन्विपक्षदुःसहयानाम्।
सुतरामवसन्नकुल प्रेष्यो भूत्वात्र निपुणमवसन्नकुलः ॥ ७२

अनुवाद—तथा मृदु और अत्यन्त अवसन्नकुलवाले माद्रीसुत नकुल ने विराट-नगर में सेवक बनकर विपक्षियों (शत्रुओं) के लिये असह्य-गति-विशेष वाली अश्वों की पंक्ति को शिक्षा देते हुए निवास किया।

व्याख्या—माद्रीसुत नकुल अश्वविद्या और उनकी चिकित्सा के विषय में निपुण थे। अतः 'ग्रन्थिक' नाम से वे विराट-नगर में अश्वों को शिक्षा देने लगे ॥ ७२ ॥

कर्माणि गोपालस्य स्थितिमकृत गवां गणानुगोऽपालस्यः।
तद्धटया सहदेवः साक्षाद्धातेव विद्यया सहदेव ॥ ७३ ॥

अनुवाद—निरालस्य सहदेव ने साक्षात् ब्रह्मा के समान गो-समूह के अनुचर के रूप में तद्घटित (चिकित्सादि) विद्या के साथ गोपाल के कार्य को सम्भाला।

व्याख्या—सहदेव आलस्य-रहित थे अतः उन्होंने अपने योग्य-गायों की संख्या, दोहन एवं चिकित्सादि—कार्य को अपनाया। इस समय सहदेव ने अपना नाम 'तन्तिपाल' रखा ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में सहदेव की उपमा 'धाता' से दी गयी है जिस प्रकार संसार को धारण करने के कारण ब्रह्मा को धाता कहा जाता है उसी प्रकार सहदेव ने भी गौओं के पालन-पोषण आदि कार्य को स्वीकार किया ॥ ७३ ॥

पृथवपुरे कपटेन द्रुपदसुता मात्स्यके पुरे कपटेन।
अधिगतराजनिशान्ता सैरन्ध्रीकर्मतत्पराजनि शान्ता ॥ ७४ ॥

अनुवाद—एक ही वस्त्र से अपने शरीर को आच्छादित करके द्रुपदसुता कृष्णा, विराट-नगर में (दासी-भाव) बहाने से राजा के अन्तःपुर में पहुँच कर शान्त भाव से सैरिन्ध्री कर्म (दासी-कर्म) में लग गई।

व्याख्या—भाग्य-चक्र की गति के अनुसार द्रौपदी को भी अन्य रूप धारण करना पड़ा। उसने अपने शरीर पर केवल एक ही वस्त्र धारण किया और अन्तःपुर में रानी की दासी बन गयी ॥ ७४ ॥

स्त्रीकुलमानसहासा पाञ्चालसुता परावमानसहा सा ।
स्त्रीवृन्दे व्याजहे विचरन्ती केशभृच देव्या जज्ञे ॥ ७५ ॥

अनुवाद—अपने मन में (अपने भाग्य पर) हँसती हुई तथा शत्रुओं के मान को न सह सकनेवाली पाञ्चाल-पुत्री द्रौपदी व्याजयुक्त-स्त्री-समूह में विचरण करती हुई विराट-महिषी की केशभृत् बन गयी।

व्याख्या—द्रौपदी का अपने मन में हँसने का कारण नितान्त स्पष्ट है। निश्चित ही इस निकृष्ट कार्य को करते समय उसे यह विचार आया होगा कि मैं ऐश्वर्य-सम्पन्न महिषी भाग्य के कुचक्र में फँसकर किस दशा को प्राप्त हुई हूँ। अत कभी-कभी अपनी इस दशा-विपर्यय पर उसे ग्लानि की भी अनुभूति होती ही होगी ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—'केशभृत्' का अर्थ केशों को सँवारनेवाली दासी है। द्रौपदी विराट राजा की पत्नी के बालों को सवारा करती थी। केशान् बिभर्ति धारयति पोषयति वा प्रसाधनादिकर्मणा इति केशभृत्। द्रौपदी इस कार्य में निपुण थी। अतः उसने राजा विराट से यह बहाना किया कि मैं राजा युधिष्ठिर के घर में द्रौपदी की परिचारिका थी और विशेष रूप से उनके बाल सवारा करती थी ॥ ७५ ॥

इति कृतनानाकृत्या विश्वास्य कुरूत्तमा जनानाकृत्या ।
संभृतसमवेतनया स्वैरं न्यवसन्पुरेऽत्र समवेतनयाः ॥ ७६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार अनेक प्रकार के कार्य करनेवाले तथा समवेत नीतिवाले पाण्डव अपनी आकृति से लोगों को विश्वास दिलाकर विराट नगर में एक साथ सेवा वृत्ति के द्वारा स्वेच्छानुसार रहने लगे।

व्याख्या—पाण्डवों ने जो भी महान् कार्य किये उसका एकमात्र रहस्य उनकी संगठन की भावना थी। वे एक साथ रहते व कार्य करते थे। अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को पूज्य मानकर उनकी आज्ञानुसार कार्य करना पाण्डवों का परम कर्तव्य था ॥ ७६ ॥

स्वर्गसमाने वसतः पुरे विराटस्य सुरसमानेव सत ।

स च नरदेवो धीमानथ वान्यो नैव जनपदेऽबोधीमान् ॥ ७७ ॥

अनुवाद—स्वर्ग-समान विराट नगर में रहते हुए साधु और देव-समान इन पाण्डवों को न तो बुद्धिमान् राजा जान सके और नहीं जनपद में कोई दूसरा ही व्यक्ति इनको पहचान सका।

व्याख्या—यक्ष के वरदान से पाण्डवों ने ऐसे स्वाभाविक-शरीर धारण कर रखे थे तथा वे अपने कार्यों को इतनी चतुरता से करते थे कि उन्हें कोई भी न पहचान सका। सभी लोग उनके कपट-वेष को वास्तविक मानने लगे ॥ ७७ ॥

तत्र निवाससमेतां कृष्णामैक्षिष्ट मलिनवाससमेताम्।
कीचकनामा नीचः श्यालो मत्स्यस्य दुर्मना मानी च ॥ ७८ ॥

अनुवाद—वहाँ पर (विराट नगर में) मत्स्य (देश) के राजा के अभिमानी तथा दुष्टात्मा कीचक नामधारी साले ने घर में रहनेवाली तथा मलिन वस्त्र धारण किये हुए इस द्रौपदी को देखा।

व्याख्या—कवि ने कीचक के लिये दुर्मना और मानी—इन दो विशेषणों का प्रयोग करके उसके चरित्र को प्रकट किया है। उसका मन मलिन था अतः द्रौपदी को देखकर उसने उससे अपनी पत्नी बनने के लिये आग्रह किया। विराट राजा का सेनापति होने के कारण वह स्वाभिमानी तो था ही। इस प्रकार इन दोनों ही चारित्रिक-दोषों के कारण वह यमपुरी को प्राप्त हुआ ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—विराट-देश का ही दूसरा नाम 'मत्स्य' था। जयपुर के आस-पास का भूभाग इस नाम से विख्यात था। इसमें अलवर भी शामिल था। इसकी राजधानी का नाम 'वेरात' था जो अब बारट के नाम से प्रसिद्ध है। यह जयपुर से ४० मील उत्तर की ओर है ॥ ७८ ॥

अवददनङ्गजलोऽलं स मनो दधतीममूमनङ्गजलोलम्।
भज वारिजनेत्रे मामनुयच्छ दृशं कृशोदरि जनेऽत्रेमाम् ॥ ७९ ॥

अनुवाद—काम से अत्यधिक जड़ वह (कीचक) संयत-चित्त धारण करनेवाली (अनङ्गजलोलं मनो दधती) द्रौपदी से बोला 'हे कमलनयने! तू मुझे भज। हे कृशोदरि! अपनी दृष्टि इस व्यक्ति पर डाल।'

व्याख्या—द्रौपदी के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर वह कीचक अत्यधिक काम-संतप्त हो गया था और उसने अपने होश-हवास भी खो दिये थे। पर द्रौपदी ठीक इसके विपरीत अपने सतीत्व का पालन कर रही थी। यदि कीचक का मन अनङ्गजल (ड) था तो द्रौपदी का मन

था। उस पापात्मा कीचक ने 'वारिजनेत्रे' आदि विशेषणों से द्रौपदी को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा और उससे प्रेम-प्रतिदान की इच्छा प्रकट की पर निष्कर्ष क्या निकला, पाठक इसे स्वयं आगे देखेंगे ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—'अनङ्गजल' पद में 'डलयोरैक्यात्' नियम से 'जड.' अनुवाद किया गया है। कवि ने इस प्रकार के प्रयोग अनेक-स्थलों पर, यमकालङ्कार की विशेषता को बनाये रखने के लिये ही, किये हैं ॥ ७९ ॥

न त्वं दासी तावद्विराजसे रूपसपदा सीतावत् ।
विरचितनानासान्त्वं भजन्तु तव दास्यमङ्गना नामां त्वम् ॥ ८० ॥

अनुवाद—हे वारिजनेत्रे ! एक तो तुम दासी नहीं मालूम पड़ती हो क्योंकि अपने रूपातिशय से तुम सीता के समान सुशोभित हो रही हो। (यदि तुम मुझे पति रूप में स्वीकार कर लोगी तो) सारी स्त्रियाँ तुम्हारी दासता को प्राप्त हो जाएँगी। नाना प्रकार से वे तुम्हारी चाटुकारिता में रत रहेंगी तथा तुमको इनकी दासी नहीं होना पड़ेगा।

व्याख्या—द्रौपदी एक राजमहिषी थी अत अपने रूप से वह दासी जैसी नहीं लगती थी। कीचक ने उसे सीता के समान बतलाकर पाठकों का मन बरबस ही द्रौपदी की पूर्व जन्म की कथा की ओर आकृष्ट किया है। सीता ही द्रौपदी के रूप में जन्मी थी यह कथा पुराणों में सविस्तार वर्णित है।

कीचक ने श्लोक की दूसरी पंक्ति में उसे प्रलोभन देकर अपनी पटरानी बनने का आमंत्रण दिया है। उसका कहना है यदि तुम मुझे स्वीकार कर लोगी तो तुम्हारी स्थिति नितरां परिवर्तित हो जायेगी। अभी तो तुम अन्य स्त्रियों की दासी हो फिर वे सारी स्त्रियाँ तुम्हारी दासी बन जावेंगी ॥ ८० ॥

जीवितमङ्ग जनोऽदस्त्यजत्यसौ दु सहोऽयमङ्गजनोद' ।
शिरसा याचे दयिते कालोऽयमनुग्रहे दया चेदयि ते ॥ ८१ ॥

अनुवाद—हे सुन्दरी ! यह व्यक्ति अपने प्राण-त्याग रहा है (क्योंकि) यह काम-सन्ताप दु सह (हो रहा) है। हे प्रिये ! मैं सिर झुकाकर तुम से प्रार्थना करता हूँ। हे प्रिये ! यदि तेरी दया हो तो यह समय ही (तेरे) अनुग्रह का है अर्थात् मैं काम-बाण से पीड़ित होकर अपने प्राण-त्यागने वाला हू। तुम्हारी दया का यही समय है। अत विलम्ब उचित नहीं।

व्याख्या—कीचक ने प्रस्तुत श्लोक में अत्यन्त दीन-भाव से प्रार्थना की है। अपनी विवशता दीन-स्थिति का हवाला देकर वह द्रौपदी को अपना

बनाना चाहता है। पर द्रौपदी तो पतिव्रता स्त्री है। भला वह उसकी इन चालों में कैसे आ सकती है ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—इष्ट व्यक्ति के आमन्त्रण में 'भद्र' पद का प्रयोग किया जाता है ॥ ८१ ॥

इत्थ सामारचितं शृण्वत्यपि शुद्धमानसा मारचितम्।
कृष्णा कीचकमेतं रावणमिव नैव जानकी चकमे तम् ॥ ८२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार काम के द्वारा उद्दिक्त कीचक की इन चाटूक्तियों को सुनते हुए भी उस शुद्ध-चित्त वाली द्रौपदी ने उस कीचक को उसी प्रकार नहीं चाहा जिस प्रकार सीता ने रावण को (कभी) नहीं चाहा।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने कीचक और द्रौपदी की उपमा रावण और सीता से देकर दोनों के आदर्शों को प्रकट किया है। जिस प्रकार रावण पर-स्त्री-लोलुप होने के कारण निन्दनीय वध्य था उसी प्रकार कीचक भी वध्य था। इसके अलावा कीचक तो पाठकों की दृष्टि में और भी अधिक नीच व गर्हित इसलिये भी हो जाता है क्योंकि ८० वें श्लोक में उसने स्वयं द्रौपदी को सीता के समान कहने पर भी अपनी विषय-लोलुपता प्रकट की है। यह जानने पर भी कि द्रौपदी सीता के समान साध्वी और पूजनीय है जो अपनी कामुकता प्रकट करे वह कितना नीच और कुत्सित हो सकता है, पाठक इसका अनुमान स्वयं कर सकते हैं ॥ ८२ ॥

अकृत च रामा सान्त्वं कीचक योग्योऽसि ननु गिरामासां त्वम्।
कः सुदृशं कामयते परकीयां पण्डितोऽत्र शङ्कामयते ॥ ८३ ॥

अनुवाद—द्रौपदी ने उसे ढाँढस बंधाया और कहा 'हे कीचक ! निश्चय ही तुम मेरे विषय में कहे गये इन वचनों के योग्य हो अर्थात् मेरे सम्बन्ध में तुमने जो कुछ कहा है, ठीक है परन्तु ऐसा कौन पण्डित होगा जो परस्त्री की कामना करेगा अर्थात् कोई नहीं। इस प्रकार के अकार्य में पण्डित सदैव शंका करते हैं'।

व्याख्या—द्रौपदी ने अपने को कीचक से छुड़ाने के लिए दूसरे तरीके का सहारा लिया। वह उसे शान्त करने लगी और बोली ठीक है। पर कोई भी पण्डित पर स्त्री की कामना नहीं करता क्योंकि वह ऐसे कार्य के भविष्य-फल के प्रति सदैव शंकित रहता है। तुम एक पण्डित हो अतः तुम्हें भी सोच-विचार कर कदम उठाना चाहिये। इस श्लोक में द्रौपदी ने कीचक की प्रशंसा के साथ-साथ प्रकारान्तर से उसकी भर्त्सना भी की है। यद्यपि मन में वह अच्छी प्रकार जानती है कि कीचक महामूर्ख एवं पापी है फिर भी

परिस्थिति के अनुकूल उसने इसी उपाय को अपनाना अपने लिये श्रेयस्कर समझा ॥ ८३ ॥

स्प्राक्षीर्मा कलये मां सुनिकृष्टां मम च जातिमाकलयेमाम् ।
यास्यसि शङ्के शकृति त्व कृमितां कामुको भृशं केशकृति ॥ ८४ ॥

अनुवाद—हे कीचक ! (मेरे पतिरूप गन्धर्वों के साथ) युद्ध के लिये तुम मेरा स्पर्श मत करो । मेरी नीच इस दासी-जाति का विचार करो । मैं समझती हूँ कि जो तुम मुझ केश सँवारनेवाली दासी के प्रति अत्यन्त कामुक हो रहे हो उसके कारण विष्ठा में कृमिता को प्राप्त करोगे ।

व्याख्या—द्रौपदी ने कीचक को अपने स्पर्श से दो कारणों से मना किया है प्रथम तो गन्धर्व उसके पति हैं अतः यदि उसने उसका स्पर्श किया तो निश्चय ही गन्धर्वरूप उसके पतियों से उसका युद्ध होगा और दूसरे वह नीच-जाति की है और कीचक राजा का साला अतः कीचक का उसे स्पर्श करना उचित नहीं । यदि उसने इन दोनों ही बातों की अवहेलना करके उसका स्पर्श ही किया तो द्रौपदी सम्भावना करती है कि वह (कीचक) विष्ठा में कृमिता को प्राप्त होगा ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है क्योंकि 'शङ्के' पद उत्प्रेक्षा का व्यञ्जक है—

'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृश' ॥

इसके अतिरिक्त 'कृमिता' पद में श्लेष से दो अर्थों की कल्पना की जा सकती है पहला नरक और दूसरा कृमित्व की स्थिति । एक 'परस्त्री के स्पर्श से नरकगामी होगे'—यह अर्थ सम्भावित है तो दूसरा 'पतियों के द्वारा युद्ध में मारे जाने के कारण विष्ठा में कृमि के समान लोटोगे'—यह अर्थ भी सम्भावित है ॥ ८४ ॥

पञ्च च मा रमयन्ते गन्धर्वाः सततं च मारमयन्ते ।
अविवेकी च करोषि त्वं तेषां हृदयमङ्ग कीचक रोषि ॥ ८५ ॥

अनुवाद—हे कीचक ! पाँच गन्धर्व मेरे साथ रमण करते हैं और हमेशा (मेरे साथ रमण करने की स्पर्धा से) प्रत्येक कलह (मार) करता है । हे कीचक ! (उनके भय से आतंकित) तुम अविवेकी उनके हृदयों को (ऐसा करके और भी अधिक) रोषान्वित कर रहे हो ।

व्याख्या—द्रौपदी ने इस श्लोक में गन्धर्वों का उल्लेख करके उसे भयभीत करना चाहा है । पाँचों गन्धर्व आपस में रमण करने की स्पर्धा से

कलह किया करते हैं। अतः ऐसी स्थिति में रमण के इच्छुक रुष्ठे तुम्हें जानकर और भी अधिक कुपित हो जाएँगे। अतः कीचक! तुम उन अज्ञेय-गन्धर्वों से डरो और मेरी प्राप्ति की अभिलाषा का त्याग कर दो॥ ८५॥

तैर्घटिता पञ्चत्वं यास्यसि हित्वा बलं प्रतापं च त्वम्।
कः क्षतरिपुमानेषु क्रुद्धेषु सुखं व्रजेदरिपुमानेषु॥ ८६॥

अनुवाद—हे कीचक! उन गन्धर्वों से भिड़ने पर तुम अपने बल और प्रताप को छोड़कर पञ्चत्व को प्राप्त हो जाओगे। शत्रुओं के मन को नष्ट करनेवाले इन गन्धर्वों के क्रुद्ध होने पर भला कौन शत्रु-पुरुष सुख प्राप्त कर सकता है अर्थात् उनसे विरोध करके कोई भी सुखी नहीं रह सकता।

व्याख्या—द्रौपदी ने कीचक को अनेक प्रकार से रोकने का प्रयास किया। यहाँ तक कि उसने उसे यह भी भय दिखलाया कि अगर तुम इस पाप-कर्म से विरत न हुए तो वे तुम्हें निश्चित ही मार डालेंगे क्योंकि अभी तक कोई भी दुश्मन उनके क्रोध से बच नहीं सका है॥ ८६॥

इत्थं सा मायन्तं कृष्णा कीचकमुदीय सामाद्यन्तम्।
जीवनहानसमापत्पतिता निशि मारुतेर्महानसमापत्॥ ८७॥

अनुवाद—इस प्रकार उस द्रौपदी ने कामुक कीचक को आद्योपान्त करके तथा आपत्ति को जीवन-मरण के समान आयी हुई मानकर रात्रि में भीम के महानस की शरण ली।

व्याख्या—जब द्रौपदी ने देखा कि यह आपत्ति तो किसी प्रकार टलने को ही नहीं तो विवश होकर वह भीम के चौके में रक्षा के लिये गई॥ ८७॥

बुद्ध्या सामयया च द्विषतो निधनं प्रयुज्य साम यया च।
स च भूमावधमस्य प्रतिजज्ञे सपदि समहिमा वधमस्य॥ ८८॥

अनुवाद—उस द्रौपदी ने सभीत बुद्धि से शत्रु के वध के लिये प्रार्थना की तथा उस महिमावान् भीम ने भी पृथ्वी पर नीच कीचक के वध की तत्क्षण प्रतिज्ञा कर डाली॥ ८८॥

स्थिरचित्तो हन्तास्मि त्यज शोकं शत्रुमविदितो हन्तास्मि।
विहितसमासंकेतं विषहेतन्मामृते समासं के तम्॥ ८९॥

अनुवाद—हे द्रौपदी! मैं स्थिर-चित्त हूँ। तुम शोक का त्याग करो। किसी के द्वारा न जाना गया मैं शत्रु कीचक को मारूँगा। सभा में (शत्रु-ध्वंस रूप) प्रतिज्ञा करनेवाले मेरे सिवा भला और कौन उस तेजस्वी कीचक को सहन कर सकेगा अर्थात् मैं ही उसका वध करूँगा।

व्याख्या—पाण्डव अभी एक वर्ष का अज्ञातवास कर रहे थे। अतः यदि वे किसी प्रकार जान लिये गये तो उन्हें १२ वर्ष का वनवास पुन. करना पड़ेगा। इसलिये भीम ने द्रौपदी को विश्वास दिलाया कि मैं कीचक को मारूँगा और मुझे कोई पहचान भी न सकेगा। भीम ने कीचक को मारने के लिये अपने को ही समर्थ व अधिकारी बतलाया है क्योंकि भरी सभा में उन्मद शत्रुओं के विनाश की प्रतिज्ञा उसी ने की थी ॥ ८९ ॥

इत्थ भीमोक्तारं कृष्णा मत्वा तमेव भीमोक्तारम्।
कीचकमसहायासा गत्वा प्रोवाच वचनममहाया सा ॥ ९० ॥

अनुवाद—इस प्रकार, भीम के द्वारा कही गयी द्रौपदी ने भीम को शीघ्र ही भय से छुटकारा दिलाने वाला समझा। असहनीय कष्टों का भोग करनेवाली तथा असहाय द्रौपदी कीचक के पास जाकर ये वचन बोली।

व्याख्या—द्रौपदी को भीम के बल और बुद्धि पर पूर्ण विश्वास था। भीम ने जब नीच कीचक के वध की प्रतिज्ञा की तो द्रौपदी को भी विश्वास हो गया कि अब मेरा सकट सदा के लिये समाप्त हो जायेगा। मिलन-सकेत बतलाने के लिये वह डरती हुई कीचक के पास गयी ॥ ९० ॥

अयि नलिनायतनेत्र क्षणदायामेहि नर्तनायतनेऽत्र।
अपि च यतस्वच्छन्नः सुखाय रद्यं यशो यतः स्वच्छ नः ॥ ९१ ॥

अनुवाद—हे नलिनायतनेत्र कीचक! रात्रि में इस नाट्य-गृह में आना और तुम छिपकर (सभोग) सुख के लिये यत्न करना जिससे हमारा स्वच्छ यश रक्षित रह सके।

व्याख्या—द्रौपदी ने कीचक को रात्रि में मिलने का स्थान भीम की योजनानुसार ही बतलाया है। प्रच्छन्न रूप से संभोग-सुख प्राप्त करने के पीछे अपने उद्देश्य को भी उसने स्पष्ट कर दिया है। उसका यश लोक में फैला हुआ है अत. इस प्रकार गुप्त रूप से रति-क्रीडा करने पर उसकी अपकीर्ति बाह्य-जगत् में न हो सकेगी ॥ ९१ ॥

इत्थ रागतमोदैर्नुन्न कृष्णावचोभिरागतमोदैः।
आत्मवधायापाय निशि नर्तनगेहमनरधायापायम् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार रागान्धकार प्रदान करनेवाले तथा हर्षित करनेवाले द्रौपदी के वचनों से प्रेरित हुआ यह कीचक अपने विनाश के लिये बिना कुछ समझे-बूझे रात्रि में नाट्य गृह गया।

व्याख्या—द्रौपदी के एकाएक प्रेम भरे वचनों ने कीचन के मन पर और

भी अधिक विषयान्धकार का पर्दा डाल दिया था। अतः उसके प्रेम में पागल वह किसी भी अनर्थ की कल्पना भला कैसे कर सकता था ॥ ९२ ॥

एषा सा कमनीति स्मयमानो मन्मथेन साकमनीतिः।
परिरम्भारम्भीमं पस्पर्श तत सरोषभारं भीमम् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर यह वही सैरन्ध्री है इस प्रकार सोचकर मुस्कुराते हुए उस नीतिरहित सकाम कीचक ने आलिङ्गन की इच्छा से रोष से भरे हुए उस भीम का स्पर्श किया।

व्याख्या—पाञ्चाली के साथ समागम होने की आशा से कीचक बड़े सज-धज के साथ नृत्यशाला में पहुँचा। उस समय वह भवन सब ओर अन्धकार से व्याप्त था। अतुलित पराक्रमी भीमसेन तो वहाँ पर पहले ही से अपनी योजनानुसार मौजूद थे और एकान्त शय्या पर लेटे हुए थे। दुर्मति कीचक वहाँ पहुँचा और आलिङ्गन की इच्छा से हाथ से टटोलने लगा। द्रौपदी के अपमान से भीम इस समय क्रोध से जल रहे थे। काम-मोहित कीचक उनके पास पहुँचकर उन्मत्त हो मुस्कुराकर नाना प्रकार से उसकी चाटुकारिता करने लग गया ॥ ९३ ॥

परिरम्भरतमसारं भीमो रोषेण रागभरतमसारम्।
व्यालोलं घनया त चिभेद मुष्ट्या विवेकलङ्घनयातम् ॥ ९४ ॥

अनुवाद—अत्यधिक विषयासक्ति के अन्धकार के कारण आलिंगन के लिये यत्नशील, शक्तिहीन, चंचल तथा विवेक का लघन करनेवाले उस कीचक को क्रोध के कारण अपनी दृढ़ घूँसों से मारा।

व्याख्या—कवि ने कीचक के लिये 'असार' विशेषण उसकी कामातिशयता को द्योतित करने के लिये ही प्रयुक्त किया है। वैसे वह भीम से किसी माने में कम शक्तिशाली न था। भीम ने उसकी कैसी कुगति की इसका अत्यन्त ही सुन्दर एवं रोमाञ्चकारी वर्णन महाभारत में किया गया है। भीम ने उसके अंगों को तोड़-मरोड़ कर मास का लौंदा बना दिया तथा उसकी ऐसी दुर्गति की कि उसके सारे अवयव शरीर में घुस जाने के कारण वह पृथ्वी पर निकाल कर रखे गये कछुए के समान जान पड़ता था। ९४ ॥

मदनमृदुः सहसादः किमित्युदस्यात्स चापि दुःसहसादः।
अकरोदुपलसमानां गन्धर्वधिया च मुष्टिमुपलसमानाम् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—मदन के कारण आर्द्रचित्त वह कीचक सहसा 'यह क्या हुआ' ऐसा आश्चर्य करते हुए दुःसह खेद के साथ उठ बैठा। तथा (अपनी) पत्थर के समान कठोर मुष्टि को, गन्धर्व के विचार से, भीम पर मारी।

व्याख्या—भीम के कठोर मुष्टि-प्रहार से कीचक के होश-हवास ठिकाने आ गये। उसे सैरन्ध्री द्वारा कही गयी गन्धर्वों की बात स्मरण हो आयी। अतः भीम को गन्धर्व ही समझकर उसने भी उस पर पत्थर के समान अपने कठोर घूँसों का प्रहार किया ॥ ९५ ॥

बलजितदेवचमूकौ बाहुभ्यामेत्य युगपदेव च मूकौ।
रुधिरैः सद्यो धौतौ युयुधाते तत्र तमसि सद्योधौ तौ ॥ ९६ ॥

अनुवाद—अपने बल से देवसेना को जीतनेवाले वे दोनों मूक सच्चे योद्धा तुरन्त ही रक्त से सने हुए अन्धकार में, एक बारगी बाहुयुद्ध करने लगे।

व्याख्या—महाभारत में वर्णन आया है कि महाबली भीम ने कीचक के पुष्पगुम्फित केश पकड़ लिये। कीचक भी बड़ा बलवान् था अतः उसने अपने केश छुड़ा लिये और बड़ी फुर्ती से दोनों हाथों से भीमसेन को पकड़ लिया फिर उन क्रोधित-पुरुष सिंहों में बाहुयुद्ध होने लगा।

दोनों ही योद्धाओं के मूक होने का कारण स्पष्ट है। कीचक गुप्त रूप से अपने यश की रक्षा करते हुए सैरन्ध्री के साथ काम-क्रीड़ा के लिये आया था अतः वह शोर नहीं मचा सकता था। उधर भीम का भी अज्ञातवास चल रहा था। यदि वह शोर मचाता तो उसका भेद खुल जाने का डर था। अतः दोनों ही वीर शान्तभाव से बाहुयुद्ध करने लग गये ॥ ९६ ॥

स हि पृथुकलितमसं तं कीचकमनल्पकलितमसन्तम्।
प्रममाथ रघुनाथ स्वबलेन दशाननं यथा रघुनाथः ॥ ९७ ॥

अनुवाद—उस भीम ने दुष्ट, महान् कलह-रूप अन्धकार से व्याप्त तथा उन्मद कीचक को अपने महान् बल से उसी प्रकार मार डाला जिस प्रकार रघुनाथ राम ने रावण को मार डाला था।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने यहाँ पर भीम और कीचक की उपमा राम और रावण से देकर वर्णन को अत्यन्त ही रोचक और सजीव बनाने का प्रयास किया है। अपने पूर्वोक्त वर्णनों के अनुसार वे द्रौपदी को सीता मान चुके हैं। अतः जिस प्रकार जगज्जननी सीता के सतीत्व को नष्ट करनेवाले रावण का वध राम ने किया था उसी प्रकार भीम ने भी कीचक का वध करके द्रौपदी के सतीत्व की रक्षा की। कवि की इस उपमा में कितनी सजीवता और मनोहरता है ॥ ९७ ॥

पिण्डं परमांसस्य प्रेयस्यै सम्प्रदर्श्य परमांसः स्वयः।
पुनरपि सदनायासौ भुजौ दधानो जगाम सदनायासौ ॥ ९८ ॥

अनुवाद—श्रेष्ठ स्कन्धोंवाले वह भीम अपनी प्रेयसी द्रौपदी को शत्रु के मांस-पिण्ड को दिखाकर, पुनः आयास-रहित भुजाओं को धारण किये हुए महानस-स्थान चले गये।

व्याख्या—कीचक को मारकर भीमसेन ने उसके हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि अंगों को पिण्ड के भीतर ही घुसा दिया। इस प्रकार उसके सब अंगों को तोड़-मरोड़ कर उसे मांस का लोंदा बना दिया और द्रौपदी को दिखाकर कहा 'पाञ्चाली जरा यहाँ आकर देख तो इस काम के कीड़े की मैंने क्या गति बनायी है। भीरु! जो कोई भी तुम्हारे ऊपर कुदृष्टि डालेगा, वह मारा जायेगा और उसकी यही गति होगी'॥ ९८॥

तदनु महासारा सा तत्कर्म जगाद परमहासारासा।
भयमलसोदर्येभ्यः कलयन्ती कीचकस्य सोदर्येभ्यः॥ ९९॥

अनुवाद—इसके पश्चात् अति श्रेष्ठ, अत्यधिक हासारास (शब्द) से पूर्ण तथा कृशोदरी द्रौपदी ने भय की चर्चा करते हुए कीचक के सगे भाइयों से पूर्व कर्म अर्थात् गन्धर्व के द्वारा कीचक की मृत्यु आदि, बतलाया।

व्याख्या—कीचक के वध से द्रौपदी को अपार हर्ष हुआ। वह प्रसन्नता के कारण ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी। अन्त में, उसने कीचक के अन्य भाइयों को बुलाकर गन्धर्व के द्वारा की गयी उसकी दयनीय दशा के दर्शन कराये॥ ९९॥

सततं यो मा मेति प्रत्याख्यातोऽपि निर्भयो मामेति।
पश्यत मयि कामस्य व्युष्टिं दुष्टस्य मरणमयि कामस्य॥ १००॥
इति कपिशालातलतः प्रोक्तः प्रययौ विशालशालातलतः।
जितनानामनुजानां तस्य समूहस्तरस्विनामनुजानाम्॥ १०१॥
(युग्मम्)

अनुवाद—'नहीं, नहीं' ऐसा मना करने पर भी जो हमेशा निर्भय होकर मेरा अनुसरण करता है, ऐ लोगो! तुम इस दुष्ट-पुरुष (कीचक) के अभिलाष (काम) की मरणरूप फल-सिद्धि को देखो। अर्थात् जो मेरा अनुसरण करता है उसका फल मरण ही होता है।

इस प्रकार विशाल नृत्य-शाला से द्रौपदी के द्वारा कहे जाने पर उस कीचक के बली तथा अनेक प्रकार के मनुष्यों को जीतनेवाला भाइयों का समूह (१०५ भाइयों) (हाथों में) कपिश वर्ण की मशालें लिये हुए (कीचक को देखने के लिये) आया।

व्याख्या—कीचक का वध कराकर द्रौपदी बड़ी प्रसन्न हुई। उसका

सारा सन्ताप शान्त हो गया। फिर उसने नृत्यशाला के अन्दर से ही कीचक के भाइयों को बुलाकर कहा 'देखो यह कीचक पड़ा है। यह बार-बार मना करने पर भी विषयासक्ति से मेरा पीछा किया करता था। मेरे पति गन्धर्वों ने इसकी यह गति बनायी है।' रात्रि के अन्धकार में अपने भाई कीचक को देखने के लिये शेष उपकीचक हाथों में मशाल लेकर नाट्य-शाला में पहुँचे॥ १००—१०१॥

प्राणसमानमुदस्त भ्रातरमवलोक्य मुक्तमानमुदस्तम्।
सूता रुरुदुः स्वचिता मिथा चितायां च निदधुरुरुदुःखचिताः॥१०२॥

अनुवाद—मान और दर्प-रहित सूत-पुत्र कीचक अपने प्राण के समान (प्रिय) भाई कीचक को पड़ा हुआ देखकर भयभीत होकर रोने लगे तथा महान् दुःख के साथ कीचक को दाह-संस्कार के लिये चिता पर रख दिया।

तस्या तदनुचितायां निदधुर्द्रुपदात्मजां तदनु चितायाम्।
सा सैरन्ध्री बन्धं करोद यस्या मनो न नीतावन्धम्॥१०३॥

अनुवाद—इसके पश्चात् उन उपकीचकों ने अपने भाई कीचक के साथ ही जलाने के लिये द्रौपदी को उसके अयोग्य चिता पर रखा। जिसका मन नीति के विषय में तमोयुक्त न था ऐसी वह द्रौपदी उपकीचकों के द्वारा बाँधी गयी, रोने लगी।

व्याख्या—जब उपकीचकों ने अपने भाई को अति दीन-दशा में पड़ा हुआ पाया तो सब द्रौपदी को ही उसकी मृत्यु का कारण बतलाने लगे। वे बोले 'इस दुष्टा को अभी मार डालना चाहिये, इसी के कारण कीचक की हत्या हुई है। अथवा मारने की भी क्या आवश्यकता, कामासक्त कीचक के साथ ही इसे जला दो, ऐसा करने से मर जाने पर भी सूत-पुत्र का प्रिय होगा।' यह सोचकर उन्होंने राजा विराट से कहा—'कीचक की मृत्यु सैरन्ध्री के कारण हुई है, अतः हम इसे कीचक के ही साथ जला देना चाहते हैं; आप इसके लिये आज्ञा दे दीजिए'। राजा ने सैरन्ध्री को जला देने की आज्ञा दे दी। उपकीचकों ने कृष्णा को पकड़ कर कीचक की रथी पर डालकर बांध दिया और रथी उठाकर मरघट की ओर चल पड़े। कृष्णा सनाथा होने पर भी सूतपुत्रों के चंगुल में पड़कर अनाथ की तरह विलाप करने लगी॥१०३॥

टिप्पणी—श्लोक के पूर्वार्द्ध में कवि ने द्रौपदी को जो चिता पर रखे जाने का उल्लेख किया है वह अतिरंजित है क्योंकि उसकी पुकार सुनकर भीम कीचकों के पहले ही मरघट पर पहुँच चुके थे और द्रौपदी को चिता पर रखने की नौबत नहीं आ सकी थी॥ १०३॥

प्राणसमारोदं स श्रुत्वोत्थाय श्मशानमारोदंसः।
तमसि च कालाभोऽगं बभञ्ज भीमो बलेन कालाभोगम् ॥ १०४ ॥

अनुवाद—प्राणों के समान (प्यारी) द्रौपदी के चिल्लाने को सुनकर (शय्या से) उठकर, उन्नत कंधोंवाले भीमसेन श्मशान की ओर चल पड़े तथा काल सदृश भीम ने अन्धकार में काले विस्तारवाले वृक्ष को जोर लगाकर उखाड़ लिया।

सपदि समानीतेन द्रुमेण भीमोऽकरोत्स मानी तेन।
विहितयमाननयाना विततिं द्विषता विहीयमाननयानाम् ॥ १०५ ॥

अनुवाद—उस स्वाभिमानी भीमसेन ने उखाड़े गये वृक्ष के द्वारा नीति-विहीन शत्रुओं के समूह को तत्क्षण ही यम-मुख प्राप्त कराया अर्थात् उन्हें मार डाला

व्याख्या—महाभारत में उल्लेख आया है कि द्रौपदी का करुण क्रन्दन सुनकर भीम परकोटा लाँघ कर सूतपुत्रों के पहले ही मरघट पहुँच गये। चिता के समीप उन्हें ताड़ के समान दस व्याम लम्बा वृक्ष दिखायी दिया। उसकी शाखायें मोटी-मोटी थी तथा ऊपर से वह सूखा था। उसे भीमसेन ने भुजाओं में भरकर हाथी के समान जोर लगाकर उखाड़ लिया और उसे कन्धे पर रखकर दण्डपाणि यमराज के समान सूतपुत्रों की ओर चल पड़े। भीमसेन को सिंह के समान क्रोधपूर्वक अपनी ओर आते देखकर सब सूतपुत्र डर गये और भय एवं विषाद से काँपने लगे तथा सैरन्ध्री को छोड़कर नगर की ओर भागने लगे। उन्हें भागते देखकर पवननन्दन भीमसेन ने उस वृक्ष से एक सौ पाँच उपकीचकों को यमराज के घर भेज दिया। इस प्रकार उन्होंने द्रौपदी को बन्धन से छुड़ाकर ढाढ़स बंधाया ॥ १०५ ॥

कीचकशतमस्तदयं भीमः संहृत्य कर्कशतमस्तदयम्।
स त्वरणे नागारेरधिकः सुप्तोऽभवत्क्षणेनागारे ॥ १०६ ॥

अनुवाद—वह अत्यन्त कठोर भीमसेन निर्दय भाव से सौ कीचकों को मारकर, शीघ्रता में गरुड़ से भी अधिक, क्षणमात्र में, रसोई घर में आकर सो गया।

व्याख्या—भीम का पवनपुत्र होने के कारण रसोई घर में शीघ्र ही पहुँच जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं ॥ १०६ ॥

मदनवशं सा चारं निपात्य मुदिता रिपुं नृशंसाचारम्।
द्रुपदसुता सश्लाभिः प्राप वधूभिः समर्चितासश्लाभिः ॥ १०७ ॥

अनुवाद—अत्यधिक काम के वशीभूत तथा क्रूर आचार वाले शत्रु का

वध कराकर प्रसन्न हुई सुन्दर नाभिवाली द्रौपदी, निकटवर्ती स्त्रियों के द्वारा पूजी गयी, अपने निवास-स्थान पर पहुँची।

व्याख्या—द्रुपद-सुता की निकटवर्ती स्त्रियों के द्वारा अर्चित होने का कारण स्पष्ट है। स्त्रियाँ उसे गन्धर्वों की पत्नी मानने लगीं थीं। अतः भय व आदर के साथ उसकी स्तुति करने लगी॥ १०७॥

प्राणसमानानिह तान्भ्रातृन्देवी प्रबुध्यमाना निहतान्।
अभवदुदासीनमना गन्धर्वभयेन दत्तदासीनमना॥ १०८॥

अनुवाद—(नगरवासियों के द्वारा) प्राणों के समान प्रिय भाइयों को मरा हुआ जान कर विराट-पत्नी सुदेष्णा उदासीन मनवाली हो गयी तथा गन्धर्वों के भय से दासी (द्रौपदी) को नमन करने लगी।

व्याख्या—अपने भाइयों के निधन से रानी सुदेष्णा को दुःख तो अवश्य हुआ पर द्रौपदी की यथार्थता जानकर वह कुछ भी न कर सकी। अन्ततः गन्धर्वों के भय से उसने द्रौपदी को प्रणाम किया॥ १०८॥

इति ते परतापरता न्यवसन् द्रुपदात्मजयात्मजयाद्दतया।
वसतौ न हि तानहिता विविदुर्नृपतावदधावधानवति॥ १०९॥

अनुवाद—इस प्रकार अपनी जय के कारण सम्मानित द्रौपदी के साथ, शत्रुओं को सन्तप्त करने में संलग्न वे पाण्डव विराट नगर में रहने लगे। अपनी सुगोपनावधि में युधिष्ठिर के सावधान रहने के कारण शत्रु-दुर्योधनादि पाण्डवों को न जान सके।

व्याख्या—कीचक-वध अज्ञात वास की अवधि की समाप्ति के तेरह दिन पूर्व हुआ था। युधिष्ठिर इस अवधि में अत्यन्त सावधान थे, अन्यथा पहचान लिये जाने पर बारह वर्ष का वनवास फिर भोगना पड़ता। परन्तु इस दशा में दुर्योधनादि शत्रु पाण्डवों का कथमपि पता न लगा सके॥ १०९॥

इति पञ्चम आश्वासः।

षष्ठ आश्वासः

अथ कुरुराष्ट्रादिष्टा गताश्चरा जगति धार्तराष्ट्रादिष्टाः ।
पार्थान्परमतिरोगानाययुरनवेद्य दत्तपरमतिरोगान् ॥ १ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर दुर्योधन (धार्तराष्ट्र) से आदेश प्राप्त कर प्रिय गुप्तचर हस्तिनापुर (कुरुराष्ट्र) से धरती पर (पाण्डवों को खोजने के लिये) गये । परन्तु शत्रुओं की बुद्धि को चिन्तारूप रोग प्रदान करनेवाले तथा अत्यन्त तिरोहित रहनेवाले पार्थों (पाण्डवों) को न पाकर वे (गुप्तचर) लौट आये ।

व्याख्या—कीचक-वध के उपरान्त, अज्ञातवास की अवस्था में पाण्डवों का पता लगाने के लिये दुर्योधन ने अनेक गुप्तचर भेजे थे, वे अनेकों राष्ट्र और नगरों में उन्हें ढूंढकर हस्तिनापुर में लौट आये ॥ १ ॥

ते तरसा कल्याय प्रणम्य राज्ञे समन्त्रिसाकल्याय ।
नष्टान्कक्षे पञ्च प्रोचुः पार्थांश्च कीचकक्षेपं च ॥ २ ॥

अनुवाद—उन्होंने, फुर्ती से, सारे मन्त्रियों के साथ बैठे हुए स्वस्थ राजा (दुर्योधन) को प्रणाम करके जंगल में पाँच पाण्डवों को नष्ट हुआ तथा कीचक-नाश को बतलाया ।

व्याख्या—जिस समय गुप्तचर राजसभा में पहुंचे, उस समय दुर्योधन के साथ महात्मा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, त्रिगर्तदेश के राजा सुशर्मा और दुर्योधन के भाई भी मौजूद थे। उन सबके सामने गुप्तचरों ने कहा 'राजन्! पाण्डवों का पता लगाने के लिये हम सदा ही प्रयास करते रहे, किन्तु वे किधर से निकल गये, यह हम जान ही न सके । हमने उनकी सर्वत्र खोज की, पर मालूम होता है वे बिल्कुल नष्ट हो गये, इसलिये अब तो आपके लिये मंगल ही मंगल है । हाँ, एक बड़े आनन्द का विषय है कि राजा विराट का महाबली सेनापति कीचक, जिसने कि अपने महान् पराक्रम से त्रिगर्तदेश को दलित कर दिया था, उस पापात्मा को उसके भाइयों सहित रात्रि में गुप्तरूप से गन्धर्वों ने मार डाला है' ॥ २ ॥

गां विशदाचाराणां श्रुत्वा दुर्योधनस्तदा चाराणाम् ।
भीष्माचार्यादीनां मध्ये गिरमभ्यधाद्विचार्यादीनाम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—उस समय स्वच्छ आचारवाले उन गुप्तचरों की बात सुनकर दुर्योधन भीष्मादि के बीच उदार वचन बोला ।

व्याख्या—दुर्योधन ने विचार किया कि पाण्डवों के अज्ञातवास के इस तेरहवें वर्ष में थोड़े ही दिन शेष हैं। यदि यह समाप्त हो गया तो सत्यवादी पाण्डव मदमाते हाथी के समान क्रोधातुर होकर कौरवों के लिये दुःखदायी हो जायेंगे। वे सभी समय का हिसाब रखनेवाले हैं, इसलिये कहीं दुर्विज्ञेय रूप में छिपे होंगे, इसलिये ऐसा उपाय किया जाये जिससे वे क्रोध पीकर फिर वन को चले जायें। ऐसा सोचकर उसने भीष्मादि के समक्ष अपनी योजना और विचार रखे ॥ ३ ॥

भीममृते नाशं के कुर्युर्भुवि कीचकस्य तेनाशङ्के।
कौन्तेयान्वासवतः पुरे विराटस्य दुर्जयान्वासवतः ॥ ४ ॥
तस्मात्तावद्यातस्त्रिगर्तो दिवसपरिणतावद्यानः।
सततं यैर्भवदागा हरतु विराटस्य पुष्टिवैभवदा गाः ॥ ५ ॥
मानीका यानपरे मात्स्ये रोद्धुं गवान्तिकायानपरे।
अद्रयुदितारुणधामस्फुरिते वयमपि समागता रणधाम ॥ ६ ॥
पार्था गोत्राणां ते व्यत्यासं बिभ्रतोऽपि गोत्राणान्ते।
ध्रुवमस्मानेष्यन्ति स्वात्मानं च प्रकाशमानेष्यन्ति ॥ ७ ॥
इति युद्धामोद्युक्तं प्राप्य सुशर्मा विराटधामोद्युक्तः।
कृतमुरुसंघोषेभ्यः कुलं गवामहृत सरभसं घोषेभ्यः ॥ ८ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

अनुवाद—इस पृथिवी पर भीम के सिवा कीचक का नाश भला कौन कर सकता है—इससे मैं समझता हूँ (मेरा अनुमान है) कि इन्द्र के द्वारा भी अजेय वे पाण्डव विराट नगर में ही निवास कर रहे होंगे।

इसलिये सन्ध्यासमय (दिवसपरिणतौ) आज त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा—'इससे सदा अपराध होते हैं,' यह कहकर—पुष्टि और वैभव प्रदान करनेवाली विराट की गायों को चुरा लावें।

मत्स्य-देश के राजा विराट के युद्ध के लिये प्रस्थान करने पर हम लोग भी सेना सहित, उदयाचल पर सूर्य के तेज के स्फुरित होने पर अर्थात् प्रातःकाल गायों के समूह को आकर रोक लेंगे।

नामों के विपर्यय (व्यत्यास) को धारण करने पर भी वे पाण्डव गायों की रक्षा के लिये निश्चित ही हम लोगों के पास आवेंगे तथा अपने को प्रकट कर देंगे।

इस प्रकार दुर्योधन के द्वारा कहा गया साहसी सुशर्मा युद्ध के लिये प्रसन्न हो विराट नगर में पहुँचकर साहस के साथ महान् शोर-गुल करनेवाली अहीरों की बस्तियों (घोष) से गायों के समूह को चुरा ले चला।

व्याख्या—कीचक जैसे पराक्रमी-सेनापति के वध से दुर्योधन सशङ्कित हो उठा। उसने कहा मत्स्य देश के शाल्ववंशीय राजा के सेनापति कीचक ने तंग किया है इसलिये हमलोगों को मत्स्य-देश पर चढ़ाई कर देनी चाहिये। उसने तय किया कि पहले महारथी सुशर्मा चढ़ाई करेंगे फिर दूसरे दिन प्रातः काल हमारा कूच होगा। वे ग्वालों पर आक्रमण करके विराट का गोधन छीन लेंगे उसके बाद हम भी अपनी सेना को दो भागों में विभक्त करके राजा विराट की एक लाख गायें हरेंगे। यदि पाण्डव छद्म वेष में वहाँ छिपे होंगे तो अवश्य ही गायों की रक्षा के लिये हमारे सामने आवेंगे क्योंकि वे दयालु और शरणागत रक्षक हैं। उनके सामने आने पर हम उन्हें अवश्य पहचान लेंगे और उन्हें पुनः १२ वर्ष का वनवास भोगना पड़ेगा।

दुर्योधन की इस योजना के अनुसार सुशर्मा ने अपने पूर्व वैर का बदला लेने के लिये त्रिगर्त देश के सभी रथी और पदाति वीरों को लेकर कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि के दिन विराट की गौएँ छीनने के लिये अग्निकोण से आक्रमण किया। उसने विराट की बहुत सी गौएँ कैद कर लीं। ग्वालों की बस्ती में हाहाकार मच गया॥ ८॥

बहुलासुदस्तासु क्षितिपाल' साश्वपशुपसूदस्तासु।
अनुगतवायसकङ्कः समं बलैरचलदाहवाय सकङ्कः॥ ९॥

अनुवाद—उन बहुत सी गायों के हर लिये जाने पर राजा विराट अश्व-वैद्यवेषधारी नकुल, गोवैद्यवेषधारी सहदेव, सूपकारवेषधारी भीम तथा कङ्क नामक ब्राह्मण-वेषधारी युधिष्ठिर को साथ लेकर अपनी सेना के साथ युद्ध के लिये चल पड़े। उनके पीछे-पीछे कौए और कङ्क पक्षी भी आमिष के लोभ से चल पड़े।

व्याख्या—सुशर्मा द्वारा गौओं का हरण देखकर राजा का प्रधान गोप बड़ी तेजी से नगर में आया और फिर रथ से कूदकर राजसभा में पहुँचकर राजा को प्रणाम करके कहने लगा 'महाराज! त्रिगर्त देश का राजा युद्ध में हमें परास्त करके आपकी एक लाख गौएँ लिये जा रहा है। आप उन्हें छुड़ाने का प्रबन्ध कीजिए' यह सुनकर राजा मत्स्य देश की सेना एकत्रित कर राजा सुशर्मा से युद्ध के लिये चल पड़े। इस समय तक छद्म-वेष में छिपे हुए अतुलित तेजस्वी पाण्डवों का तेरहवाँ वर्ष भलीभाँति समाप्त हो चुका था। राजा विराट ने अपने छोटे भाई शतानीक से कहा 'मेरा ऐसा विचार है कि कंक, बल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी बड़े वीर हैं। निस्सन्देह युद्ध कर सकते हैं। अतः इन्हें भी कवच दो।' इस प्रकार पाण्डव भी विराट के साथ युद्ध के लिये चल पड़े॥ ९॥

अथ शरमत्स्ये शबले मणिप्रभाभिस्त्रिगर्तमत्स्येशबले ।
प्रलयपयोधिसमेते मिलिते तिमिभीमचापयोधिसमेते ॥ १० ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त बाणरूपी मछलियोंवाली, मणिप्रभाओं से चित्रित तथा तिमि (मत्स्यविशेष) रूपी भयंकर धनुर्धारियों से व्याप्त, त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा और मत्स्येश विराट की सेनाएँ आपस में प्रलयकालीन पयोधि के समान मिलीं ।

टिप्पणी—कवि ने युद्ध-सेनाओं के वर्णन को साहित्यिक रंग से रंजित कर और भी मनोहर एवं हृदयग्राही बनाया है। उपमा और रूपक जैसे अर्थालंकारों के संयोग से श्लोक का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। सेनाओं की अपारता को प्रकट करने के लिये पाठकों के सामने कवि ने कल्पान्त समुद्र का उपमान ग्रहण किया है। भले ही इस प्रलयकालीन समुद्र का साक्षात्कार किसी ने न किया हो पर उसका भयंकर एवं आश्चर्यकारी स्वरूप पाठकों के मानस-पटल पर अनायास ही प्रतिबिम्बित हो उठता है। कवि का कहना है कि सुशर्मा और विराट की सेनाएँ कल्पान्त समुद्र से हर दृष्टिकोण से उपमेय थीं। जिस प्रकार समुद्र रत्न-कान्ति से चित्रित रहता है, उसी प्रकार सेनाएँ भी रथों और राजाओं की मणि-प्रभाओं से चित्रित हो रहीं थी। जिस प्रकार समुद्र में मत्स्य इतस्तत: संचारित हुआ करते हैं, उसी प्रकार सेना-समुद्र में बाण चलते फिरते नजर आ रहे थे। समुद्र में जैसे अनेक योजन विस्तीर्ण शरीरवाले तिमिनामक मत्स्य-विशेष निवास किया करते हैं वैसे ही बड़े-बड़े विशालकाय धनुर्धारी इस सेना-समुद्र में स्थित थे।

अलंकारों की दृष्टि से और भाव की सहज-संवेद्यता की दृष्टि से वास्तव में यह श्लोक अनूठा है ॥ १० ॥

तावद्दीप्रकराणां ज्वालानि दिवाकरस्य वै रक्तानि ।
रुधिरनदीप्रकराणां रणजनितानामिवास्त्रैरक्तानि ॥ ११ ॥

अनुवाद—इतने में सूर्य के उज्ज्वल किरणों के समूह, रण में उत्पन्न हुए रक्त-नदियों के समूह के प्रवाह से मानों सिंचित होकर लाल हो गये अर्थात् सूर्य अस्ताचलगामी हो गया।

टिप्पणी—अस्ताचलगामी सूर्य के प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में कवि ने अपनी जिस श्लाघ्य कल्पना का सन्निवेश इस श्लोक में किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि केवल चित्रकाव्य (यमकप्रधान) रचना में ही सिद्धहस्त नहीं अपितु अर्थालंकारों के सुभग-सन्निवेश तथा विचित्र-भङ्ग-भणिति जैसे काव्यात्मक गुणों का भी मर्मज्ञ है। सूर्य संन्ध्या-समय अस्ताचल की

ओर आ रहा है। उसकी किरणें स्वभावतः रक्तिम हो गयी हैं। पर कवि ने इस सहज वर्णन को उत्प्रेक्षा के द्वारा और भी अधिक हृदय-स्पर्शी बना दिया है। वह कहता है कि सेना में वीरों के रक्त की मानों नदियाँ बहने लगीं अतः उनमें स्नान करने के कारण सूर्य-किरणें मानों रक्तिम हो गयी हैं ॥ ११ ॥

अस्तगिरावर्यमणि स्कन्दति दीपस्थया धुरा वर्यमणिः।
स्थित उत्कटकान्तेषु प्रोतो राज्ञां किरीटकटकान्तेषु ॥ १२ ॥

अनुवाद—सूर्य (अर्यमा) के अस्ताचल चले जाने पर, राजाओं के अत्यन्त मनोहर किरीट-कटकों में स्थित श्रेष्ठ मणियाँ दीपक का कार्य करने लगीं।

व्याख्या—सूर्य के अस्त हो जाने पर भी रणभूमि में अन्धकार न छा सका क्योंकि राजाओं की मुकुट-जटित मणियाँ अन्धकार का नाश करने लगी लगीं ॥ १२ ॥

सत्स्वेव तमःस्वनयोर्मंदता रोषेण भैरवतमस्वनयोः।
उभयोरधिकं बलयोरजनि विमर्दो रजोभिरधिकम्बलयोः ॥ १३ ॥

अनुवाद—अन्धकार हो जाने पर भी, भीषण शब्द करनेवाली तथा धूलि से व्याप्त कम्बलवाली उन दोनों सेनाओं में अत्यधिक रोष से और भी अधिक संग्राम हुआ ॥ १३ ॥

अथ रिपुसंसद्धा स त्रैगर्त्त उपेत्य सरभसं सद्धासः।
मात्स्यमनात्सीदन्तं मानी न निनाय नियमनात्सीदन्तम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त शत्रु सभा का नाश करनेवाले तथा सुन्दर हासवाले त्रिगर्त देश के राजा सुशर्मा ने साहस के साथ मात्स्य देश के राजा विराट को बाँध लिया परन्तु बन्धन से कष्ट का अनुभव करते हुए विराट को उस गर्वीले त्रैगर्त ने मारा नहीं।

व्याख्या—विराट को जीवित ही बाँधकर ले जानेवाले सुशर्मा का विराट को जान से न मारने के पीछे उसकी उपेक्षा का भाव ही निहित था। वह 'मानी' था अतः उसने सोचा कि इस 'बेचारे' विराट को जान से मारने से क्या लाभ अतः इसे बाँधकर ही ले चलो ॥ १४ ॥

नितरां निशितान्तेन क्षतवपुषा शरशतेन निशि तान्तेन।
योद्धुं संनेहे न स्वामिनि बद्धे बलेन सन्नेहेन ॥ १५ ॥

अनुवाद—राजा विराट के बाँध लिये जाने पर रात्रि में अत्यन्त खिन्न,

तीक्ष्ण फलोंवाले सैकड़ों बाणों के द्वारा घायल शरीरवाली तथा शान्त चेष्टा वाली विराट की सेना पुनः युद्ध के लिये तय्यार न हो सकी।

व्याख्या—युद्ध में राजा या सेनापति के पराजित हो जाने पर अन्य सैनिकों का हताश व निराश हो जाना स्वाभाविक है। विराट के सेनानियों ने जब देखा कि उनके स्वामी को सुशर्मा बाँधकर लिये जा रहा था तो निराश हो जाने के कारण तथा बाणों से घायल हो जाने के कारण वे युद्ध में खड़े न रह सके॥ १५॥

तं तरसानुससार स्मयमानो वायुजोऽद्रिसानुससारः।
बद्ध्वा विद्विपमस्य क्षितिपं ररक्ष मोक्षविद्विपमस्य॥ १६॥

अनुवाद—संकट से मोक्ष दिलानेवाले तथा पर्वत के शिखर के समान दृढ़ वायुनन्दन भीम ने मुस्कुराते हुए, फुर्ती से, सुशर्मा का पीछा किया और शत्रु (सुशर्मा) को बाँधकर राजा विराट की रक्षा की।

व्याख्या—जब सुशर्मा विराट के रथ के दोनों घोड़ों को तथा अङ्गरक्षक और सारथि को मारकर विराट को जीवित ही पकड़ कर चलने लगा तो यह देखकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा 'महाबाहो! त्रिगर्तराज सुशर्मा महाराज विराट को लिये जा रहा है, तुम उन्हें झटपट छुड़ा लो, ऐसा न हो वे शत्रुओं के पंजे में फँस जाएँ।' युधिष्ठिर की आज्ञा से भीमसेन ने सुशर्मा का पीछा किया तथा अपने पैने बाणों से उसके घोड़े व अङ्गरक्षकों को मार डाला तथा सारथि को रथ पर से गिरा दिया। रथहीन हो जाने से सुशर्मा प्राण लेकर भागने लगा। भीम ने लपक कर सुशर्मा के बाल पकड़े और उसे ऐसा मारा कि वह अचेत हो गया। भीमसेन ने उसे बाँधकर अपने रथ पर रख लिया और महाराज युधिष्ठिर के पास ले आये॥ १६॥

स्वामित्राणान्मुदिता स्वामित्राणां भयाच्च पाण्डोस्तनयाः।
अवसन्नत्रैगर्ता अवसन्नत्रैव रात्रिमशिष्टां ते॥ १७॥

अनुवाद—त्रैगर्तों को दुःखी करनेवाले तथा राजा विराट की रक्षा से हर्षित पाण्डव, अपने शत्रु दुर्योधन के भय से बाकी रात वहीं रहे।

व्याख्या—यहाँ पाण्डवों के दुर्योधन से भय का कारण उनकी निर्बलता या असमर्थता न था अपितु अवधि-पालन था। यदि अवधि-समाप्ति के पूर्व दुर्योधन पाण्डवों को देख लेते तो उन्हें १२ वर्ष का वनवास पुनः करना पड़ता॥ १७॥

तरसैव सुशर्माणं मुमोच मात्स्यः सराज्यवसुशर्माणम्।
ते हि नरो धन्या ये जित्वारीन्व्यापृता न रोषन्याये॥ १८॥

अनुवाद—मत्स्यराज-विराट ने सुशर्मा को तुरन्त ही राज्य, धन और सुख सहित छोड़ दिया। वे मनुष्य धन्य हैं जो शत्रुओं को जीत कर भी कारागृहरोधन (अथवा भूम्यादिरोधन) में आग्रह नहीं करते।

व्याख्या—मत्स्यराज का सुशर्मा को अपराध करने पर भी छोड़ना उनकी महानता को अभिव्यक्त करता है। कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसालंकार के द्वारा राजा विराट को धन्य बतलाया है। संसार में वैसे तो अनेकों मनुष्य हैं जो अपने शत्रुओं को जीतकर या तो उनकी भूमि हड़प लेते हैं या उन्हें बन्दी बनाकर कारागार में डाल देते हैं पर ऐसे तो वस्तुतः विरले ही हैं जो शत्रुओं को जीतकर उनकी सम्पत्ति उन्हीं को लौटा देते हैं ॥ १८ ॥

गोपजनानाम्रजतः प्रातर्विद्राव्य नानाव्रजतः।
चक्रुरभङ्गोग्राहंकाराः कुरवः सुदुर्लभं गोग्राहम् ॥ १९ ॥

अनुवाद—प्रातः काल, अनेक गो-समूहों से आते हुए ग्वालों को, अभङ्ग और उग्र अहंकारवाले कौरवों ने भगाकर दुर्लभ गौओं को पकड़ लिया।

व्याख्या—जब मत्स्यराज विराट गौओं को छुड़ाने के लिये त्रिगर्त-सेना की ओर गये तो दुर्योधन भी अपनी योजनानुसार मन्त्रियों सहित विराट नगर पर चढ़ आया। इन सब कौरवों ने विराट की साठ हजार गौओं को पकड़ लिया। ग्वाले महारथियों का सामना न कर सके अतः सब अपने प्राण बचाकर भाग खड़े हुए ॥ १९ ॥

कुरुभिर्गोपालीषु क्षिप्तासु हृतासु चैव गोपालीषु।
पुरमेवादुद्राव स्वयमप्यग्रो गवां जवादुद्रावः ॥ २० ॥

अनुवाद—ग्वालों की पंक्ति के भाग जाने पर तथा कौरवों द्वारा गौओं की पंक्ति के हर लिए जाने पर, गायों का अध्यक्ष जोर-जोर से चिल्लाता हुआ शीघ्र ही विराट-नगर की ओर भागा।

व्याख्या—जब ग्वालों के सरदार ने ग्वालों को भय से चिल्लाते भागते हुए देखा तो इस आक्रमण की सूचना देने के लिये वह रोता-बिलखता रथ पर चढ़कर नगर में आया और सीधे राजमहल के अन्दर विराट के पुत्र उत्तर (भूमिञ्जय) के पास चला गया ॥ २० ॥

अर्जनि च शून्या तस्य त्रातुं राज्ञः पुरी पशून्यातस्य।
नृपदायादायातस्तदुदृत्तमवेदयद्भयादायातः ॥ २१ ॥

अनुवाद—पशुओं (गो-समुदाय) की रक्षा के लिये गये हुए राजा विराट की नगरी सूनी हो गयी थी, अतः कौरवों के भय से आये हुए गायों के अध्यक्ष ने उस समाचार को राजा विराट के पुत्र उत्तर से कहा।

व्याख्या—राजा विराट के साथ सारे पुरुष गायों की रक्षा के लिये युद्ध-भूमि में चले गये थे अतः पूरा नगर जन-शून्य हो गया था। राजा अपना सारा राज्य-भार अपने पुत्र उत्तर के कन्धों पर छोड़ गये थे। अतः ग्वालों का मुखिया उसको ही सारी घटना सुनाने लगा ॥ २१ ॥

अपि सरभसमेतानि प्राप्तानि गवां महर्षभसमेतानि ।
अरिलोकाल्यन्तेन स्वयमेव सुयोधनेन काल्यन्ते नः ॥ २२ ॥
तद्धियतां चापमदः पाहि पुरं स हि पलायतां चापमदः ।
नैतत्सहनीयं ते यद्रिपुभिर्गोकुलानि सह नीयन्ते ॥ २३ ॥
इति वनितामध्ये यन्निवेदितः कर्म तनुभृतामध्येयम् ।
धृष्टतरा गा राज्ञः प्रोवाच गुरुतरागाराज्ञः ॥ २४ ॥

(तिलकम्)

अनुवाद—हे राजकुमार ! शत्रु-समूह का नाश करनेवाला दुर्योधन महान् बैलों से युक्त हमारी गायों के समूह को स्वयं ही आकर साहसपूर्वक ले जा रहा है।

इसलिए यह धनुष धारण कीजिए तथा नगर की रक्षा कीजिए जिससे दुर्योधन मदरहित होकर भाग जाए। शत्रुओं द्वारा गो समूह ले जाया जावे—यह आपके लिये सहनीय नहीं है।

जब इस प्रकार स्त्रियों के बीच में (बैठे हुए) राजपुत्र को, मनुष्यों के लिये अचिन्तनीय कर्म (बलाद् गोग्रहण सूचित किया गया तो घर के अन्दर ही महान् आदेशवाले, राजा विराट के पुत्र उत्तर ने बहुत बढ़ चढ़ कर यह बात कही।

व्याख्या—गवाध्यक्ष ने गिड़गिड़ाते हुए गायों की रक्षा और शत्रुओं के दमन करने की प्रार्थना राजपुत्र से की। वह राजकुमार विषयासक्त था। इस समय वह अन्तःपुर में बैठा हुआ था अतः अपनी प्रशंसा वक्ष्यमाण श्लोकों में करने लगा। वासुदेव ने उसके लिये 'गुरुतरागाराज्ञः' विशेषण प्रयुक्त किया है जिससे कि स्पष्ट है कि वह अपने घर के अन्दर ही शासन, व रोब जमाना जानता था बाहर उसकी दाल न गलती थी।

कवि ने गो-ग्रहण को मनुष्यों के द्वारा मन से भी अचिन्तनीय होना कहा क्योंकि दुर्योधन एक राजा होकर भी ऐसा नीच कर्म चौरकर्म कर रहा था। इस विषय में तो कोई सोच भी न सकता था ॥ २२-२४ ॥

अद्य हि कोदण्डेन प्राप्य क्रुद्धो यथान्तको दण्डेन ।
क्षपयेय तामेकः कुरुपृतनां तत्र भयन्ति यन्ता मे कः ॥ २५ ॥

जय भृशं तनुजवतां रणे रिपूणां करोमि शंतनुजववाम्।
अर्जुनमन्य तान्ते स्वबले मा विक्रमेण मन्यन्तां ते ॥ २६ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—जिस प्रकार यमराज अपने दण्ड से सारे जगत् को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कुपित हुआ मैं अकेला युद्ध में कौरव-सेना को पाकर अपने धनुष से विनष्ट कर डालूँगा। भला वहाँ पर मुझे कौन रोकनेवाला हो सकता है अर्थात् कोई भी नहीं

आज युद्ध में मैं भीष्म से युक्त कौरवों को अत्यन्त हीन बलवाला कर दूँगा। कौरवों से खिन्न हमारी सेना में वे लोग (कौरव) मुझको पराक्रम के कारण दूसरा अर्जुन मानेंगे।

व्याख्या—अन्त पुर में अपनी बड़ाई करता हुआ राजपुत्र उत्तर ग्वाले से बोला 'मेरा धनुष काफी मजबूत है किन्तु मुझे ऐसे सारथि की आवश्यकता है जो घोड़े चलाने में बहुत निपुण हो। इस समय मेरी निगाह में ऐसा कोई आदमी नहीं है जो मेरा सारथि बन सके। अत. तुम शीघ्र ही कोई कुशल सारथि तलाश करो फिर तो मैं शत्रुओं को यमराज के समान पल भर में नष्ट कर दूँगा। जिस समय दुर्योधनादि युद्ध में मेरा पराक्रम देखेंगे, उस समय उन्हें यही कहना पड़ेगा कि यह साक्षात् पृथापुत्र अर्जुन ही तो हमें तंग नहीं कर रहा है ॥ २५-२६ ॥

स्वबलेपा चालपति स्त्वपतेरुपमाधरां स गिरमित्यस्मिन्।
स्वबले पाञ्चालपतिप्रियतनया वचनमुत्तरामुक्तवती ॥ २७ ॥

अनुवाद—राजपुत्र उत्तर ने निर्बल होने पर भी जब अपनी उपमा, बड़े गर्व के साथ द्रौपदी के पति अर्जुन से की तो राजा द्रुपद की प्रियपुत्री द्रौपदी ने उत्तरा से कहा।

'व्याख्या—राजकुमार उत्तर यद्यपि अत्यन्त भीरु एवं निर्बल था पर फिर भी स्त्रियों के बीच बैठा हुआ वह बहुत बढ़-चढ़ कर बातें कर रहा था। द्रौपदी ने जब उसके मुँह से बार-बार अर्जुन का नाम सुना तो उससे न रहा गया। वह उठकर उत्तरा के पास आयी और वक्ष्यमाण क्रम से उत्तरा से कहने लगी ॥ २७ ॥'

नर्तनलाभवतीनां यासी गेहे बृहन्नला भवतीनाम्।
त्रिदयाता मारथ्यान्नियंस्यति भ्रातुर्यिता सा रथ्यान् ॥ २८ ॥

अनुवाद—हे राजकुमारी! आपकी (अथवा लक्ष्मी सदृश-ईशा) नर्तकियों के गृह (नाट्य-शाला) में यह जो 'बृहन्नला' है, वह अपने सूत-कर्म के

कारण (जगत् में) विख्यात है। (अतः) प्रार्थना किये जाने पर वह तुम्हारे भाई उत्तर के (रथ के) घोड़ों को संभालेगी।

व्याख्या—अर्जुन ने ही, जैसा कि विदित है, परिस्थितियों के अनुकूल नपुंसक 'बृहन्नला' का रूप धारण कर रखा था। द्रौपदी ने उसका यथार्थ परिचय न देकर उत्तरा से कहा कि पाण्डवों के घर में पहले यह अर्जुन का सारथि था। यदि यह इस समय भी तुम्हारे भाई का सारथि हो जाये तो तुम्हारा भाई निश्चय हो सारे कौरवों को जीतकर अपनी गायें लौटा लायेंगे।' अतः युद्ध-कर्म के लिये तुम उसकी प्रार्थना करो ॥ २८ ॥

टिप्पणी—'भवतीनां' पद के दो अर्थ (अथवा तीन भी) किये जा सकते हैं। प्रथम तो यह 'भवती' सर्वनाम के षष्ठी बहुवचन रूप का अर्थ बतलाया है। इसका दूसरा विग्रह भवति (सम्बोधन) + ईनाम् लक्ष्मी सम्भव है। इसके अतिरिक्त यदि हम 'भवति' पद को राजपुत्री उत्तरा का सम्बोधन न भी मानें तो इसका अर्थ ('भू' धातु लट् लकार प्र० पु० एक व०) वर्तमान-क्रिया भी हो सकता है।

इस प्रकार इस पद में कवि ने भङ्ग श्लेष के द्वारा कई अर्थ करने का प्रयास किया है ॥ २८ ॥

अस्याः सामर्थ्येन व्यधत्त पार्थो बलीयसामर्थ्येन।
खाण्डवदावे दाहं पाण्डवनगरे च ता तदा वेदाहम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—वीरों के द्वारा भी अति प्रार्थनीय इसके (बृहन्नला) सामर्थ्य से अर्जुन ने खाण्डव-वन में आग लगायी अर्थात् उसे जलाया। मैं इसे पाण्डव नगर में रहते समय से जानती हूँ।

व्याख्या—द्रौपदी के यहाँ कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार मैं यहाँ पर सैरन्ध्री रूप से रह रही हूँ, उसी प्रकार युधिष्ठिर के राजा रहने पर पाण्डव नगर में मैं रहती थी। मुझे मालूम है अर्जुन जो खाण्डव-वन-दाह कर सका वह इसी (बृहन्नला) सारथि के कारण कर सका ॥ २९ ॥

इति सरसं चोदितया सैरन्ध्रया चोत्तरेण संचोदितया।
सत्वरमतिमाननया वासविरानीयते स्म मतिमाननया ॥ ३० ॥

अनुवाद—इस प्रकार सैरन्ध्री के द्वारा उत्कण्ठापूर्वक कही गयी तथा राजकुमार उत्तर के द्वारा प्रेरित की गयी उत्तरा बुद्धिमान अर्जुन को शीघ्र ही अत्यन्त आदर के साथ ले आयी।

व्याख्या—सैरन्ध्री के द्वारा ऐसा कहे जाने पर उत्तर ने भी अपनी बहिन उत्तरा को शीघ्र ही बृहन्नला को लिवा लाने के लिये कहा। उत्तरा बृहन्नला के

पास गयी । उसके आगमन का कारण पूछने पर उत्तरा ने कहा—'बृहन्नले ! कौरव लोग हमारे राष्ट्र की गौएँ लिये जा रहे हैं, उन्हें जीतने के लिये मेरा भाई धनुष धारण करके जा रहा है । अतः तुम मेरे भाई के सारथि बन जाओ ।' उत्तरा के इस प्रकार कहने पर अर्जुन उठे और राजकुमार उत्तर के पास आये ॥ ३० ॥

स्वयमहितमहासार्थं हन्तुमना जिष्णुरधिकतमहासायम् ।
चक्रे नर्मानीतः समराय च सोत्तरः पुनर्मानीतः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—समर के लिये वहाँ से उत्तर के साथ गये हुए स्वाभिमानी अर्जुन (जिष्णु) स्वयं ही शत्रुओं के बड़े भारी समूह को मार डालने की इच्छा से अत्यधिक हँसी के लिये क्रीड़ा करने लगे ॥ ३१ ॥

अथ दन्तुरगजवन्त कुरुसधमलङ्घनीयजवं तम् ।
दृष्ट्वा तत्रासारं विराटपुत्रोऽलपच्च तत्रासारम् ॥ ३२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त सुन्दर (या दाँतयुक्त) हाथियों से भरी हुई तथा अलंघनीय वेगवाली कौरव की सेना को देखकर, समरभूमि में, विराटपुत्र उत्तर अत्यधिक भयभीत होकर तुच्छ-प्रलाप करने लगा ।

व्याख्या—थोड़ी ही दूर जाने पर उत्तर और अर्जुन को महाबली कौरवों की सेना दिखायी दी । वह विशाल हाथी, घोड़े और रथों से भरी थी । कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, भीष्म और अश्वत्थामा के सहित महान् धनुर्धर द्रोण उसकी रक्षा कर रहे थे । उसे देखकर उत्तर के रोंगटे खड़े हो गये और उसने भय से व्याकुल होकर वक्ष्यमाणक्रम से अर्जुन से कहा ॥ ३२ ॥

बृहदवलेपारासी दधती सेना बृहन्नलेऽपारासी ।
कथमहमत्रासेन स्वयं प्रवेक्ष्यामि तूर्णमत्रासेनः ॥ ३३ ॥

अनुवाद—हे बृहन्नले ! महान् अवलेप (गर्व) और सिंहनाद (आरास) को धारण करती हुई यह (कौरव) सेना अपार है । अतः थोड़ी-सी सेनावाला मैं निर्भय होकर कैसे इस सेना में प्रवेश करूँगा ?

व्याख्या—कवि ने इस श्लोक में उत्तर के लिये 'असेन.' विशेषण उसकी मनःस्थिति को ध्यान में रखकर ही किया है । कौरवों की विशाल-सेना को देखकर उत्तर इतना भयभीत हुआ कि वह अपनी सेना को उसकी तुलना में नहीं के बराबर समझने लगा । वह बोला 'मेरी ताब नहीं है कि मैं कौरवों के साथ लोहा ले सकूँ; देखते नहीं हो मेरे सारे रोंगटे, खड़े हो रहे हैं । इस सेना में जो अगणित वीर दिखायी दे रहे हैं, उनका सामना तो देवता भी नहीं कर सकते फिर मैं तो अभी बालक ही हूँ' ॥ ३३ ॥

याहि घृणामायलय स्यन्दनमायान्ति वैरिणामायलयः ।
त्यज मामम्बालोलं कथं नु कुर्यां पराक्रमं बालोऽलम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—हे बृहन्नले ! दया करो और रथ लौटा लो; शत्रुओं के समूह (इधर की ओर ही) आ रहे हैं। अपनी माँ के लिये उत्सुक मुझको तुम छोड़ दो। मैं अभी बच्चा हूँ; (सेना-प्रवेश रूप) अत्यधिक साहस मैं भला कैसे करूँगा।

व्याख्या—इस श्लोक में राजपुत्र उत्तर की अतिशय भय-कातरता के दर्शन होते हैं। वह अर्जुन की हर प्रकार से युद्ध से लौट चलने की प्रार्थना करता है। कौरव-सेना को देखकर उसके हाथ-पाँव ढीले हो गये हैं यहाँ तक कि वह अपनी माँ की गोद में छिप जाने के लिये भी उत्सुक हो उठा है ॥ ३४ ॥

स्याश्च पद यासविधेरस्मन्मोचेन शश्वदम्बासविधे ।
दुर्लभमङ्गददाम क्षौमाद्यं द्रव्यजातमङ्ग ददाम ॥ ३५ ॥

अनुवाद—हे बृहन्नले ! हमारी इस संकट से रक्षा करने पर तुम सदैव मेरी माता के पास रहोगे अर्थात् मेरी माता तुम्हारा सम्यक् पालन-पोषण करेगी। हे बृहन्नले ! मैं तुम्हें अङ्गद (आभूषण-विशेष), हारयष्टि, दुकूलादि तथा दुर्लभ द्रव्य-समूह दूँगा।

व्याख्या—जब अर्जुन किसी भी प्रकार समझाने-बुझाने से न माना तो उसने (राजपुत्र) दूसरा उपाय खोजा। उसने अर्जुन को प्रलोभन देकर रथ लौटा ले चलने को कहा पर अर्जुन ने भी उसकी एक न मानी और रथ आगे बढ़ाते ही चले ॥ ३५ ॥

इत्थं तत्रासन्तं बहुधा निगदन्तमधिगतत्रासं तम् ।
उत्तरमाहितहासः प्रोचे बीभत्सुरुत्तमाहितहा सः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार युद्ध-भूमि में बार-बार प्रार्थना करते हुए तथा भयभीत, मूर्ख उत्तर से, हँसते हुए, प्रधान शत्रुओं को मारनेवाला अर्जुन (बीभत्सु) ने कहा।

व्याख्या—कायर उत्तर की बातें सुनकर अर्जुन को सहसा हँसी छूट आयी और वे उत्तर को समझाने लगे ॥ ३६ ॥

'आस्वामुत्तर सान्त्वं द्विषतां प्राप्तोऽधिमध्यमुत्सरसां त्वम् ।
स्वनिवासं माहत्वा शत्रून्नेष्यामि विपुलसंनाह त्वा ॥ ३७ ॥
इत्थ सुरसत्वेन प्रहिते वाहेऽर्जुनेन सुरसत्वेन ।

सहसा समरोदितया भिया विराटात्मजेन समरोदि तया ॥ ३८ ॥

अनुवाद—हे उत्तर ! मेरी चाटुकारिता रहने दो । तुम उद्भट शक्तिवाले शत्रुओं के बीच में आ गये हो । हे विशाल कवचधारी उत्तर ! शत्रुओं को बिना मारे मैं (तुम्हें) घर न ले जाऊँगा ।

इस प्रकार कहकर देवताओं के समान धैर्य (सत्व) वाले अर्जुन ने युद्ध की अभिलाषा से घोड़े छोड़ दिये (अर्थात् उनकी रास ढीली कर दी) । फिर उस संग्राम-जनित भय से विराट-पुत्र उत्तर सहसा रोने लगा ।

व्याख्या—अर्जुन उत्तर की मन.स्थिति से अत्यन्त खिन्न हो उठे और उससे बोले कि 'यदि तुम युद्ध में कौरवों को बिना परास्त किये हुए घर लौट चलोगे तो स्त्री-पुरुष आपस में मिल कर तुम्हारी हँसी करेंगे अतः मैं तुम्हें ऐसे ही घर नहीं ले चलूँगा ।' यह कहकर जैसे ही अर्जुन ने युद्ध के लिये घोड़े आगे बढ़ाये कि उत्तर रोने लगा ॥ ३७—३८ ॥

सोऽथाभियानादरिभिः प्रदिश्यमानोऽवरुह्य यानादरिभिः ।
व्यपयातः समहासिः सुधनुस्त्यक्त्वा जनैस्ततः समहासि ॥ ३९ ॥

अनुवाद—इसके बाद वह उत्तर अपने धनुष को छोड़ कर महान् खड्ग के साथ जब रथ से उतर कर भागने लगा तो युद्ध के लिये इच्छुक शत्रुजन (हाथ से) उसकी ओर इशारा कर-करके हँसने लगे ।

व्याख्या—अर्जुन के बहुत समझाने पर भी उत्तर अपना भय दूर न कर सका । वह बोला 'कौरव लोग मत्स्यराज की बहुत-सी गौएँ लिये जाते हैं तो ले जायें । स्त्री-पुरुष मेरी हँसी करें तो करते रहें, किन्तु अब युद्ध करना मेरे वश की बात नहीं ।' ऐसा कहकर उत्तर रथ से कूद कर सारी मान-मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर भगाने लगा । यह देखकर शत्रु उसकी हँसी उड़ाने लगे ॥ ३९ ॥

चक्रे रथमानीत प्रगृह्य केशेषु जिष्णुरथ मानी तम् ।
वाग्भिर्मीरहिताभिः पुनरसुमाश्वासयद्गभीरहिताभिः ॥ ४० ॥

अनुवाद—इसके बाद स्वाभिमानी अर्जुन ने उसके बाल पकड़ कर उसे *रथ पर बैठाया और फिर भयरहित, गंभीर और हितकारी* वचनों के द्वारा उसे आश्वस्त किया ।

व्याख्या—जब उत्तर रथ से कूदकर भागने लगा तो अर्जुन बोले 'हे उत्तर ! युद्धस्थल से भागना शूरवीरों की दृष्टि में क्षत्रियों का धर्म नहीं है । क्षत्रिय के लिये तो युद्ध में मरना ही अच्छा है, डरकर पीठ दिखाना अच्छा

नहीं'। ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन ने भागते हुए राजकुमार के बाल दौड़ कर पकड़ लिये और उसे रथ पर ले आये ॥ ४० ॥

दैन्य मुञ्चस्वेदं वेपथुमपि गात्रगतमनु च स्वेदम् ।
कुरु मनिमुत्तर तोत्रग्रहणे मम शत्रुमुत्तरलोऽत्र ॥ ४१ ॥
इति स रिपुत्रस्तस्य प्रत्ययजननाय पाण्डुपुत्रस्तस्य ।
प्रथितानामपदानान्यवेदयदशङ्कमात्मनाम पदानाम् ॥ ४२ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—हे उत्तर ! दीनता का त्याग करो । शरीर में व्याप्त कम्प एवं स्वेद का भी त्याग करो शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये आये हुए मेरे तोत्र-ग्रहण (सूत-कर्म) का विचार करो अर्थात् तुम सारथि बनकर यह रथ सम्भालो और मुझे युद्ध करने दो ।

ऐसा कहकर पाण्डु पुत्र ने शत्रु से भयभीत उस उत्तर को विश्वास दिलाने के लिये, अद्भुत कर्मों (या चरित) के कारण प्रसिद्ध पदों में से अपना (अत्यन्त प्रसिद्ध) नाम अर्जुन निःशङ्कभाव से बतलाया ।

व्याख्या—अर्जुन ने उत्तर को अनेक प्रकार से युद्ध-स्थल में समझाया 'राजकुमार ! यदि शत्रुओं से युद्ध करने की तुम्हारी हिम्मत नहीं है तो लो, तुम घोड़ों की रास सम्भालो; मैं युद्ध करता हूँ।' उत्तर को जब अर्जुन के पराक्रम और बल पर विश्वास न हो सका तो अर्जुन ने उसे अपने दस नामों में से प्रसिद्ध 'अर्जुन' नाम बतलाया और कहा 'तुम्हारे लिये कोई खटके की बात नहीं। मैं सग्राम में तुम्हारे सब शत्रुओं के पैर उखाड़ दूँगा' ॥ ४१–४२ ॥

नुन्नरथाश्वस्तेन श्मशानमेत्यात्तधनुरथाश्वस्तेन ।
अशनैरारासरतः कुरुवीरान्पाण्डुसूनुरारासरवः ॥ ४३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार उस आश्वासयुक्त राजपुत्र उत्तर के द्वारा प्रेरित रथ के घोड़ोंवाला अर्जुन श्मशान पहुँचकर (शमीवृक्ष पर लटकनेवाले अपने शस्त्रों को लेकर) ज़ोर-ज़ोर से सिंहनाद करता हुआ, युद्ध के लिये आगे बढ़ते हुए कुरुवीरों (भीष्म-कर्णादि) के पास पहुँचा ।

व्याख्या—उत्तर को आश्वस्त कर अर्जुन ने उसे रथ पर चढ़ाया और श्मशान पर स्थित शमीवृक्ष की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने उत्तर से कहा 'राजकुमार ! मेरी आज्ञा मानकर तुम शीघ्र ही इस वृक्ष से धनुष उतारो, ये तुम्हारे धनुष मेरे बाहुबल को नहीं सहन कर सकेंगे। इस वृक्ष पर पाण्डवों के शस्त्र रखे हुए हैं'। अपने प्रिय-धनुष गाण्डीव को लेकर अर्जुन सिंहनाद करते हुए जब शत्रुओं के पास पहुँचे तो कुरुवीरों को भय होने लगा ॥ ४३ ॥

तेनोत्तरसारथिना गाण्डीवं बिभ्रता च तरसा रथिना ।
दृढमाकर्णादिषुभी रभसाकृष्टैरताथि कर्णादिषु भीः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—विराट-पुत्र उत्तर के सारथि बनने पर, रथ पर बैठे हुए तथा गाण्डीव को धारण किये हुए अर्जुन ने जब आवेगपूर्वक बाणों को कानों तक खींचा तब कर्णादि भयभीत होने लगे।

व्याख्या—नपुसक के हाथों में सहसा गाण्डीव देखकर कौरवों के होश हवा होने लगे तथा वे यह सोचने लगे कि 'यह अर्जुन ही तो नहीं है' ॥ ४४ ॥

रुधिरवसाचित्रा सा कुरुसेनाजातसव्यसाचित्रासा ।
आहितलेहा हेतिप्रकरैरपतन्महीतले हाहेति ॥ ४५ ॥

अनुवाद—सव्यसाची (अर्जुन) के कारण उत्पन्न भयवाली, रक्त और चर्बी (वसा) से चित्रित तथा आयुधसमूहों (हेतिप्रकरैः) से सर्वतो व्याप्त कौरव-सेना, 'हा-हा' करती हुई भूमि पर गिरने लगी।

व्याख्या—कौरवसेना यद्यपि अनेक महारथियों से व्याप्त थी फिर भी अर्जुन के समक्ष वे सब शक्तिहीन हो गये तथा एक-एक कर भूमि पर गिरने लगे ॥ ४५ ॥

पाटितवक्षोदेहः पाण्डवशस्त्रेण शात्रवक्षोदेहः ।
भीष्मोऽन्विततालस्य श्लेषमयत्त ध्वजस्य विततालस्य ॥ ४६ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के नाश (क्षोद) में ईहारहित भीष्म अर्जुन के शस्त्रों से विदीर्ण वक्षस्थल एवं शरीरवाले होकर उदासीन (निश्चेष्ट) हो गये तथा उन्होंने (बहुत व्यथित होकर) तालाङ्कध्वज से अपना शरीर छिपा लिया।

व्याख्या—भीष्म पितामह का दूसरा नाम तालकेतु भी है क्योंकि उनके रथ-ध्वज पर ताल वृक्ष-विशेष का चिह्न बना हुआ है। अर्जुन के तीक्ष्ण शस्त्र-प्रहारों से जब भीष्म का शरीर क्षत-विक्षत होने लगा तो वे अपने को अकिंचिकर अनुभव करने लगे अतः अपने को बचाने के लिये उन्होंने ध्वज-पट का आश्रय लिया ॥ ४६ ॥

अशनैराशाततया कुलिशोपमयेन्द्रसूनुराशावतया ।
सायकसततत्याजप्रतिमं द्रोणं विदार्य संतत्याज ॥ ४७ ॥

अनुवाद—इन्द्र-पुत्र अर्जुन ने शीघ्र ही वज्र के समान तीक्ष्ण बाण-समूहों से विष्णुतुल्य द्रोणाचार्य को विदीर्ण करके छोड़ दिया।

व्याख्या—पराक्रम-सादृश्य के कारण कवि ने द्रोणाचार्य को विष्णु के

समान बतलाया है। द्रोणाचार्य ने पाण्डवों को धनुर्विद्या की शिक्षा दी थी। इसके अतिरिक्त अर्जुन भी द्रोणाचार्य के प्रिय शिष्य थे। अतः गुरु के प्रति भक्ति के कारण अर्जुन ने उन्हें अपने बाणों से केवल घायल करके ही त्याग दिया उन्हें जान से समाप्त नहीं किया ॥ ४७ ॥

कृत्वा विरथाश्वं तं सूतं नीत्वा च यासविरथाश्वन्तम्।
भग्नमवनुतत्क्षणश' कर्णं जिष्णुः शरैस्तनुत क्षणतः॥ ४८॥

अनुवाद—इसके बाद अर्जुन ने कर्ण के रथाश्वों को मार कर उसके सारथि को भी शीघ्र ही मार डाला तथा अपने बाणों से (उसे भी) क्षण भर में विदीर्ण कर दिया।

व्याख्या—अर्जुन ने अपने पराक्रम से कर्ण को भी तिरस्कृत कर दिया। उन्होंने कान तक धनुष खींचकर कर्ण के घोड़े को बींध डाला। घायल हुए घोड़े पृथिवी पर गिरकर मर गये। फिर अर्जुन ने एक तेजस्वी बाण कर्ण की छाती में मारा। वह बाण कवच को भेदकर उसके शरीर में घुस गया, उसकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया। भीतर-ही भीतर पीड़ा सहता हुआ वह युद्ध छोड़कर उत्तर दिशा की ओर भाग गया ॥ ४८ ॥

विषदावेशावान्तस्तस्य शरः सुबलसूनवेशातान्तः।
पाण्डववैरस्य मदात्स्वयमेवापादितस्य वैरस्यमदात्॥ ४९॥

अनुवाद—अर्जुन के तीक्ष्ण-फल वाले तथा विषद आवेश (प्रवेश) वाले बाण ने शकुनि को, मद के कारण स्वयं उत्पन्न किये गये पाण्डवों के साथ वैर के प्रति उदासीन कर दिया।

व्याख्या—अर्जुन के तीक्ष्ण बाणों से, जो कि शरीर में घुसकर विष फैला देनेवाले थे, क्षत-विक्षत हुआ शकुनि विचार करने लगा कि कौरव और पाण्डवों के बीच में यह कलह वास्तव में मैंने ही उत्पन्न किया था जो उचित नहीं है। इस प्रकार वह अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा ॥ ४९ ॥

क्षतजे विततक्षरणे सुयोधनं भूय एव विततक्ष रणे।
वासविरुद्रवदेव स्फुटमरिसैन्ये चचार रुद्रवदे च॥ ५०॥

अनुवाद—महान् रक्त पातवाले संग्राम में अर्जुन ने पुनः दुर्योधन को घायल किया तथा ज़ोर-ज़ोर से घोर मचानेवाली शत्रु-सेना में वह रुद्र के समान विचरण करने लगा।

व्याख्या—अर्जुन के रुद्र के समान अति भयंकर कर्म और स्वरूप को देखकर कौरव-सेना भय के मारे चिल्लाने लगी। उसने दुर्योधन को भी अपने

तीक्ष्ण-बाणों से ऐसा आहत किया कि उसे प्राण बचाकर युद्ध-स्थल से भागना पड़ा ॥ ५० ॥

मुख्यमसावस्त्राणां स्वापनमुत्सृज्य चाञ्जसा वस्त्राणाम्।
हरणं निद्रागेभ्यश्चक्रे संग्राममूर्धनि द्रागेभ्यः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—अर्जुन ने अस्त्रों में मुख्य स्वापनास्त्र को छोड़कर रणभूमि में निद्रा को प्राप्त इन वीरों के वस्त्रों को तुरन्त ही हरण कर लिया।

व्याख्या—युद्ध-भूमि में दुर्योधन की रक्षा करने के लिये उत्तर दिशा से कर्ण और पश्चिम से भीष्म आ गये। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और दुःशासन भी अपने बड़े-बड़े धनुष लेकर आ गये। सबों ने अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया और बाणों की वर्षा करने लगे। ऐसी दशा में अर्जुन ने रणभूमि में 'सम्मोहन' नामक अस्त्र छोड़ा। अर्जुन के उस अस्त्र के छोड़ते ही कौरव-वीर बेहोश हो गये, उनके हाथों से धनुष और बाण गिर पड़े तथा वे सभी निश्चेष्ट हो गये।

वीरों को अचेत हुआ देखकर अर्जुन को उत्तरा की बात याद आ गयी कि 'बृहन्नले! तुम संग्राम-भूमि में आये हुए भीष्म, द्रोण आदि कौरवों को जीतकर हमारी गुड़ियों के लिए रंग-बिरंगे महीन और कोमल वस्त्र लाना'। अतः अर्जुन ने उत्तर से कहा कि 'राजकुमार! जब तक इन कौरवों को होश नहीं होता, तब तक तुम सेना के बीच से निकल जाओ और द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य के श्वेत, कर्ण के पीले तथा अश्वत्थामा एवं दुर्योधन के नीले वस्त्र लेकर लौट आओ।' उत्तर ने वैसा ही किया ॥ ५१ ॥

स पृथायुक्तेशास्यः सुघनुर्न्यस्य श्मशानवृक्षेऽशास्यः।
रणभूमाववलेपि द्विड्बलमभिभूय तूर्णमाववलेऽपि ॥ ५२ ॥

अनुवाद—चन्द्रमा के समान मुखवाला तथा किसी के द्वारा शासन न किये जाने योग्य वह अर्जुन रणभूमि में गर्वीले शत्रु-सैन्य को पराजित करके तथा विशाल श्मशान-वृक्ष पर महान् धनुष को रखकर शीघ्र ही (अपने नगर) लौट आया।

व्याख्या—तदनन्तर, अर्जुन पुनः श्मशान-भूमि में आया और उसी शमी-वृक्ष के पास आकर खड़ा हुआ। उसी समय उसके रथ पर की ध्वजा पर बैठा हुआ अग्नि के समान तेजस्वी विशालकाय वानर भूतों के साथ ही आकाश में उड़ गया। फिर रथ पर सिंह के चिह्नवाली राजा विराट की ध्वजा चढ़ा दी गयी और अर्जुन के सब शस्त्र, गाण्डीव धनुष तथा तरकस पुनः शमीवृक्ष में बाँध दिये गये। तत्पश्चात् महात्मा अर्जुन सारथि बनकर

बैठा और उत्तर रथी बनकर आनन्दपूर्वक नगर की ओर। चला। अर्जुन ने पुनः चोटी गूँथकर धारण कर ली और बृहन्नला के वेष में आकर घोड़ों की बागडोर संभाली ॥ ५२ ॥

न तु मे भवता तत्त्वं व्याख्येयं धृतधनुश्च भव तात त्वम् ।
इति सारथ्यं तस्य व्यधायि पार्थेन वैरिरथ्यन्तस्य ॥ ५३ ॥

अनुवाद—'मेरे रहस्य को तुम किसी से न कहना तथा हे तात ! तुम अब धनुष लो' इस प्रकार अर्जुन ने, शत्रु-महारथियों के नाश-रूप उस उत्तर का सूत-कर्म सम्पादित किया ॥ ५३ ॥

जितरिपुराजावृद्धः पुरं विराटोऽप्यवाप राजा वृद्धः ।
शुश्राव जयं तस्य स्वसुतस्य च देवराडिव जयन्तस्य ॥ ५४ ॥

अनुवाद—संग्राम में शत्रुओं को जीतकर समृद्ध तथा वृद्ध राजा विराट भी अपने नगर आये । उसने अपने पुत्र उत्तर की विजय उसी प्रकार सुनी जिस प्रकार देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र जयन्त की विजय का समाचार सुना था ।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने विराट की उपमा देवराज इन्द्र से दी है जो कि अपने पुत्र जयन्त का समाचार सुनकर हर्षित हुआ था। जब राजा विराट युद्ध से लौटकर आया तो पहले यह जानकर, कि उत्तर अकेले ही युद्ध के लिये गया है, बड़ा दुःखी हुआ पर जब सहसा मन्त्री ने आकर राजा को सूचना दी कि उत्तर कौरवों को परास्त करके आ रहे हैं तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा । विजय का समाचार सुनकर उसके शरीर में रोमाञ्च हो आया ॥ ५४ ॥

धूपैरुत्तरलाली रथ्याः स विधाय तूर्णमुत्तरलाली ।
धर्मभुवा देवनतश्चक्रे हसितं विचित्रवादेऽवनतः ॥ ५५ ॥

अनुवाद—उसने (विराट) शीघ्र ही उत्तर को स्नेह करनेवाली सबकों को, धूप के कारण आये हुए अत्यन्त चपल भ्रमर-पंक्ति से पूर्ण कर दिया तथा द्यूत के लिये झुका हुआ यह विराट, धर्मपुत्र युधिष्ठिर के साथ विचित्र-वाद में हँसने लगा ।

व्याख्या—अपने पुत्र उत्तर की विजय का समाचार पाकर विराट अत्यन्त हर्षित हुए । वे युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलने लगे । खेलते-खेलते विराट और युधिष्ठिर के बीच हँसी-मजाक होने लगा ॥ ५५ ॥

स प्रजहाराजानन्नक्षेण चेपहृतमहा राजानम् ।

धर्मजमतिमत्तायां निजबुद्धौ निरतमेव मतिमत्तायाम् ॥ ५६ ॥

अनुवाद—बुद्धि के अति मत्त होने पर, विचित्र-वाद के द्वारा हारे गये तेज वाले राजा विराट ने बुद्धिमत्ता में निरत राजा युधिष्ठिर को अनजाने में पासे से मारा।

व्याख्या—खेलते-खेलते विराट ने कहा 'देखो, आज मेरे बेटे ने इन प्रसिद्ध कौरवों पर विजय पायी है।' युधिष्ठिर ने कहा—'बृहन्नला जिसका सारथि हो वह भला युद्ध में क्यों नहीं जीतेगा?' यह उत्तर सुनते ही राजा कोप से भर गये और बोले—'अधम ब्राह्मण! तू मेरे बेटे की प्रशंसा एक हिजड़े के साथ कर रहा है? मित्र होने के कारण मैं तेरे इस अपराध को क्षमा करता हूँ किन्तु यदि जीवित रहना चाहता है तो फिर ऐसी बात कभी न करना।' परन्तु युधिष्ठिर बृहन्नला की प्रशंसा ही करते चले गये। विराट ने कहा, 'अनेकों बार मना किया, किन्तु तेरी जबान बन्द न हुई' यह कहते-कहते राजा कोप से अधीर हो गया और पासा उठाकर उसने युधिष्ठिर के मुँह पर दे मारा ॥ ५६ ॥

तदनु रुजा यातेन श्वेताश्वभयाऽवैक्षि जायातेन।
सा निजकपटाधाराः क्षतजस्य चकार विहितकपटा धाराः ॥ ५७ ॥

अनुवाद—तदनन्तर उत्पन्न हुए कष्ट के कारण तथा अर्जुन के भय से उस युधिष्ठिर ने अपनी पत्नी द्रौपदी की ओर देखा। छद्मवेषधारिणी उस द्रौपदी ने उसके रक्त की धारा को अपने कपड़े से पोंछ दिया।

व्याख्या—पासा जोर से लगने के कारण युधिष्ठिर के नाक से खून बहने लगा। उसकी बूँद पृथिवी पर पड़ने के पहले ही युधिष्ठिर ने दोनों हाथों से उसे रोक लिया और पास ही खड़ी हुई द्रौपदी की ओर देखा। द्रौपदी अपने पति का अभिप्राय समझ गयी उसने तुरन्त अपने वस्त्र से (?) उसका रक्त पोंछ दिया। (महाभारत में द्रौपदी द्वारा जल से भरा हुआ सोने का कटोरा लाने का उल्लेख है) ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—युधिष्ठिर को अर्जुन से भय क्यों था? इसका उल्लेख महाभारत में किया गया है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि जो संग्राम के सिवा कहीं अन्यत्र युधिष्ठिर के शरीर में घाव कर देगा या रक्त निकाल देगा तो मैं उसका प्राण ले लूँगा। संभव था कि युधिष्ठिर के बदन में रक्त देखकर वह क्रोध में भर जाता और उस दशा में वह विराट को उसकी सेना, सवारी तथा मन्त्रियों सहित मार डालता। इसी कारण युधिष्ठिर को अर्जुन से भय था ॥ ५७ ॥

सुतमरिसमुदायान्तं मात्स्योऽप्यवलोक्य समुदायान्तम्।
प्रीतिमलं भेजे यः स्वयं जयन्कौरवेऽयलम्भे जेयः ॥ ५८ ॥

अनुवाद—हर्षित मत्स्यराज ने शत्रु-समूह के लिए भाला-रूप अपने पुत्र उत्तर को आते हुए देखकर अत्यधिक आनन्द प्राप्त किया जिसने अकेले ही कौरव सेना पर विजय प्राप्त की थी ॥ ५८ ॥

अखिलकम्पदया तं श्रिया समेत सयन्तृकं पदयातम् ।
स्फुरितमहा रेजे यं सुत परिष्वज्य संप्रहारेऽजेयम् ॥ ५९ ॥

अनुवाद—शत्रु-सेना को कम्पित कर देनेवाली लक्ष्मी से युक्त तथा सारथि के साथ आये हुए, युद्ध में अजेय तथा पैरों पर गिरे हुए (प्रणाम के लिये) अपने पुत्र उत्तर को गले से लगाकर वह तेजस्वी राजा विराट सुशोभित हुआ।

व्याख्या—राजा विराट तो पहले ही से अपने पुत्र को देखने के लिये उत्सुक थे। अतः जब विनम्र भाव से वह आकर उनके पैरों पर प्रणाम करने के लिये गिरा तो विराट ने उसे उठाकर गले से लगा लिया। उस समय राजा विराट तेजस्वी होने पर भी और अधिक सुशोभित होने लगे। गलतफहमी में राजा का अपने पुत्र को अजेयादि मान लेना युक्तिसंगत है ॥ ५९ ॥

अथ नृपमस्तकलीनां क्षतिं विलोक्यातिमात्रमस्तकलीनाम् ।
अजनि तदा पाण्डुभुवामतिरभसः कीर्तिसंपदा पाण्डुभुवाम् ॥ ६० ॥

अनुवाद—इसके बाद राजा युधिष्ठिर के मस्तक पर लगे हुए घाव को देखकर, कीर्ति-लक्ष्मी से उज्ज्वल-भूमिवाले तथा अत्यन्त निरस्त-कलहवाले उन पाण्डवों में साहसावेग उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—अपने प्रिय राजा तथा बड़े भाई युधिष्ठिर की नाक पर घाव देखकर पाण्डवों को विराट के ऊपर अत्यधिक क्रोध आया ॥ ६० ॥

तदनु रहस्यवधाय त्वरिता मात्स्यपकुलोद्वहस्य वधाय ।
रूपं बभ्रुः स्वन्ते पार्थाः समये च रोषभृत्स्वन्ते ॥ ६१ ॥

अनुवाद—तदनन्तर उन पाण्डवों ने एकान्त में सावधान होकर मत्स्य-राज-विराट के वध के लिये, रोष से क्षुब्ध होते हुए, शीघ्र ही समय के समाप्त होने पर अपने (पूर्ववत्) रूप धारण किये।

व्याख्या—इसके बाद तीसरे दिन पाँचों महारथी पाण्डवों ने स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण किये और राजोचित आभूषणों से भूषित हो युधिष्ठिर को आगे करके सभाभवन में प्रवेश किया। सभा में पहुँचकर वे राजाओं के योग्य आसन पर विराजमान हो गये ॥ ६१ ॥

अथ तस्मापत्येनप्रतिमान्पार्थान्समीक्ष्य सापत्येन ।
चक्रे सामात्येनः स्मरता मात्स्येश्वरेण सामात्येन ॥ ६२ ॥

अनुवाद—इसके बाद मत्स्यराज विराट ने अपने पुत्र (उत्तर) एवं मन्त्रियों सहित शीघ्र ही आकर सूर्य के समान तेजस्वी पाण्डवों को देखकर अपने अपराध का स्मरण करते हुए उनकी स्तुति की।

व्याख्या—पहले तो राजाओं के आसन पर पाण्डवों को बैठे हुए देखकर विराट अत्यन्त कुपित हुए परन्तु बाद में उनका यथार्थ-परिचय जानकर वे दुःखी हुए और अपने किये गये अपराधों के लिये पश्चात्ताप करने लगे। अपने पुत्र और मंत्रियों सहित उनकी (पांडवों) स्तुति की ॥ ६२ ॥

अवनिभृति समानमति स्वजनैः सार्धं बृहस्पतिसमानमतिः।
तत्र दृशं समतनुत श्लाघ्यां धर्मात्मजोऽनृशससमतनुतः॥ ६३॥

अनुवाद—बन्धुजनों के साथ राजा विराट के प्रणाम करने पर बृहस्पति के समान बुद्धिमान् तथा साधुओं (अनृशसमत) द्वारा प्रस्तुत धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अपनी सस्नेह दृष्टि राजा विराट पर डाली ॥ ६३ ॥

अदिशदसौ भद्राय प्रियां सुतामुत्तरा च सौभद्राय।
दूतांश्चार्यसुहृद्भ्यः पार्थानां प्राहिणोद्विचार्यं सुहृद्भ्य ॥ ६४॥

अनुवाद—फिर उस विराट ने अपनी प्रिय पुत्री उत्तरा को प्रशसनीय अभिमन्यु (सौभद्र) के लिये प्रदान किया तथा विचार करके दूतों को, शत्रुओं के प्राणहरण करनेवाले, पाण्डवों के (श्रीकृष्णादि) बन्धुओं को बुलाने के लिये भेजा।

व्याख्या—अपना हर्ष प्रकट करने के लिये राजा विराट ने सबसे पहले अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन के लिये देना चाहा परन्तु अर्जुन ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि 'रनिवास में मैं आपकी कन्याओं को पुत्रीभाव से ही देखता रहा हूँ। उसने भी मुझ पर पिता की भाँति ही विश्वास किया है इसलिए उत्तरा को पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करूँगा' ॥ ६४ ॥

संप्राप्य तदानन्तं पार्थो यत्ने कृताभिमतदान तम्।
प्रतिजग्राह तदैव स्फीतं सैन्यं सुयोधनो हतदैवः॥ ६५॥

अनुवाद—उस समय अर्जुन ने अभीष्ट दान करनेवाले श्रीकृष्ण को वर-दान रूप में प्राप्त किया तथा अभागे दुर्योधन ने विशाल सेना प्राप्त की।

व्याख्या—महाभारत के उद्योग-पर्व में इस कथा का उल्लेख आया है। श्रीकृष्णचन्द्र को निमंत्रित करने के लिए कुन्तीनन्दन अर्जुन स्वयं द्वारका गये। अपने गुप्तचरों से दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण विराट-नगर से द्वारका आ रहे हैं तो थोड़ी सी सेना लेकर वह वहाँ पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर दोनों वीरों ने श्रीकृष्ण को सोते हुए पाया। दुर्योधन तो उनके

सिरहाने की ओर उत्तम सिंहासन पर बैठ गया, और अर्जुन नम्रता से हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्ण के चरणों की ओर खड़े हो गये। जागने पर दोनों ने युद्ध में सहायता करने के लिये निवेदन किया। श्रीकृष्ण बोले 'मेरे पास एक अरब गोप हैं, वे मेरे ही समान बलिष्ठ हैं। एक ओर तो ये दुर्जय सैनिक रहेंगे और दूसरी ओर मैं स्वयं रहूँगा। मैं न तो युद्ध करूँगा और न शस्त्र उठाऊंगा'। यह सुनकर दुर्योधन ने तो उनकी सारी सेना ले ली और अर्जुन ने श्रीकृष्ण को स्वीकार किया॥ ६५॥

> स्वनयात्परमातुलतः सुयोधनो वरमयाप रमातुलतः।
> श्रेयो नेयमुपायात्सोऽपि स संचिन्त्य भागिनेयमुपायात्॥ ६६॥

अनुवाद—सुयोधन ने अपनी नीति के अनुसार शत्रुओं (पाण्डवों) के मामा शल्य से वर प्राप्त किया। वह (शल्य) भी 'मिलकर कुशलता प्राप्त करनी चाहिये' ऐसा सोचकर अपने भांजे (युधिष्ठिर) के पास आये।

व्याख्या—दूतों के मुख से पाण्डवों का सन्देश सुनकर राजा शल्य बड़ी भारी सेना लेकर पाण्डवों की सहायता के लिये चले। दुर्योधन ने जब महारथी शल्य को पाण्डवों की सहायता के लिये आते सुना तो उसने स्वयं आकर उनके सत्कार का प्रबन्ध किया। सत्कार का सुन्दर प्रबन्ध देखकर शल्य प्रसन्न हुए और उसके सेवकों को पारितोषिक देने का निश्चय किया। इतने में दुर्योधन उनके सामने आया। उसने वर माँगा कि 'मेरी इच्छा है कि आप मेरी सम्पूर्ण सेना के नायक हों'। शल्य ने उसकी बात स्वीकार-कर ली और युधिष्ठिर से मिलने के लिए चल दिये॥ ६६॥

> त युधि राधेयस्य ज्ञाता खलु कर्मणः पराधेयस्य।
> स ययाचे नाशार्थं शल्योऽपि तथेति चाचचक्षेऽपार्थम्॥ ६७॥

अनुवाद—शत्रुओं के द्वारा अपराजेय तथा अद्भुत कर्म के ज्ञाता कर्ण के नाश के लिये युधिष्ठिर ने प्रार्थना की। शल्य ने भी युधिष्ठिर से 'ऐसा ही होगा'—ऐसा कहा।

व्याख्या—महारथी शल्य जब युधिष्ठिर के पास पहुँचे तो युधिष्ठिर ने कहा 'महाराज! मैं आपसे एक काम कराना चाहता हूँ। जिस समय कर्ण और अर्जुन रथों पर बैठ कर आपस में युद्ध करेंगे उस समय आपको कर्ण का सारथि बनना पड़ेगा। यदि आप मेरा भला चाहते हैं तो उस समय अर्जुन की रक्षा करें और मेरी विजय के लिए कर्ण का उत्साह भङ्ग करें'। शल्य ने भी ऐसा ही करने का वचन दिया॥ ६७॥

सप्त महासेनानामक्षौहिण्यः कृताट्टहासेनानाम् ।
घटिता धामन्येषां तत्रैकादश घृतकुधामन्येषाम् ॥ ६८ ॥

अनुवाद—महान् सेना को धारण करनेवाले तथा अट्टहास करनेवाले सेनानी वीरों से युक्त पाण्डवों की सेना में सात अक्षौहिणी (संख्या) थी तथा दूसरे (पाण्डव-नाश के लिए) कुपित कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी।

टिप्पणी—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में दोनों सेनाओं की संख्या का उल्लेख किया है। टीकाकार राजानक रत्नकण्ठ ने अपनी टीका में अक्षौहिणी सख्या का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—हाथी २१८७०, रथ २१८७०, घोड़े ६५६१० और पैदल १०९३५० ॥ ६८ ॥

निन्दितसयत्तेभ्य श्रुत्वा च निर्वृत्तिमाजिसंयत्तेभ्यः।
दर्घादव हितवाञ्छा त धृतराष्ट्रः सजय प्राहितवाञ्छान्तम् ॥ ६९ ॥

अनुवाद—युद्ध के लिये यत्नशील उन दुर्योधनादि से पाण्डवों की वनवास-निवृत्ति सुनकर, युद्ध की निन्दा करनेवाले धृतराष्ट्र ने मन में मिलन (सधि) की इच्छा धारण करते हुए शान्त-चित्त संजय को पाण्डवों के पास भेजा।

व्याख्या—जब धृतराष्ट्र ने पाण्डवों के वनवास से लौटने का समाचार सुना तो भावी-भीषण युद्ध की कल्पना से वे दुःखी होने लगे। उन्होंने पाण्डवों और कौरवों में सन्धि कराने के विचार से संजय को भेजा ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—'दधत्' पद के साथ 'इव' जोड़कर कवि ने धृतराष्ट्र के मन का संशयात्मक-भाव द्योतित करने का प्रयास किया है ॥ ६९ ॥

सोऽपि मृषावादरत. पार्थानां प्राप्य सन्निधावादरतः।
अभ्यधित स्वामिवचः स्मरन्मतिं तस्य भूभृतः स्वामिव चः ॥ ७० ॥

अनुवाद—उस संजय ने भी पाण्डवों के समीप पहुंच कर, युद्ध से विरत करने की इच्छा से राजा दुर्योधन की मत्सर कलुषित बुद्धि का स्मरण करते हुए स्वामी धृतराष्ट्र के वचन 'चकार' के समान कह दी।

व्याख्या—जब संजय पाण्डवों से धृतराष्ट्र-द्वारा कही गयी बात कह रहा था तो उसे राजा दुर्योधन की कलुषित-बुद्धि का भी स्मरण हो आया। वह अपनी कही गयी बात पर संशय करने लगा फिर भी उसने चकार अव्यय के समान धृतराष्ट्र की सारी बात युधिष्ठिर से कह दी। जिस प्रकार 'च' अव्यय दो बातों (पदों) का जोड़नेवाला होता है उसी प्रकार संजय भी धृतराष्ट्र की बात युधिष्ठिर से और युधिष्ठिर की बात धृतराष्ट्र से केवल कहनेवाला ही था ॥ ७० ॥

अवनेरादरसहितैरपने राज्ञां समूहमुरुसायोऽपि ।
न वने नरदेवसुतैर्नवनेन निवृत्तिपथमनोऽकारि मनः ॥ ७१ ॥

अनुवाद—निवृत्ति मार्ग (वनवासावधि) की स्तुति के कारण राज-समूह के दूर हो जाने पर भी, पृथिवी की रक्षा में आदरयुक्त राजकुमारों (पाण्डवों) ने वन के विषय में पुनः विचार न किया।

व्याख्या—कवि ने पाण्डवों के अभिप्राय को इस श्लोक में थोड़ा घुमा-फिराकर अभिव्यक्त किया है। पाण्डवों का वनवास 'निवृत्ति-मार्ग' कहा गया है क्योंकि इस अवधि में उन्होंने सारे सुख ऐश्वर्यों को त्याग कर सन्यासियों का-सा जीवन व्यतीत किया था। वनवास की अवधि पूरी करके जब वे आये तो उन्होंने पृथिवी पर राज्य करने का विचार किया ॥ ७१ ॥

तन्मतवादायातः सूतो हास्तिनपुरं जवादायातः ।
प्राप शौर्यादीनां न्यवेदयत्पार्थिवाय शौर्यादीनाम् ॥ ७२ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर पाण्डवों के मत को बतलाने के लिये सारथि संजय शीघ्रतापूर्वक हस्तिनापुर आया और वहाँ पर उसने राजा धृतराष्ट्र से, श्रीकृष्ण (शौरि) आदि (युधिष्ठिरादि) के शौर्य के कारण अदीन वचनों को कह दिया।

व्याख्या—संजय से युधिष्ठिर ने चलते समय एक ही बात कही कि 'दुर्योधन अगर हमें अपना उचित भाग दे दे तो ही शान्ति बनी रह सकती है और परस्पर प्रेम भी। हम शान्ति चाहते हैं, वह हम लोगों को राज्य का एक हिस्सा दे दे। यदि सुयोधन अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और पाचवा कोई भी एक गाँव दे दे तो युद्ध की समाप्ति हो सकती है। संजय! मैं शान्ति रखने में भी समर्थ हूँ और युद्ध करने में भी। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का भी मुझे पूर्ण ज्ञान है। मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी।' यह सन्देश लेकर संजय हस्तिनापुर आया तथा धृतराष्ट्र के पूछने पर विधिवत् सुना दिया ॥ ७२ ॥

सपितामहतातेन स्वजनेन ततोऽर्थितोऽपि महता तेन ।
न तु कृतवान्छान्तेभ्यः सुयोधनो राज्यदानवाञ्छां तेभ्यः ॥ ७३ ॥

अनुवाद—पितामह (भीष्म) तथा पिता (धृतराष्ट्र) सहित अपने बन्धुओं के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी दुर्योधन ने उन शान्तिप्रिय पाण्डवों को राज्य देने की इच्छा न की।

व्याख्या—दुर्योधन की मति फिर चुकी थी अतः उसने पाँच गाँव देने की शर्त को भी अस्वीकार कर दिया। भीष्म-पितामह तथा अनेक वृद्ध-पुरुषों

ने उसे युद्ध से विरत करने के लिये समझाया-बुझाया परन्तु भला उसकी बुद्धि में सद्विचार कैसे प्रवेश कर सकता था क्योंकि 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' ॥ ७३ ॥

तदनु परा शात्यन्तं विधास्यता धर्मजेन राज्ञात्यन्तम् ।
प्रापे चिन्तापरता प्रमुष्णपा सपदि मुखरुचि तापरता ॥ ७४ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर मलिनमुखच्छविवाले धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर (भविष्य में) बन्धुओं के नाश का विचार करते हुए शीघ्र ही संतापप्रदायिनी चिन्ता को प्राप्त हुए ।

व्याख्या—युधिष्ठिर शान्ति-प्रिय थे अतः वे युद्ध न करना चाहते थे परन्तु जब दुर्योधन ने पाँच गाँव देने से भी इन्कार किया और युद्ध के लिये ही बद्धपरिकर हुआ तो युधिष्ठिर भविष्य की उस चिन्ता में डूब गये जब कि युद्धभूमि में स्थित उनके बन्धुओं का नाश होगा। भविष्य की इस शोचनीय-कल्पना से उनके मुख की कान्ति तुरन्त ही नष्ट होने लगी ॥ ७४ ॥

स प्रणयेन सहाय जगाद गोविन्दमतिशयेन सहायम् ।
नान्यो मे यादव नौरतिसमुद्रे त्वदप्रमेयादवनौ ॥ ७५ ॥

अनुवाद—वह युधिष्ठिर अत्यन्त प्रेम के साथ सहायक कृष्ण से बोले "हे यादव ! तुम अप्रमेय के सिवा कोई दूसरा, इस पृथ्वी पर मेरे दुःखरूपी समुद्र में (तारनेवाली) नौका नहीं है।'

व्याख्या—इस श्लोक में युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में पूर्णतः आत्म-समर्पण कर दिया है जो एक सच्चे भक्त का लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही युधिष्ठिर के इस सन्ताप को दूर करनेवाले हैं जिस प्रकार किसी भटके हुए पथिक को समुद्र से नौका ही पार लगाती है। केवल श्रीकृष्ण ही क्यों उनके इस कष्ट को दूर कर सकते हैं कोई अन्य देवता या शक्ति क्यों नहीं ? इस शंका का निराकरण श्लोक में आये हुए केवल एक ही पद 'अप्रमेय' से हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति या स्वरूप का निर्धारण ब्रह्मादि के द्वारा भी नहीं किया जा सकता इसी कारण वह सर्वशक्तिमान् हैं ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—'अन्यारादितरर्तेदिक्०' सूत्र के अनुसार अन्य के योग में पञ्चमी विभक्ति (त्वत्) का प्रयोग किया गया है।

'अति' उपमेय पर 'समुद्र' उपमान का आरोपण होने के कारण 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' लक्षण के अनुसार रूपकालंकार है ॥ ७५ ॥

अनुवाद—'न तो निडर कौरव पृथ्वी पर हमें हमारा राज्य प्रदान करते हैं और नहीं (इस कारण) बन्धुओं को मारना उचित है अतः इस सम्बन्ध में क्या उचित है—यह आप ही सोचें।' ॥ ७५ ॥

न हि कुरवो महान्ते राज्यं प्रदिशन्त्यभीरवो मह्यं से ।
न च जनता वध्येयं किमत्र पथ्यं त्वयैव तावद्वेयम् ॥ ७६ ॥

व्याख्या—युधिष्ठिर ने इस श्लोक से अपने कुछ श्लोकों तक सन्धि के लिये इच्छा अभिव्यक्त की है। वह अपना राज्य चाहते हैं पर कौरव किसी भी डर से उन्हें राज्य नहीं प्रदान करते। यदि राज्य-प्राप्ति लिए वह रक्तपात करते हैं, अपने अनेक बान्धवों को मारते हैं तो वह भी उचित नहीं क्योंकि यह कार्य पश्चात्ताप का कारण होगा। अतः ऐसी परिस्थिति में वे भगवान् कृष्ण का विचार जानना चाहते हैं ॥ ७६ ॥

विह्वलवपुरङ्ग त्वां याचे यदुवीर कौरवपुरं गत्वा ।
सधि पङ्कजनयन स्वया धिया स्वैर्जनैरपङ्क जनय नः ॥ ७७ ॥

अनुवाद—हे श्रीकृष्ण! मैं विह्वल-शरीर (युधिष्ठिर) आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप कौरवों की नगरी हस्तिनापुर जाकर हे कमलनयन! हे अकलुष! अपनी बुद्धि से हमारे स्वजनों के साथ सन्धि उत्पन्न करें।

व्याख्या—इस श्लोक में युधिष्ठिर ने स्पष्टरूप से श्रीकृष्ण को दुर्योधन के पास सन्धि-प्रस्ताव ले कर जाने के लिए कहा है। युधिष्ठिर का विचार है कि कौरव लोग सन्धि करके शान्तिपूर्वक समानरूप से राज्यलक्ष्मी को भोगें। युधिष्ठिर को भगवान् कृष्ण की बुद्धि पर पूरा भरोसा है क्योंकि वह कौरव और पाण्डव-दोनों को ही अच्छी प्रकार जानते हैं तथा बातचीत करने में भी खूब कुशल हैं ॥ ७७ ॥

इति रिपुराशौवन्त परिहर्तुं चक्रपाणिराशावन्तम् ।
अधरितचतुरम्बुध्या विचिन्त्य नृपतिं जगाद चतुरं बुद्ध्या ॥ ७८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कौरव-सेना के नाश को त्यागने के अभिलाष से युक्त तथा चतुर राजा युधिष्ठिर से भगवान् श्रीकृष्ण, चारों समुद्रों को भी तिरस्कृत कर देनेवाली अपनी बुद्धि से विचार करके बोले।

टिप्पणी—कवि ने श्रीकृष्ण की बुद्धि को चारों समुद्रों को तिरस्कृत कर देनेवाली कह कर उनकी अथाह गम्भीरता को प्रकट किया है। गहराई के लिये वैसे तो समुद्र लोक में प्रसिद्ध हैं पर भगवान् की बुद्धि उससे भी अधिक गहरी थी अतः वह जो कुछ सोचते या कहते थे वह सत्य होता था ॥ ७८ ॥

कुरुवृषभावनिदानं कुर्युः कुरवो न बन्धुभावनिदानम् ।
तेषां मे वचनं तु स्यादवमानस्य मूलमेव च नन्तुः ॥ ७९ ॥

अनुवाद—हे कुरुवृषभ युधिष्ठिर! कौरव लोग बन्धु भाव के मूल कारण

रूप पुष्पोद्यान को नहीं मानेंगे तथा मुझ विनीत के वचन तो उनके अपमान के मूल ही होंगे (अथवा उनके वचन मेरे अपमान के कारण ही होंगे) ॥ ७९ ॥

अपि सुरसत्त्व रमे वः श्रेयसि यास्यामि चैप सत्वरमेव ।
उदयो दैवप्रभवः प्रयत्नमात्रे वयं सदैव प्रभव. ॥ ८० ॥

अनुवाद—हे देवसम धैर्यवान् युधिष्ठिर ! मैं तो तुम्हारे कल्याण में ही प्रसन्न हूँ अतः शीघ्र ही दुर्योधन के पास जाऊँगा । कार्य-सिद्धि तो दैवाधीन है, हम तो केवल प्रयत्न ही कर सकते हैं ।

व्याख्या—'उदयो दैवप्रभव०' प्रस्तुत सूक्ति के द्वारा भगवान् कृष्ण ने मनुष्यों को कर्मवाद का उपदेश दिया है । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का सन्देश मानवमात्र का जीवन-सिद्धान्त होना चाहिये क्योंकि इसी से मानव को शान्ति संभव है । पर साथ ही फल-प्राप्ति की आशा से दूर रहने का उपदेश भी भगवान् ने दिया है क्योंकि फल तो ईश्वराधीन है । मनुष्य तो परिश्रम करनेवाला है फल कोई और देता है—Action is thy duty, rewasd is not thy Concern ॥ ८० ॥

कृतवागादान तं कृतधीरित्यर्जुनो जगादानन्तम् ।
मा लोकेश वदैवं यत्नः सुकृतोऽतियाति केशव दैवम् ॥ ८१ ॥

अनुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण के ऐसा कह चुकने पर बुद्धिमान् अर्जुन उनसे (श्रीकृष्ण) बोले 'हे लोकेश ! आप ऐसा न कहें । हे केशव ! अच्छी प्रकार से किया गया परिश्रम दैव का भी अतिक्रमण कर जाता है ।

व्याख्या—कर्म भाग्य से भी श्रेष्ठ है—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्जुन द्वारा इस श्लोक में किया गया है । अर्जुन भगवान् कृष्ण की इस बात से सहमत नहीं कि 'कार्यसिद्धि दैवाधीन है ।' उनका कहना है कि यदि कार्य ठीक रीति से किया जाता है तो वह दैव-विधान का अतिक्रमण करके सफल भी हो जाता है । अत आप अपनी ओर से अच्छी प्रकार प्रयास करें जिससे कि शत्रुओं के साथ सन्धि हो जाये । इस श्लोक में मनुष्यों का जीवन का भाग्य कर्मप्रधान बतलाकर अर्जुन ने अपना जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रदर्शित किया है ॥ ८१ ॥

विधिना वै मुख्येन स्फुटलक्षणसिद्धदेववैमुख्येन ।
देहभृतापाद्यानि श्रेयांस्यायुर्धनप्रतापाद्यानि ॥ ८२ ॥

अनुवाद—पुरुषों के द्वारा आयु, धन-प्रतापादि रूप श्रेयस्, मुख्य-विधि (पूर्वकर्म) के कारण ही प्राप्त किये जाते हैं जो (मुख्य विधि) स्फुट लक्षणों से सिद्ध ब्रह्मादि देवताओं से विमुख रहने वाली है ।

व्याख्या—अर्जुन को कर्मवाद अभीष्ट है। उनके मत में कर्म ब्रह्मादि-देवताओं की अपेक्षा नहीं करता वह तो स्वयं ही फल-प्रदाता है। इस बात की पुष्टि के लिये वे यह दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य ने इस जन्म में जो कुछ प्राप्त किया है वह प्रारब्धवशात् नहीं अपितु पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा प्राप्त किया है। इसी प्रकार आगे भी जो कुछ धनादि प्राप्त करेगा वह अपने कर्मों के कारण प्राप्त करेगा अतः वह कृष्ण से कहते हैं कि इस बात पर विश्वास रख कर आप सन्धि का प्रस्ताव लेकर दुर्योधन के पास जावें आपको फल अवश्य मिलेगा॥ ८२॥

इत्थं तावद्यतने कृष्णः पार्थे कृतस्थितावचवने।
दत्तसकलहेतु गा निपुणो निजगाद वादफलहे सुद्गाम्॥ ८३॥

अनुवाद—इस प्रकार अर्जुन के द्वारा यत्न के अनुरूप यत्न करने के लिये बल दिये जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण उस वाद-विवाद में समस्त हेतुओं से पूर्ण तथा श्रेष्ठ वचन बोले॥ ८३॥

यद्येवं नियमस्तु त्वद्दृष्टान्तेषु सारवान्नियमस्तु।
तव निपुणा मतिरेकः फलविकलश्चेन्न कर्मणामतिरेकः॥ ८४॥

अनुवाद—हे अर्जुन! इस प्रकार यदि तुम्हारे दृष्टान्त में सारयुक्त नियम है तो तुम्हारी बुद्धि को इसी में विश्वास रखना चाहिये कि कर्मों का उद्रेक फलविहीन नहीं होता है।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने प्रकारान्तर से अर्जुन के सिद्धान्त की पुष्टि की है और कहा है कि कर्म कभी फलरहित नहीं होते। यदि शुभकर्म हैं तो परिणाम शुभ होगा और यदि अशुभ कर्म हैं तो परिणाम अशुभ होगा। इस प्रकार यह कर्मवाद का सिद्धान्त ही सारवान है॥ ८४॥

अपि फलवैकल्य ते दधते केचित्फलेन वै कल्पन्ते।
तदिह भवेदिष्टस्य प्राप्तिः सत्येव संभवे दिष्टस्य॥ ८५॥

अनुवाद—हे अर्जुन! इस संसार में कुछ लोग यत्न करने पर भी असफल होते हैं और कुछ लोग सफल होते हैं। इस लिये इस संसार में पूर्वकर्मों के उदित होने पर ही इष्ट की प्राप्ति होती है, नान्यथा।

व्याख्या—संसार में ऐसा भी देखा जाता है कि लोग परिश्रम करते हैं पर फिर भी उन्हें फल की प्राप्ति नहीं होती और कुछ लोगों को बिना कुछ किये ही फल प्राप्त हो जाता है। इसका कारण उनके पूर्व-जन्म का कर्म है। पूर्वकर्मों के कारण ही मनुष्य इस संसार में फल प्राप्त करता है। अतः मनुष्य को सदैव अच्छे कर्म ही करने चाहिये॥ ८५॥

तत्र सुदर्शनहेतौ वदतीत्थ दर्शितात्मदर्शनहेतौ।
अतिसमानवदिष्टस्वजनो भीमोऽपि नीतिमानवदिष्ट ॥ ८६ ॥

अनुवाद—अपने मत के हेतुओं को प्रकट कर देने वाले सुदर्शन चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार बोल चुकने पर पूजनीय बन्धुओंवाले तथा नीतिज्ञ भीम बोले।

व्याख्या—भीम के लिये जो 'अतिसमानवदिष्ट' विशेषण प्रयुक्त किया गया है वह उनके भाइयों की ओर सङ्केत करता है जो अपने अलौकिक एवं अनुपम गुणों के कारण साधु-मण्डली के मध्य पूज्य हो गये थे ॥ ८६ ॥

क्रियतां केशव भाम स्वजनैः सार्धं यथान्धकेश वसाम।
सुहृदो नाम सहाया विपदो मोक्षाय देहिनामसहायाः ॥ ८७ ॥

अनुवाद—हे केशव! हे अन्धकेश! आप कुछ ऐसा कार्य करें जिससे हमलोग स्वजनों (कौरवों) के साथ मिलकर रहने लगें क्योंकि दुःसह विपत्ति से प्राणियों को छुटकारा दिलाने के लिए मित्र ही सहायक होते हैं।

व्याख्या—भीम ने भी अपनी प्रबल इच्छा कौरवों के साथ सन्धि की प्रकट की है। उसका कहना है कि भगवन्! आप जो कुछ कहें मधुर और कोमल वाणी में धर्म और अर्थ से युक्त उनके हित की बात कहें। हम सब दुर्योधन के नीचे रहकर बड़ी विनम्रतापूर्वक उसका अनुसरण करने को भी तय्यार हैं जिससे कि हमारे कारण भरतवंश का नाश न हो। आप कौरवों की सभा में जाकर ऐसा कहें जिससे भाई-भाइयों में मेल बना रहे। क्योंकि जब विपत्ति आती है तो भाई ही विपत्ति से मोच दिलाता है। अतः लड़कर रहने में लाभ नहीं प्रत्युत मिलकर रहना ही ठीक है ॥ ८७ ॥

इत्थं संध्याशान्तं दधतं सवितारमिव संध्याशां तम्।
ऊचे भीमं देवः स्मित्वा तव बुद्धिरद्य भीमन्देव ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार संध्या के समय अशान्त सूर्य के समान सन्धि की अभिलाषा करनेवाले भीम से मुस्कुराते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बोले 'हे भीम! आज तुम्हारी बुद्धि भय के कारण मन्द सी मालूम पड़ रही है।'

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने भीम की उपमा अशान्त सूर्य से दी है। क्योंकि सन्ध्याकाल सूर्य ढलने लगता है। उसका सारा तेज नष्ट होने लगता है। उसी प्रकार इस समय भीम भी विनाश की कल्पना से निर्वीर्य एवं हताश हो रहे हैं। जो अपनी वाणी और शरीर से लोगों में भय उत्पन्न किया करते थे वे इस समय स्वयं भय से मानों कातर हो रहे हैं ॥ ८८ ॥

शतमहितानामवृथा हन्तुं किल सापि याक्कृता नाम वृथा ।
वदसि हि संधातु गा भवतो बत भीम सधा दुद्वा ॥ ८९ ॥

अनुवाद—हे भीम ! जो तुमने सौ शत्रुओं (कौरवों) को मारने की प्रतिज्ञा की थी वह व्यर्थ रही क्योंकि आश्चर्य है इस समय तुम सन्धि की बात कह रहे हो । हे भीम ! तुम्हारी प्रतिज्ञा तो महान् है ।

व्याख्या—भीमसेन के मुँह से कभी किसी ने नम्रता की बातें नहीं सुनी थीं । अतः उनके ये वचन सुन कर श्रीकृष्ण हँस पड़े और फिर भीमसेन को उत्तेजित करते हुए बोले 'भीमसेन ! तुमने अपने भाइयों के बीच में गदा उठा कर यह प्रतिज्ञा की थी कि संग्राम-भूमि में सामने आने पर गदा से ही मैं दुर्योधन-सहित सौ भाइयों का वध कर डालूँगा' किन्तु इस समय तो तुम युद्ध से भय मानने लगे हो । तुम्हारा उत्साह ढीला पड़ गया है । तुम किसी प्रकार का विषाद मत करो और अपने क्षत्रियोचित कर्म पर डटे रहो ॥ ८९ ॥'

अपि शङ्केऽलावूनां मज्जनमेतद्यदाजिकेलावूनाम् ।
बुद्धिं भीमायासि त्वरितो ननु सयुगाय भीमायासि ॥ ९० ॥

अनुवाद—हे भीमसेन ! आज जो तुम युद्ध के लिये उत्सुक नहीं दीखते तथा समरक्रीडा में तुम्हारी बुद्धि ग्लानि का अनुभव कर रही है उससे ऐसा मालूम होता है जैसे कि तुम्बी जल में डूब गयी हो ।

व्याख्या—भीम सदैव युद्ध की बात करते थे पर आज अकस्मात् सन्धि के लिए उत्सुक है जो एक अद्भुत बात है अतः इस अद्भुत बात की उत्प्रेक्षा कवि अलावू-मज्जन से करता है । जैसे कि तुम्बी जो कि सदैव जल में उतराती रहती है पर कभी जल में डूब जाये उसी प्रकार सदैव युद्ध के लिये इच्छुक भीम की बुद्धि आज सधि का विचार कर रही है । यह कैसी अद्भुत बात है । यह तो उसी प्रकार अभूतपूर्व एवं अद्भुत है जैसे कि पर्वत का हल्का होना और आग का ठंडा होना । जैसा कि महाभारत के उद्योगपर्व में आया है—

'अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपगत वच. ।
गिरेरिव लघुत्व च शीतत्वमिव पावके ॥ ९० ॥'

इति रभसेनोवाच श्रुत्वा कृष्णस्य भीमसेनो वाच. ।
पुष्टो भव दाशार्ह स्यात्समरः सदा एव [भवदाशार्हः ॥ ९१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्ण के वचन सुनकर भीमसेन उत्कण्ठा के साथ बोले 'हे दाशार्ह ! प्रसन्न होइए । आपकी आज्ञा के अनुकूल शीघ्र ही युद्ध होगा ।'

व्याख्या—श्रीकृष्ण के द्वारा उलाहना व निन्दा प्राप्त कर भीमसेन

उत्तेजित हो उठे अपने यथार्थ स्वभाव को प्राप्त हो गये। उनकी विनम्रता केवल उनके सौहार्द को प्रकट करती है वैसे वे युद्ध से नहीं डरते। भगवान् कृष्ण ने केवल उनका भाव जानने की इच्छा से प्रेम से पूर्वकथित बातें कहीं थीं क्रोध के कारण नहीं॥ ९१॥

टिप्पणी—'दाशार्ह' पद श्रीकृष्ण का सम्बोधन है। 'दशार्ह' नामक प्राचीन काल में एक जनपद था। भगवान् कृष्ण उसके स्वामी थे अतः इन्हें 'दाशार्ह' कहा गया॥ ९१॥

विदलितमस्तककुम्भिव्रातभ्रमणभ्रमत्समस्तककुम्भि।
उरुबलकङ्करवाणि प्रधनान्यचिराद्भयानक करवाणि॥ ९२॥

अनुवाद—हे भगवन्! मद के कारण फूटे हुए गण्डस्थल से घूमनेवाले हाथियों के समूह से घूमती हुई दशों दिशाओं वाले तथा बड़े-बड़े बालोंवाले कंक-पक्षियों के शोर से युक्त युद्धों को, मैं शीघ्र ही भयानक कर दूँगा।

व्याख्या—भीमसेन ने इस श्लोक में अपने स्वभाव के अनुसार भावा का भी प्रयोग किया है। जब फूटे हुए मस्तकों से विशालकाय हाथियों के समूह युद्ध में सर्वत्र घूमेंगे तो ऐसा लगेगा कि युद्ध की भयानकता के कारण दशों दिशाएँ घूम रही हैं अथवा दशों दिशाओं के घूमने के कारण युद्ध भयानक हो जावेंगे। बड़े-बड़े बालोंवाले कंक-नामक पक्षी मांसादि खाने के लिये युद्ध-भूमि में आवेंगे। जिससे उसकी भयानकता और भी अधिक बढ़ जावेगी॥ ९२॥

रणभुवि केशव सासृक्पङ्कपुरीतत्कपालकेशवसासृक्।
जवभागदयाऌनां द्विषां ततिं पातयामि गदया ऌनाम्॥ ९३॥

अनुवाद—हे केशव! युद्धभूमि में, रक्त-कर्दम सहित आँतों, कपालों, केश एवं वसा (चर्बी) को उत्पन्न करनेवाला मैं, शीघ्रतापूर्वक, अपनी गदा से घायल हुई क्रूर शत्रुओं की पंक्ति को गिरा दूँगा।

व्याख्या—इस श्लोक में भीम ने अपने को अत्यन्त क्रूर एवं निर्दयी प्रदर्शित किया है। युद्ध-भूमि में वह शत्रुओं को मार कर रक्त की नदियों के साथ उनकी आँतों, कपालों, केश और वसादि को भी बिखेर देनेवाला है। शत्रुओं के मारने में वह अत्यन्त निपुण एवं सिद्धहस्त है॥ ९३॥

इति कृतपारुष्यं तं निगदन्तं गाश्च निष्कृपा रुष्यन्तम्।
अरिदुःसहसंनाहः स्मित्वा पुरुषोत्तमः स स हसन्नाह॥ ९४॥

अनुवाद—इस प्रकार कृपाशून्य वचनों को बोलते हुए तथा क्रोध करते

हुए कठोर भीम से, शत्रुओं के द्वारा दुःसह संनाह वाले भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कुराते हुए बोले ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—'सन्नाह' पद का अर्थ युद्ध की तय्यारी अथवा कवच होता है। दोनों ही अर्थ यहाँ पर ग्राह्य हैं। भगवान् कृष्ण की सैन्य-शक्ति या उनके कवच को शत्रु भी सहन नहीं कर सकते थे अर्थात् रिपुओं के द्वारा वे अजेय थे ॥ ९४ ॥

न वचो मेऽवहेय भीम भवद्दीपनार्थमेव हेयम्।
क्रुद्धधिया ननु भवता वध्या रिपवस्तदपनयानुभवता ॥ ९५ ॥

अनुवाद—हे भीम! तुम मेरे वचनों को अपमान रूप मत मानना। ये तो तुम्हें उत्साहित करने के लिये मैंने कहे हैं। कौरवों की (द्रौपदीकेशाकर्षणादिरूप) कुनीतियों को अनुभव करनेवाले तुमको क्रुद्ध बुद्धि से निश्चित ही शत्रुओं का वध करना चाहिये।

व्याख्या—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान् कृष्ण ने भीम के प्रभाव और पराक्रम को अच्छी प्रकार जानते हुए भी केवल इस भाव से उपर्युक्त कटु-वचन कहे थे जिससे कि भीम का सोया हुआ तेज जाग सके और वह अपने अपमान का बदला ले सके। जिस प्रकार ऊसर-भूमि में बोए हुए बीज के अंकुरित होने की कभी आशा नहीं होती उसी प्रकार शान्ति का व्यवहार भी कौरवों के साथ निष्फल है ॥ ९५ ॥

इति कृतसनाहृरये कृष्णे गमनाय तदनु सभा हरये।
हृदय सारोदारं ध्वनती कृष्णा समेत्य सारोदारम् ॥ ९६ ॥
एष दयालो केशा स्मार्यः सन्धित्सता त्वया लोकेश।
इति कलिताघि कचयो भारं पुरोऽदर्शयत्स्थिताधिकचयो ॥ ९७ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् जब जाने के लिए तय्यार हुए तो पास में खड़ी हुई अतिश्रेष्ठ द्रौपदी फूट फूट कर रोती हुई श्रीकृष्ण के पास आकर उनके हृदय को व्यथित करती हुई अपने केश-समूहों को दिखाने लगी (और बोली) 'हे दयालो! हे लोकेश! सन्धि करने की इच्छा से जाते हुए आपको मेरे केश भी याद रखने चाहिये ॥'

व्याख्या—जब भगवान् कृष्ण सन्धि के लिये हस्तिनापुर जाने लगे तो द्रौपदी अपने काले-काले लम्बे केशों को बायें हाँथ में लिए हुए श्रीकृष्ण के पास आयी और नेत्रों में जल भरकर उनसे कहने लगी 'हे श्रीकृष्ण! शत्रुओं से सन्धि करने की आप की इच्छा है, किन्तु अपने इस सारे प्रयत्न में आप

दुःशासन के हाथों से खींचे हुए इस केश-पाश को याद रखें। यदि मैंने दुःशासन की साँवली भुजा को कटकर धूलिधूसरित होते न देखा तो मेरी छाती कैसे ठण्डी होगी ?' इतना कहकर विशालाक्षी द्रौपदी का कण्ठ भर आया, आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी, ओठ काँपने लगे और वह फूट फूट कर रोने लगी।

उपर्युक्त श्लोकों का आशय यही है कि आप उन क्रूर कौरवों के साथ जो सन्धि करने जा रहे हैं, क्या वह उचित है ? अर्थात् नहीं। उनका तो वध ही किया जाना चाहिये ॥ ९६-९७ ॥

प्रवरे सञ्चारीणामचिराद् द्रक्ष्यसि वधं प्रसन्नारीणाम्।
इति परदेवनतान्तामाश्वासयदच्युतः पदेऽवनतां ताम् ॥ ९८ ॥

अनुवाद—'हे पतिव्रताओं में श्रेष्ठ कृष्णे ! तुम प्रसन्न-वदन होकर शीघ्र ही दुर्योधनादि शत्रुओं के वध को देखोगी' इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने पैरों पर झुकी हुई द्रौपदी को ढाँढस बधाया जो शत्रुओं के द्यूत (देवन) के कारण दुःखी थी (अथवा सन्ताप के कारण—परिदेवन—खिन्न थी)।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण द्रौपदी की यह दशा देखकर उसे धैर्य बँधाते हुए बोले 'कृष्णे ! तुम शीघ्र ही कौरवों को नष्ट हुआ देखोगी। आज जिन पर तुम्हारा कोप है उन शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर उनकी स्त्रियाँ भी इसी प्रकार रोवेंगी, जिस प्रकार तुम रो रही हो। अपने आँसुओं को रोको। मैं सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूं कि तुम शीघ्र ही शत्रुओं के मारे जाने से अपने पतियों को श्रीसम्पन्न देखोगी' ॥ ९८ ॥

स च रथमहितापीडं ध्वजं दधानं पतङ्गमहितापीडम्।
काञ्चनदारुकशालीकृतमधिरूढो जगाम दारुकशाली ॥ ९९ ॥

अनुवाद—फिर भगवान् कृष्ण रथ पर सवार होकर हस्तिनापुर गये। जिस पर अपनी वाणी से सर्पों को संतप्त करनेवाला (अहितापीड) तथा शत्रुओं को पीडित करनेवाला पक्षिराज गरुड से चिह्नित ध्वज लगा हुआ था। जो (रथ) सोने की लकड़ी और सोने की लगाम से युक्त था तथा जिसका सारथि दारुक था ॥ ९९ ॥

पथि जनता पाद्यस्य प्रगृह्य पात्रं प्रसन्नतापाद्यस्य।
भक्तिनता पाद्यस्य प्रान्तं नन्ता व्यपैति तापाद्यस्य ॥ १०० ॥

अनुवाद—(हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किये हुए) भगवान् श्रीकृष्ण के मार्ग में भक्ति से प्रणत जनता प्रसन्नता के कारण प्रतिपाद्य पाद्य पात्र का

लेकर उनके पास आयी जिनके (श्रीकृष्ण) प्रणाम करनेवाले भक्तजन (त्रिविध) ताप से अन्त प्राप्त करते हैं अर्थात् जिनसे लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—मार्ग में भक्ति के कारण जन-समूह अपने हाथों में अर्घ्य-जल ले लेकर आया क्योंकि उनके प्रणाम करनेवाले इस संसार में तीनों प्रकार के सन्तापों—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—से मुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः अपना कल्याण चाहने की इच्छा से अनेक लोग मार्ग में उनके सत्कार के लिए आने लगे ॥ १०० ॥

प्रमुदितपौरवरसदः स हास्तिनपुरं समेत्य पौरवरसदः।
वसतिं वासायात' क्षत्तुर्भक्तस्य पीतवासा यातः ॥ १०१ ॥

अनुवाद—पुरुवंशी कौरवों और पाण्डवों को सन्धि रूप रस प्रदान करनेवाले श्रीकृष्ण, प्रमुदित कौरव-श्रेष्ठ की सभा से युक्त हस्तिनापुर नगर में पहुँचे फिर उसके बाद पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण निवास करने के लिये अपने भक्त विदुर के घर गये।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण सबसे पहले हस्तिनापुर पहुँचे। दुर्योधन को छोड़कर सभी लोग उनकी अगवानी के लिए आये। वहाँ पर अतिथि-सत्कार ग्रहण करने के पश्चात् वे अपने भक्त विदुर के घर रहने के लिये आये। वहीं पर उन्होंने भोजन इत्यादि भी ग्रहण किया ॥ १०१ ॥

तत्र च परमायस्तां पितृष्वसारं निरस्तपरमायस्ताम्।
शोकान्धामापादौ तस्याः प्रणनाम च त्रिधामा पादौ ॥ १०२ ॥

अनुवाद—वहाँ (हस्तिनापुर) पर उत्कृष्ट माया का भी त्याग कर देनेवाले प्रणवरूप कृष्ण (अथवा अकार, उकार तथा मकार वर्णरूप ब्रह्मादि स्थानवाले प्रणव पद-वाचक श्रीकृष्ण) पहले अत्यन्त खिन्न एवं शोकान्ध अपनी बुआ के पास पहुँचे तथा उनके चरणों में प्रणाम किया।

व्याख्या—कृष्ण की बुआ कुन्ती विदुर के घर में रहती हुई भी अत्यन्त दुःखी थी क्योंकि उसके पुत्र एवं पुत्रवधू उसके जीते-जी अनेक कष्टों को भोग रहे थे। भगवान् कृष्ण ने सबसे पहले उन्हें जाकर प्रणाम किया ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—कवि ने श्रीकृष्ण के लिये जो 'त्रिधाम' शब्द का प्रयोग किया है उसके कई अर्थ हैं। 'धाम' पद का अर्थ तेज या स्थान होता है। श्रीकृष्ण के तीन धाम (तेज) ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप हैं। अथवा उनका प्रणव 'ओ३म्' रूप शब्द जिसके अकार, उकार और मकार रूप वर्ण क्रमशः ब्रह्मादिस्थान के वाचक हैं अथवा 'त्रिधाम' प्रणवरूप शब्द—जो परमात्मा का

वाचक है—भी कहा जा सकता है। अथवा कृष्ण के तीन धाम (स्थान) पाताल लोक, पृथ्वी लोक और द्युलोक भी कहे जा सकते हैं जहाँ पर विष्णु रूप से वे व्याप्त हैं। इस प्रकार 'त्रिधाम' पद अनेक अर्थों के बोध के साथ-साथ उनकी सर्वव्यापकता का बोध कराता है ॥ १०२ ॥

प्राणसमानमनन्तं कुन्ती परिरभ्य कृतसमानमनं तम्।
अरुदत्कंसाराते क दया मत्सुतगताधिकंसारा ते ॥ १०३ ॥

अनुवाद—सम्यक् प्रणाम करते हुए तथा प्राणों के समान प्रिय कृष्ण को कुन्ती अपने गले से लगाकर रोने लगी (और बोली) 'हे कृष्ण ! मेरे पुत्रों के प्रति तुम्हारी वह अत्यधिक श्रेष्ठ दया कहाँ गयी ? ।'

व्याख्या—अपने प्रिय व्यक्ति को प्राप्त कर दुःखी व्यक्ति की आँखों से आँसू बहना स्वाभाविक है। कृष्ण अपनी बुआ को अत्यधिक प्रिय थे अतः कुन्ती भी उन्हें गले से लगाकर रो पड़ी। कुन्ती को कृष्ण के ऊपर भरोसा था। उसका विश्वास था कि कृष्ण पाण्डवों के ऊपर विशेषरूप से दयालु हैं अतः संकट पड़ने पर अवश्य ही उनका साथ देंगे। उसके पुत्रों ने जीवन में अनेक कष्ट भोगे पर अभी तक कृष्ण ने कहीं कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखाया अत. वह उन्हें उलाहना देने लगी ॥ १०३ ॥

इत्थं सारोदान्तामाश्वास्य जनार्दनोऽथ सारोदां ताम्।
भुक्त्वान्नं विदुरस्य न्यवसत्प्रियमीदृशं जनं विदुरस्य ॥ १०४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार श्रेष्ठ (सारां) एवं दुःखी (उदान्ताम्) तथा रोती हुई अपनी बुआ कुन्ती को भगवान् कृष्ण धैर्य बँधाकर विदुर के घर खाना खाकर वहीं रहे। (पण्डितजन) श्रीकृष्ण के ऐसे भक्तों को अत्यन्त प्रिय मानते हैं (जिनके यहाँ वे भोजनादि करते हैं)।

व्याख्या—कुन्ती दुःख से अत्यन्त व्याकुल थी। उसकी बातें सुनकर कृष्ण ने उसे यह कहकर धैर्य बँधाया 'बुआ जी ! तुम्हारे समान सौभाग्यवती और कौन स्त्री होगी। तुम वीरमाता और वीरपत्नी हो। तुम जैसी महिलाएँ ही इस प्रकार दुःख सह सकती हैं। तुम शीघ्र ही पाण्डवों को नीरोग और सफल मनोरथ देखोगी। उनके सारे शत्रु मारे जायेंगे और वे सम्पूर्ण लोकों का आधिपत्य पाकर राजलक्ष्मी से सुशोभित होंगे।' ॥ १०४ ॥

समभाप क्षत्त्रा स प्रातः समिति कृतारिपक्षत्रास ।
उद्धिसमाने तुङ्गां जगाद जनने सधिमानेतुं गाम् ॥ १०५ ॥

अनुवाद—शत्रु-पक्ष को भय-प्रदान करनेवाले श्रीकृष्ण प्रातःकाल विदुर

के साथ कौरवों की सभा में गये। कौरव और पाण्डवों के बीच सन्धि उत्पन्न करने के लिये वे समुद्र के समान (गम्भीर) सभा में महती अर्थगर्भित वाणी बोले ॥ १०५ ॥

मतिबलमानयशोभी रुचिरः सत्त्वक्षमारमानयशोभी ।
वंशो वै रमणीयः पौरव भवता न वै रमणीयः ॥ १०६ ॥

अनुवाद—हे कुरुवंशज धृतराष्ट्र ! आपका वंश हर प्रकार से रमणीय है। मति, मान और यश से वह अत्यन्त मनोहर है। (आपका वंश) धैर्य (सत्व) क्षमा, लक्ष्मी और नीति से सुशोभित हो रहा है परन्तु इस वंश में छोटा-सा भी वैर अच्छा नहीं लगता।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने धृतराष्ट्र से पहले तो कुरुवंश की प्रशंसा की पर दुर्योधनादि द्वारा वंश में उत्पन्न हुए वैर की आलोचना भी की। उन्होंने कहा 'महाराज ! इस समय राजाओं में कुरुवंश ही श्रेष्ठ है। यदि आप कुल को नाश से बचाना चाहते हैं तो मेरे विचार से दोनों पक्षों में सन्धि होनी चाहिये। आपके कुल में यह वैर अच्छा नहीं लगता। दूसरे फिर यह वैर तो आपके कुल का ही नाश करनेवाला है। अतः आप इसे शीघ्र ही किसी न किसी प्रकार दूर करें।' ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—'रमणीय' पद यद्यपि श्लोक में पुल्लिङ्ग में रखा हुआ है परन्तु 'वैर' के साथ अन्वय करने के लिये इसका लिङ्गविपरिणाम करना पड़ेगा अर्थात् इसे नपुंसक-लिङ्ग मानना पड़ेगा ॥ १०६ ॥

इह महितेऽनाशास्यात्त्वयापराधान्महीपते नाशः स्यात् ।
जगति हि स मुदा रमते बन्धुरतं यस्य मानसमुदारमते ॥ १०७ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! आपके अस्पृहणीय छोटे से अपराध के कारण, इस वैर में आपके वंश का नाश हो जावेगा। हे उदारमते ! इस संसार में वह आनन्द से रमण करता है जिसका मन अपने बन्धुओं में रत है।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में वैर के कारण भावी-संहार की ओर संकेत किया है। इस संसार में आनन्द से रहने के लिये उन्होंने एक नुस्खा दिया है जो वास्तव में सर्वमान्य है। जिसके मन में अपने बन्धुओं के प्रति प्रेम है वह सदैव आनन्द भोगता है और जिसके मन में द्वेष वह जीवन भर कष्ट भोगता है। कृष्ण बोले—'कौरव और पाण्डवों के मिल जाने से आप समस्त लोकों का आधिपत्य प्राप्त करेंगे तथा शत्रु कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे तथा जो राजा आपके समरथ या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ सन्धि कर लेंगे ऐसा होने से आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदों से सब प्रकार

सुरक्षित रहकर सुख से जीवन व्यतीत करेंगे। और सारी पृथ्वी का आनन्द से भोग कर सकेंगे' ॥ १०७ ॥

अपि सतत चेष्टन्ते धृतराष्ट्र पृथासुता हित चेष्टं ते।
नियत पदयातेषु क्रियता भवतापि भूमिप दया तेषु ॥ १०८ ॥

अनुवाद—हे धृतराष्ट्र ! पाण्डव तो सदैव तुम्हारे हित और इष्ट के लिये ही चेष्टा किया करते हैं। अत: हे राजन् ! चरणों में आये हुए उन पाण्डवों पर आपको निश्चित ही दया करनी चाहिये ॥ १०८ ॥

नियतं माता तातस्त्वमेव तेषां विरुन्धि मा तातातः।
मुदितमना नामर्धं दिश तेभ्यो राज्यगृहधनानामर्धम् ॥ १०९ ॥

अनुवाद—हे धृतराष्ट्र ! निश्चित ही तुम उन पाण्डवों के माता और पिता हो हे तात ! उनसे तुम विरोध मत करो। प्रसन्न होकर समृद्ध राज्य, गृह और धन का आधा भाग उन पाण्डवों को दे दो।

व्याख्या—कृष्ण धृतराष्ट्र को पाण्डवों के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान करा रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार माता अपने बच्चे का पालन करती है तथा पिता उसकी रक्षा करता उसी प्रकार आप भी पाण्डवों के माता-पिता हैं। उन्होंने आपकी आज्ञा मान कर वनवास की अवधि पूरी की है। वनवास की शर्त होने के समय पाण्डवों का यह निश्चय था कि जब वे लौटेंगे तो आप उनके ऊपर पिता की तरह रहेंगे। उन्होंने अपनी शर्त का पालन किया है अतः आप भी जैसा ठहरा था, वैसा बर्ताव करें। उन्हें अब अपने राज्य का आधा भाग मिल जाना चाहिये ॥ १०९ ॥

दत्त्वा राज्यांशमदः कुलं च परिपाल्य शत्रुराज्यां शमदः।
पथि परिकल्पय शस्ते पाण्डुसुतं पाहि देवकल्प यशस्ते ॥ ११० ॥

अनुवाद—हे धृतराष्ट्र ! शत्रु-समूह को शान्त करनेवाले आप अपने राज्य का अंश देकर कुल की रक्षा करते हुए पाण्डवों के साथ सन्धि करें। (अर्धराज्य-प्रतिपादनरूप) प्रशंसित मार्ग में पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को अधिष्ठित कराइये। हे देवसम धृतराष्ट्र ! अपने यश की रक्षा कीजिए ॥ ११० ॥

त्वं च सुयोधन मत्तः शृणु गिरमपगच्छति श्रियो धनमत्तः।
तस्मादशस्तेभ्य प्रदीयतां तरितुमापद शस्तेभ्यः ॥ १११ ॥

अनुवाद—हे सुयोधन ! तुम भी मुझसे मेरी बात सुनो। अत्यन्त लोभी (धनमत्त) व्यक्ति लक्ष्मी से दूर चला जाता है। अतः (विनाशरूप) आपत्ति से पार होने के लिए तुम उन प्रशंसनीय पाण्डवों को राज्य का अंश (पाँच गाँव) दे दो।

व्याख्या—धृतराष्ट्र को समझाने के बाद श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाना प्रारंभ किया। जो व्यक्ति लोभ के वश में धर्म का त्याग कर देता है उसके पास से लक्ष्मी भी चली जाती है। इसके अतिरिक्त यदि तुम पाण्डवों का राज्यांश देकर संधि न करोगे तो निश्चित ही तुम्हारे वंश का नाश होगा। अतः इस नाश से बचने के लिये तुम उनका हिस्सा लौटा दो, इसी में तुम्हारा कल्याण है ॥ १११ ॥

इदमपि दुर्योधन ते यदाम्यहं विदितमस्तु दुर्योधनतेः ।
राज्यमहार्यं तेभ्यस्तव जीवत्यर्जुने महार्यन्तेभ्यः ॥ ११२ ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन ! मैं यह भी तुमसे कहता हूँ कि शकुन्यादि दुष्ट योद्धाओं के द्वारा प्रणाम किये जानेवाले तुमको यह मालूम हो कि अर्जुन के जीते रहते महान् शत्रुओं का नाश करनेवाले उन पाण्डवों से राज्य नहीं छीना जा सकता।

व्याख्या—अर्जुन का पृथक् निर्देश करके भगवान् कृष्ण ने सारे पाण्डवों से भी बढ़कर अर्जुन के पराक्रम को बतलाया है। अर्जुन जब तक जीवित है तब तक पाण्डवों का राज्य तुम लोग छीन नहीं सकते। अत उत्तम यही है कि बिना युद्ध किये पाण्डवों से तुम संधि कर लो और उनका आधा राज्य लौटा दो ॥ ११२ ॥

पतितं तोयदवारि स्फुरितैरिषुभिः समन्ततो यदवारि ।
धाम मतावध्यस्य ध्येयमनेनैव रिपुशतावध्यस्य ॥ ११३ ॥

अनुवाद—हे सुयोधन ! खाण्डववन-दाह के समय जिस अर्जुन ने अपने फेंके गये बाणों से इन्द्र के द्वारा की गयी जल वृष्टि को चारों ओर से रोक लिया था (वह घटना) बुद्धि में रखकर सैकड़ों शत्रुओं के द्वारा भी अवध्य उस अर्जुन का तेज तुम्हें सोच लेना चाहिये।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण कुछ श्लोकों के द्वारा अर्जुन के अदम्य-पराक्रम का वर्णन दुर्योधन के सामने कर रहे हैं। खाण्डव-वनदाह की घटना का स्मरण कराके वह दुर्योधन को यह बतलाना चाहते हैं कि जब इन्द्र भी उसे न जीत सके तो तुम्हारे जैसे प्राणी भला युद्ध में उसे कैसे जीत सकेंगे ॥ ११३ ॥

न विदितवानङ्ग तवान्यत्किं स हरेणापि सङ्गमं गतवान्यत् ।
तद्भसं यच्छ मन प्रयच्छ राज्यं च दत्तसंयच्छ्मनः ॥ ११४ ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन ! क्या तुम्हें उसका दूसरा अद्भुत कर्म नहीं पता

है कि उसने किरातवेषधारी शंकर के साथ भी सामना किया ? अतः तुम युद्ध में अपना मन मत लगाओ। युद्ध को शान्त करके तुम उन्हें राज्य दे दो।

व्याख्या—अर्जुन के अखण्ड तेज एवं वीर्य की व्याख्या करने के लिए भगवान् कृष्ण ने दूसरा उदाहरण लिया है। अर्जुन तो इतना वीर है कि युद्ध में वह शंकर से भी भिड़ गया और उसके विजयी होने पर शंकर भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे पाशुपतास्त्र भेंट किया और शंकर जैसे देवताओं को भी परास्त किया उसका सामना करने के लिए भला तुम्हारी सेना में कौन ऐसा वीर है जो रणभूमि से सकुशल घर लौट सकता है। अतः हे दुर्योधन ! यह सब मालूम होते हुए भी तुम युद्ध करने के लिये उत्सुक हो ॥ ११४ ॥

अपि विरसं ग्रामाणा पञ्चकमथ वा शमाय समामाणाम्।
तेभ्यः पौरव देहि प्रीतिं प्रीतेषु पौरवदेहि ॥ ११५ ॥

अनुवाद—अथवा हे दुर्योधन ! संग्राम की शान्ति के लिये तुम इन्द्रप्रस्थादि तुच्छ पाँच गाँव उन पाण्डवों को दे दो। हे पुरुवंशज ! तुम इन (पाँच ग्रामों से ही) सन्तुष्ट पाण्डवों के प्रति पुरवासियों के समान प्रीति प्राप्त करो अर्थात् जिस प्रकार पुरवासी इनको देखकर हर्षित होते हैं उसी प्रकार तुम भी उनके प्रति हर्षित हो।

व्याख्या—जब भगवान् कृष्ण ने देखा कि दुर्योधन किसी भी प्रकार आधा राज्य देने के लिए राजी नहीं होता तो उन्होंने पाँच गाँव देने की बात उसके सामने रख कर उसे समझाना चाहा पर उसने एक न सुनी ॥ ११५ ॥

कृतविरमायामुक्तौ कृष्णस्यैवं क्षणेन मायामुक्तौ।
वृद्धौ महितावार्यौ भीष्मद्रोणावथो न महितावार्यौ ॥ ११६ ॥
सोदरमध्यगमन्ये तथैव सुहृदः समाजमध्यगमन्ये।
अधिकतरामर्षिभ्यां सार्धमयाचन्त कण्वरामर्षिभ्याम् ॥ ११७ ॥

अनुवाद—भगवान् कृष्ण के इस प्रकार कह चुकने पर थोड़ी देर के लिये सब लोग (अहन्तारूप) माया से मुक्त हो गये। इसके बाद शत्रुओं के द्वारा दुर्निवारणीय, वृद्ध, पूज्य तथा आर्य भीष्म और द्रोणाचार्य ने तथा अत्यधिक क्रोधी कण्व तथा परशुराम महर्षि, सभा में आये हुए दूसरे मित्रों ने भाइयों के बीच में बैठे हुए दुर्योधन से (सन्धि के लिये) प्रार्थना की।

व्याख्या—कृष्ण के नीतियुक्त वचनों को सुनकर सभी सभासदों को प्रसन्नता हुई। सभी लोगों ने श्रीकृष्ण के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। यहाँ तक कि भीष्म, द्रोणाचार्य, कण्व ऋषि और क्रोधी परशुराम ने भी दुर्योधन को प्रस्ताव स्वीकार करने के लिये समझाया परन्तु उसने किसी की भी बात-

न मानी क्योंकि 'प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति' ॥ ११६–११७ ॥'

तत्र समक्षमवाचां सुहृदां दुर्योधनं समक्षमयाचाम्।
निजसुतमुत्तमया च त्वरया नृपतिर्निरस्तमुत्तमयाचत् ॥ ११८ ॥

अनुवाद—उस सभा में दुःखी राजा धृतराष्ट्र ने चमारूप वाणी वाले मौन मित्रों के समक्ष शीघ्र ही अपने पुत्र दुर्योधन से प्रार्थना की।

व्याख्या—राजा धृतराष्ट्र का 'निरस्तमुद्' होना स्वाभाविक ही था क्योंकि उनके पुत्र दुर्योधन ने दुष्ट-बुद्धि धारण कर रखी थी। उसने अनीति व कुनीति का आश्रय ले रखा था। फिर भी पिता ने अपने पुत्र को अपना कर्तव्य समझकर सभी लोगों के सामने श्रीकृष्ण के प्रस्ताव (पाँच ग्राम-दान रूप) को स्वीकार करने के लिये समझाया-बुझाया पर यह सब वैसा ही हुआ जैसे ऊसर-भूमि में बोया गया बीज ॥ ११८ ॥

शृणु सुत सामान्यस्य त्वं शौरेः सर्वलोकसामान्यस्य।
समनसा मान्यस्य स्वान्तं खलु वाचि रंहसा मा न्यस्य ॥ ११९ ॥

अनुवाद—हे पुत्र! सारे लोक के सामान्य-भूत (मध्यस्थभूत) तथा पूज्य इन श्रीकृष्ण की प्रार्थना को विशुद्ध मन से सुनो। हे पुत्र! भगवान् कृष्ण की बात पर तुम अपने मन को वेग से मत रखो अर्थात् अपने मन को धीरे से स्थिर करके इनकी बात पर अपने मन को बैठाओ।

व्याख्या—धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र को समझाया कि देखो भगवान् कृष्ण जो कुछ भी कह रहे हैं वह बात बड़ी ही सारवान् और गम्भीर है उसकी उपेक्षा मत करो बल्कि ध्यानपूर्वक सुनकर उस पर अपना मन बैठाओ अर्थात् उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लो ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—भगवान् श्रीकृष्ण को 'सर्वलोक-सामान्य' कहकर कवि ने उन्हें सारे जगत् में व्याप्त होना बतलाया है। क्योंकि परमात्मा तो हर स्थान पर मध्यस्थ या द्रष्टास्वरूप से विद्यमान है। इसी (परमात्मा) की प्राप्ति या तादात्म्य कैवल्य कही गयी है। कैवल्य का लक्षण 'सांख्यसप्तति' में इस प्रकार दिया है—'कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च' ॥ ११९ ॥

अथ हरिमानीतान्तःशुचा गुरुव्याहृतेन मानी तान्तः।
सुहृदां तापन्याय वाचा निजगाद साधितापन्यायम् ॥ १२० ॥

अनुवाद—इसके बाद अन्तःकरण में शोक उत्पन्न करनेवाले अपने पिता के द्वारा कहे गये वचनों से खिन्न तथा अभिमानी दुर्योधन, मित्रों को सन्ताप पहुँचानेवाली वाणी से कुनीतियों का उल्लेख करता हुआ, श्रीकृष्ण से बोला।

व्याख्या—'साधितापन्यायम्' क्रिया-विशेषण दुर्योधन की उन कुनीतियों तथा कुतर्कों की ओर संकेत करता है जो उसने श्रीकृष्ण के सम्मुख राज्य न लौटाने के विषय में वक्ष्यमाण श्लोकों में प्रस्तुत किया है ॥ १२० ॥

यादव मान्यङ्केन तिष्ठन्तमेव मान्य केन।
सकलजना गर्हन्ते श्रोतु तद्वाक्यमपि मनागर्हं ते ॥ १२१ ॥

अनुवाद—हे यादव ! स्वाभिमानियों के चिह्न धारण करके अपने को सम्माननीय प्रदर्शित करनेवाले तथा किसी के द्वारा मान्य ? (अर्थात् किसी के द्वारा भी सम्मान न किये जानेवाले) पुरुष की सभी लोग निन्दा करते हैं। अत' हे यादव ! ऐसे पाण्डवों की बात सुनना भी क्या उचित है ? अर्थात् ऐसे व्यक्तियों की तो हम बात भी नहीं सुन सकते।

व्याख्या—अर्थापत्ति अलङ्कार अथवा काकु के द्वारा दुर्योधन ने इस श्लोक में पाण्डवों की बात का पूर्ण रूप से अनादर व तिरस्कार किया है। उसका कहना है कि जो व्यक्ति अज्ञातवास में अपने को छिपाये रहे अथवा जो लोग अपने जीवन-काल में अपने को सम्माननीय प्रदर्शित करते रहे भला उन्हें कौन मानेगा तथा उनकी बात कौन सुनेगा ? इस प्रकार वह कृष्ण के आधे राज्य-दान के प्रस्ताव (या पाँच गाँव के प्रस्ताव) को ठुकरा देता है ॥ १२१ ॥

वसुधा मे नाम पितुः श्रितवान् पाण्डुस्तदर्थमेनामपि तु।
तद्दायादस्येयं कथं भवेन्नैव ता भयादस्येयम् ॥ १२२ ॥

अनुवाद—हे कृष्ण ! यह पृथिवी तो मेरे पिता की है। पाण्डु (चाचा) ने तो उनके लिये (पिता जी के लिये) भूमि का आश्रय लिया था अर्थात् उनके भागीदार थे। अतः यह भूमि उसके पुत्र की कैसे हो सकती है ? हे यादव ! मैं अपने पिता की भूमि को कभी भी नहीं त्याग सकता।

व्याख्या—मदान्ध राजा दुर्योधन ने भूमि न देने के लिये एक कुतर्क श्रीकृष्ण के सम्मुख प्रस्तुत किया है जो नितान्त हास्यास्पद है। उसका कहना है कि वास्तविकता में तो भूमि मेरे पिता जी की है। मेरे पिता जी अन्धे थे अतः राज्य ठीक से न चला सकने के कारण पाण्डु ने इस भूमि पर राज्य किया पर इसका अर्थ यह नहीं कि अब उनके बाद उसके पुत्र इसके भागीदार बनें। यह भूमि तो कुलक्रम से अपने पिता जी से मैंने प्राप्त की है। मैं तो कदापि इस भूमि का कोई भी हिस्सा पाण्डवों को नहीं दे सकता क्योंकि वैधानिक रूप से वे इसके अधिकारी नहीं ॥ १२२ ॥

अपि च निगूढो वासः पणितः पार्थैर्न सम्यग्गूढो वासः।

दापयितायन्या यस्तस्मादस्मासु कः स लाघवन्यायः ॥ १२३ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त पाण्डवों ने द्यूत-क्रीडा के समय (एक वर्ष का) अज्ञातवास की शर्त रखी थी जिसका निर्वाह उन लोगों ने ठीक प्रकार से नहीं किया। इसलिये जो न्याय उन पाण्डवों को भूमि दिलानेवाला है (अज्ञातवास का सम्यक् पालन और निर्वाह) वह भला हमारे साथ कहाँ किया गया ?

व्याख्या—दुर्योधन का विचार है कि अज्ञातवास की अवधि में पाण्डवों का अभी भी कुछ समय शेष है। इसी शर्त के पूरा होने पर वे अपने राज्य के भागी होते। यदि इसके बिना ही उन्हें राज्य देनेवाला न्याय आप कर रहे हैं तो फिर हमारे ऊपर कौन सा न्याय होगा ? अर्थात् शर्त के पूरा किये बिना उनको राज्य देना न्याय नहीं ॥ १२३ ॥

अवृणे यादव निधनं न ददामि स्वल्पमपि भयादवनिधनम्।
समरे सञ्जाशङ्कः क्षत्रयुवा नार्थयते समाशं कः ॥ १२४ ॥

अनुवाद—हे यादव ! मैं मृत्यु का वरण कर सकता हूँ पर भय के कारण तनिक भी भूमि न दूँगा। आशंका-युक्त होने पर (अपने शरीर के विषय में) भला कौन क्षत्रिय-युवक युद्ध में अपने सुन्दर नाश (मृत्यु) की इच्छा नहीं करेगा ? अर्थात् प्रत्येक क्षत्रिय वीर युद्ध में मरना श्रेयस्कर मानता है।

व्याख्या—दुर्योधन ने इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के सम्मुख 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव' वाली बात स्पष्ट रूप में कह दी है। उसका साथ ही यह भी कहना है कि जब कोई क्षत्रिय देखता है कि मेरा इस संसार में रहना या न रहना निश्चित नहीं अथवा अपने शरीर में किसी प्रकार की शिथिलता देखता है तो युद्ध-भूमि में मरना ज्यादा अच्छा समझता है क्योंकि यदि वह जीत जाता है तो फिर पृथिवी का भोग करता है और यदि मर जाता है तो स्वर्ग प्राप्त करता है जैसा कि गीता में उल्लेख है 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' ॥ १२४ ॥

इत्थं सामोदस्य ब्रुवतः श्रुत्वा वचोऽस्य सामोदस्य।
वचनं मानवददयं धृष्णिश्रेष्ठोऽथ विकृतिमानवददयम् ॥ १२५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार (श्रीकृष्ण की) बात की उपेक्षा करके सहर्ष बोलते हुए दुर्योधन के वचनों को सुनकर, क्रोध तथा अभिमान के साथ भगवान् कृष्ण दयारहित वचन बोले।

व्याख्या—दूत कर्म करनेवाले भगवान् कृष्ण के प्रस्ताव को जब दुष्ट

दुर्योधन ने उपर्युक्त बातें कहकर ठुकरा दिया तो भगवान् कृष्ण ने भी दूसरा रुख अपनाया। उन्होंने बिना किसी औपचारिकता के उससे कठोर वचन कहने प्रारम्भ किये। उसके प्रत्येक तर्क का उत्तर उन्होंने वक्ष्यमाण श्लोकों में दिया है ॥ १२५ ॥

वाञ्छितमस्तु तवाद: प्राप्स्यसि निधनं त्वमेवमस्तुतवाद:।
क: खलु शंसत्येन: स्थितवति धर्मात्मजे भृश सत्येन ॥ १२६ ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। अमंगल बात कहनेवाले तुम मृत्यु (ही) प्राप्त करोगे। सत्यवादी धर्मात्मा युधिष्ठिर के रहते हुए भला कौन अमंगल (या पाप) की बात कह सकता है ?

व्याख्या—पूर्वोक्त श्लोक में दुर्योधन ने 'प्रवृणे यादव निधनम्' आदि जो कुछ अभिमानवश कहा था उसका उत्तर भगवान् कृष्ण ने इस श्लोक में दिया है। उन्होंने कहा 'दुष्टमते ! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो तुम अवश्य ही मृत्यु का वरण करोगे। तुमने जो कुछ कहा है वह राजा युधिष्ठिर के सामने कोई भी कहने का साहस नहीं कर सकता। अतः तुम्हारा नाश अवश्यम्भावी है ॥ १२६ ॥

सत्त्वमितवता तेन क्षितिधृता पाण्डुना न तव तातेन।
तत्र सदासावन्धः पार्थिवभावो भवेद्यदा सावन्धः ॥ १२७ ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन ! सात्त्विकभाव को प्राप्त राजा पाण्डु ने ही इस भूमि को धारण किया है तुम्हारे पिता (धृतराष्ट्र) ने नहीं। क्योंकि वह तो सदैव अन्धे (तामस प्रकृतिमान् या नेत्रविहीन) रहे हैं और राजत्व (पार्थिव-भाव) तो तब होता है जबकि पुरुष शरीर से सावधान या स्वस्थ (सावन्ध) हो।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन को 'वसुधा में पितुः' श्लोक का उत्तर दिया है। वे बोले 'तुम कहते हो कि भूमि मेरे पिता की है और मैं कहता हूँ वास्तविकता में भूमि के पालक राजा पाण्डु थे। क्योंकि तुम्हारे पिता तो अन्धे होने के कारण कुछ कार्य कर ही न सकते थे और फिर राजा तो वह होता है जो शरीर से स्वस्थ हो। जब शरीर ही स्वस्थ नहीं अथवा पुरुष जागरूक नहीं तो भला उसका राजत्व कैसा ? इस प्रकार तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है। पाण्डु ही वास्तव में राजा थे और इस भूमि के हिस्सेदार या अधिकारी भी उनके पुत्र युधिष्ठिर हैं ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—'असावन्धः' पद से दो अर्थों की कल्पना की जा सकती है। एक तो यह कि धृतराष्ट्र नेत्रविहीन है और दूसरे यह कि वह तामस

प्रकृतिवाला है। अतः कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से शून्य होने के कारण यह अच्छा है ॥ १२७ ॥

अपि च पराज्ञातेन प्रपूरितं धर्मजेन राज्ञा तेन।
सकलमिहालोपेन व्यक्तं विज्ञायते महालोकेन ॥ १२८ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने, बिना किसी से पहचाने गये, अपनी अवधि को पूरा किया है। इस संसार में महापुरुष लोग इस सारी बात को स्पष्ट रूप से जानते हैं।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन की इस बात का उत्तर कि पाण्डवों ने अपनी अज्ञातवास की अवधि को पूरा नहीं किया है इस श्लोक में दिया है। दुर्योधन की गणना वास्तव में अशुद्ध थी और युधिष्ठिर की शुद्ध ॥ ११८ ॥

यैः क्रियते जगति बलादक्षतरक्षोभिमानसारोद्धारः।
ते पार्थास्तव दर्पं दक्षतरक्षोभिमानसा रोद्धारः ॥ १२९ ॥

अनुवाद—जो पाण्डव इस संसार में हठात्, राक्षसों के अक्षत अभिमान-सार का उन्मूलन किया करते हैं वे ही अत्यन्त दक्ष और शुद्ध चित्त पाण्डव तेरे घमण्ड को भी चूर-चूर करेंगे।

व्याख्या—दुर्योधन ने १११ वें श्लोक में अभिमानवश 'प्रभुत्वे याद्व नियमम्' आदि कहकर जो युद्ध में क्षत्रिय-धर्म निभाने की बात कही है उसका सायक् उत्तर श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में दिया है। वे बोले 'हे दुर्योधन! यदि तेरी यही इच्छा है तो निश्चित ही सारे पाण्डव मिलकर तुझे मृत्यु के मुख पहुँचायेंगे क्योंकि वे तो सदा ही दुष्टों के अभिमान को नष्ट करते आये हैं ॥ १२९ ॥

यः सुतरां ज्यायस्तः पतत्रीणां यस्य दृढतरा ज्यायस्तः।
यो न हरात्यायस्तः स च भीमश्च प्रभू स्वराज्याय स्तः ॥ १३० ॥

अनुवाद—हे दुर्योधन! वह अर्जुन पक्षियों में श्रेष्ठ गरुड से भी अधिक वेगवाला है जिसका धनुष (लोहे से भी अधिक) कठोर है। जो (अर्जुन) किरातवेषधारी शंकर के साथ भी युद्ध में खिन्न नहीं हुआ। ऐसा वह अर्जुन और भीम दोनों ही अपने राज्य (को लौटाने) के लिये समर्थ हैं।

व्याख्या—श्रीकृष्ण भगवान् अब कतिपय श्लोकों में अर्जुनादि की प्रशंसा कर रहे हैं। वे दुर्योधन को अर्जुन के पराक्रम से परिचित करा रहे हैं। अर्जुन की वीरता का प्रमाण यह है कि वह युद्ध-भूमि में शंकर से भी न हारा तथा शंकर ने उससे प्रसन्न होकर अपना पाशुपतास्त्र प्रदान किया। अतः यदि वे चाहें तो तुम्हें भी समाप्त कर अपना राज्य ले सकते हैं ॥ १३० ॥

टिप्पणी—'स च भीमश्च' पदों में 'च' पद को दो बार प्रयुक्त करने के पीछे कवि का उद्देश्य दोनों की ही प्रधानता बतलाना है ॥ १३० ॥

येऽश्च पुरा सन्नेमे रथतो निद्रावता धुरा सनेमे ।
ते पुनरामन्ने मे कुर्युर्गाण्डीविनो निरास नेमे ॥ १३१ ॥

अनुवाद—जिस अर्जुन के कारण पहले (विराट की गो-हरण के समय) ये भीष्मादि (महारथी) सुन्दर नेमि वाले रथ से उतर कर (प्रस्वापनास्त्र के द्वारा) निद्रा को प्राप्त करा दिये गये थे वे लोग पुनः (सारथि रूप में) मेरे आसन्न रहने पर भला गाण्डीवी को पराजित कैसे कर सकेंगे? अर्थात् कदापि नहीं ।

व्याख्या—अर्जुन के बल और पराक्रम की प्रशंसा करने के लिये श्रीकृष्ण ने अब दूसरी घटना को इस श्लोक में उद्धृत किया है । जब राजा विराट की गौओं को हरने के लिये दुर्योधन ने हमला किया था तो अर्जुन ने ही अपना प्रस्वापनास्त्र छोड़कर सबको निद्रावश कर दिया था । भगवान् कहते हैं कि उस समय तो अर्जुन अकेला ही था परन्तु अबकी बार जब मैं उसका सारथि बनूँगा तो उस समय वे ही भीष्मादि महारथी कदापि अर्जुन को न जीत सकेंगे । अतः हे सुयोधन ! तुम दुराग्रह छोड़ दो और युद्ध का मत ठानो' ॥ १३१ ॥

इति गिरमुद्रामस्यः श्रुत्वास्य रिपुश्चलत्समुद्रामस्य ।
विधुरावनिरासनतः प्रोदपतत्सदसि यादसनिरासनतः ॥ १३२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार चलते हुए समुद्र के समान (क्षोभयुक्त) भगवान् कृष्ण की बातें सुनकर, क्रोध में आकर दुर्योधन श्रीकृष्ण का निरादर करने के लिये सभा में अपने आसन से उठ खड़ा हुआ । उसके वेग से उठने के कारण पृथ्वी काँप उठी ।

व्याख्या—जिस समय भगवान् कृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उस समय बीच में ही दुःशासन दुर्योधन से इस प्रकार कहने लगा 'राजन् ! आप यदि अपनी इच्छा से पाण्डवों के साथ सन्धि नहीं करेंगे तो मालूम होता है ये भीष्म, द्रोण और हमारे पिता जी आपको, मुझे और कर्ण को बाँधकर पाण्डवों के हाथ में सौंप देंगे' । भाई की यह बात सुनकर दुर्योधन का क्रोध और भी बढ़ गया और वह साँप की तरह फुफकार मारता हुआ सभी का तिरस्कार कर वहाँ से चलने को तय्यार हो गया ॥ १३२ ॥

अविकत्थमाशान्तस्य क्षारात्मानं निबद्धुमाशां तस्य ।
घुष्टोमासुरहा स प्राजृम्भत क्षणेन भासुरहासः ॥ १३३ ॥

अनुवाद—उस आत्यधिक क्रुद्ध दुर्योधन की इच्छा, अपने को बाँधने की जानकर, राक्षसों का नाश करनेवाले तथा अत्यन्त स्वच्छ हासवाले श्रीकृष्ण क्षुब्ध हो उठे और थोड़ी देर के लिये उन्होंने जँभाई ली।

व्याख्या—दुर्योधन ने सभा छोड़कर अपने मन्त्रियों सहित श्रीकृष्ण को कैद करने का परामर्श किया। सात्यकि उसके इस भाव को जान गये और उन्होंने यह बात श्रीकृष्ण को बतलायी। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने विश्वरूप दर्शन के लिये अट्टहास किया॥ १३३॥

धृतमहिम स्तम्बान्तं ब्रह्माद्यं जगदिद समस्तं वान्तम्।
आदायानन्तेन स्वजठरभागे ततः शयानं तेन॥ १३४॥

अनुवाद—इसके पश्चात् भगवान् कृष्ण ने ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त विशाल जगत् को जो उनके उदर-भाग में स्थित था, प्रकट किया।

व्याख्या—भगवान् कृष्ण ने जब जम्हाई ली तो उनके उदर में स्थित सम्पूर्ण जगत् दिखलाई देने लगा। ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्चमात्र उनके उदर-भाग में स्थित था। आदित्य, रुद्र, वसु और समस्त महर्षिगण वहीं मौजूद थे। उनके ललाटदेश में ब्रह्मा, वक्षःस्थल में रुद्र, भुजाओं में लोकपाल और मुख में अग्निदेव थे। उनके नेत्र, नासिका और कर्णरन्ध्रों से बड़ी भीषण आग की लपटें तथा रोमकूपों में से सूर्य की सी किरणें निकल रही थीं॥ १३४॥

तत्र च राधेयाद्यः संघो कश्चिदच्युतापराधेऽयाद्यः।
असमजत मोह तान्वः शान्तनवाद्योऽत्यजत्तमोहन्तान्तः॥ १३५॥

अनुवाद—उस सभा में जिस कर्णादि समूह ने श्रीकृष्ण के प्रति (रोधन रूप) अपराध की अभिलाषा की, वह (कर्णादि-समूह) खिन्न होकर मूर्छित हो गया तथा, हर्ष की बात है, कि भीष्मादि-समूह ने अपने हृदय में अज्ञान रूप अन्धकार छोड़ दिया।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के भयङ्कर रूप को देखकर सब राजाओं ने भयभीत होकर आँखें मूँद लीं। जो कर्णादि वीर भगवान् को बांधने का प्रयास कर रहे थे वे तो मूर्छित ही हो गये। केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर और संजयादि ही उनका दर्शन कर सके क्योंकि भगवान ने उन्हें दिव्य दृष्टि दी थी। भगवान् के दर्शन में लीन होने के कारण भीष्मादि के अन्तःकरण का अज्ञानरूपान्धकार भी उस समय समाप्त हो गया था॥ १३५॥

तत्र च सानन्दानां शिष्याणां मण्डलानि सानन्दानाम्।
आत्तमहायोगानामभवतेरुर्भूतले विहायोगानाम्॥ १३६॥

अनुवाद—इसके बाद फिर उस सभा में महान् योगी, गगनधारी तथा सानन्द सनक-सनन्दनादि मुनियों के समूह (भगवान् की स्तुति के लिए) पृथिवी पर उतरे।

व्याख्या—भगवान् का यह अद्भुत कृत्य देखने के लिए तथा उनकी स्तुति करने के लिये सनक-सनन्दनादि ऋषि पृथिवी पर आये। ये ऋषि महान् योगी थे। योगशास्त्र में ये इतने अधिक पारगत थे कि आकाश में भी स्वेच्छा से विचरण कर सकते थे ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—'विहायस्' शब्द आकाश के लिये प्रयुक्त किया जाता है—विहाय: गगन गच्छन्ति ये तेषाम् ॥ १३६ ॥

समितिस्तुष्टाव च सा गदाधरं गद्गदेन तुष्टा वचसा।
जय जय पङ्कजनेत्र प्रसीद विध्वस्तपङ्क जनेऽत्र ॥ १३७ ॥

अनुवाद—प्रसन्न होकर उस सभा ने गद्गद-वचनों से गदाधारी विष्णु की स्तुति का 'हे कमलनयन! आपकी बारंबार जय हो। हे भक्तों के पापों को नाश करनेवाले भगवन्! आप इस व्यक्ति पर प्रसन्न हों।'

व्याख्या—भक्त गद्गद कण्ठ से स्तुति तब करता है जब वह भक्ति-निमग्न होता है। देवता-सहित सभा भी उनके दर्शन करके आनन्दित हो उठी थी और अपने ऊपर अनुग्रह करने के लिये स्तुति करने लग गयी थी ॥ १३७ ॥

टिप्पणी—'वीप्सायां द्विरवम्' सूत्र के अनुसार 'जय' पद की पुनरुक्ति की गयी है जिसका अर्थ 'बारंबार नमस्कार' किया गया ॥ १३७ ॥

इदमपि जन्मान्येभ्यः समस्तदुरितक्षयं प्रजन्मान्येभ्यः।
अतिसुकृतवदेवाय ज्ञातं नो दर्शनेन तव देवाय ॥ १३८ ॥

अनुवाद—हे देवार्य! हमारा यह जन्म भी दूसरे पूज्य जन्मों से अधिक पुण्यवान् है—यह हमने आज जाना है क्योंकि आपके दर्शन से हमारे इस जन्म के सारे पाप नष्ट हो गये हैं।

व्याख्या—वहाँ की सारी सभा ने अपने वर्तमान जन्म (जीवन) को अत्यधिक पुण्यवान् माना क्योंकि इस जन्म में भगवान् के दर्शन हो जाने से सभा के सारे पाप क्षय को प्राप्त हो गये। यह सब उनके पुण्य और प्रभु के अनुग्रह का ही फल है ॥ १३८ ॥

व्यक्तिरमायाख्यातुः स्वच्छज्ञानान्वितस्य सा माया तु।
शक्तिरज तव देव प्रस्फुरिता शुक्तिकासु रजतवदेव ॥ १३९ ॥

अनुवाद—हे अज (विष्णो)! हे देव! यह (जगद्रूप) व्यक्ति आपकी

(माया रूप परम) शक्ति से ही स्फुरित हुई है जिस प्रकार शुक्ति (सीप) में चाँदी का आभास होता है। (आपका) ध्यान करनेवाले तथा शुद्ध ज्ञान से युक्त पुरुषों के द्वारा ही यह (जगद्रूपा) व्यक्ति बाधित हो सकती है।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि के वेदान्तदर्शन का ज्ञान स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हो रहा है। वेदान्त-दर्शन के मत में ब्रह्म ही एक सत्य है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किञ्चन'। इस संसार में जो भी कुछ दिखलायी दे रहा है यह उस ब्रह्म की अघटित-घटना-पटीयसी माया का ही कर्तृत्व है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' जिस प्रकार रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में कभी-कभी रजत की प्रतीति होती है उसी प्रकार उस माया के कारण चैतन्यरूप ब्रह्म में मिथ्या जगत् की प्रतीति होती है। जीव और आत्मा के बीच माया का यह पर्दा ज्ञान रूप प्रकाश से ही दूर किया जा सकता है। माया का पर्दा हटने पर जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जगत् की यह सत्ता तो प्रातिभासिक है पारमार्थिक सत्ता तो केवल ब्रह्म है।

सभा द्वारा की गयी यह स्तुति वास्तव में कवि के दार्शनिक ज्ञान की प्रकाशिका है ॥ १३९ ॥

सविकासत्वे रजसो रक्षां च मृदुनि सत्त्वेऽज नयन्।
भुवनवितान तमसि क्षपयन्ननु सत्यमच्युतानन्तमसि ॥ १४० ॥

अनुवाद—हे अच्युत! (तम और सत्व को अभिभूत कर) रजोगुण के विकसित होने पर इस भुवन-समूह की रक्षा करते हुए (विष्णुरूप से), (रज और तम के अभिभूत होने पर) सत्वगुण के उदित होने पर, (ब्रह्मा रूप से) हे अज!, भुवन समूह की उत्पत्ति करते हुए तथा (उसी प्रकार से) (सत्व और रजोगुण को अभिभूत कर) तमोगुण के उत्पन्न होने पर (रुद्र रूप से) भुवन-लोक का नाश करते हुए, निश्चित ही, आपही यह (चिद्रूप) अनन्त (ब्रह्म) हैं।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने अपने सांख्य-दर्शन के ज्ञान का संक्षेपतः परिचय दिया है। सभा ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा 'भगवन्! एक अद्वितीय ब्रह्म आपही हैं क्योंकि आपही अपने विभिन्न रूपों (या शक्तियों) से इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं।' सांख्य दर्शन में तीन गुण (सत्व, रज, तम) बतलाये गये हैं जिनके क्रमशः प्रकाश (या ज्ञान), प्रवृत्ति एवं मोह रूप कार्य हैं। यह जगत् इन्हीं तीन गुणों से बना हुआ है। परमशक्ति में जब सत्वगुण उदित होता है तो यह विष्णु रूप से जगत की उत्पत्ति, रजोगुण उदित होने पर ब्रह्मारूप से स्थिति और तमोगुण उदित

होने पर रुद्र रूप से जगत् का संहार करती है। इसी की ओर संकेत करते हुए भगवान् ने गीता में कहा है—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' ॥ १४० ॥

दूरगमक्षरतायाः प्रचक्षतेऽनक्षगम्यमक्षरतायाः।
रूपं नादमयं ते शब्दे चेतांसि ये जना दमयन्ते ॥ १४१ ॥

अनुवाद—जो लोग शब्द रूप परब्रह्मस्वरूप में अपने मन को स्थिर करते हैं, वे आपके रूप को नादमय (घोषादि नादों से अतिरिक्त) बतलाते हैं तथा वह (नादमय) रूप चक्षुरादि इन्द्रियों में रत (अकार, उकार, मकार रूप) अक्षरता से भी परे है एवं (चक्षुरादि) इन्द्रियों से अगम्य है (अथवा अकार से लेकर क्षकारान्त वर्ण से अगम्य है)।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में वैयाकरणों के दर्शनशास्त्र की मीमांसा की है। कुछ लोग शब्द को ही ब्रह्म मानते हैं। प्रत्येक शब्द का नाद है जो स्फोट कहलाता है। यह नित्य है। अकार, उकार, मकारादि वर्ण तो ध्वंसात्मक हैं परन्तु इनसे भी परे एक रूप है जो इन्द्रियों का विषय नहीं उसे 'परनाद' कहते हैं। सभा ने स्तुति की कि हे कृष्ण! आपके रूप की लोग भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या करते हैं। कुछ लोग तो आपको परनादस्वरूप ही बतलाते हैं।

परब्रह्म का वाचक वेदों का प्रणव शब्द ॐ है। इसकी तीन मात्राएँ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था की बोधक हैं। चैतन्य रूप ब्रह्म तीनों ही अवस्था में विद्यमान है परन्तु शुद्ध परब्रह्म तो इन तीनों ही अवस्थाओं से परे है जिसे तुरीयावस्था के नाम से जाना जाता है जहाँ पर किसी भी मात्रा का अस्तित्व नहीं होता।

प्रस्तुत स्तुतिपरक श्लोकों में कवि ने अपने पाण्डित्य-वैभव का चमत्कार प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उसके प्रत्येक दर्शन में सम्यक् पैठ है ॥ १४१ ॥

गीर्भिरमेयज्ञेये निरता नित्याभिरुत्तमे यज्ञे ये।
तुलिताम्भोदेहन्ते पूजयितुं त्वन्मयाः प्रभो देहं ते ॥ १४२ ॥

अनुवाद—हे मेघसदृश श्याम कृष्ण! नित्य वेदस्वरूप वाणी के द्वारा अमेय ज्ञेय तथा उत्तम यज्ञ में जो लोग लगे रहते हैं वे आपकी भक्ति में लीन, हे प्रभो! (लोकानुग्रह के लिये साक्षात् अवतीर्ण) आपकी देह की पूजने की आकांक्षा करते हैं।

व्याख्या—सभा भगवान् कृष्ण की अब भिन्न प्रकार से स्तुति करती है।

वेद कर्म-काण्ड का विधान करते हैं। अतः ऐसे यज्ञ के द्वारा ही स्वर्ग की या ईश्वर की प्राप्ति होती है—यह मीमांसकों का मत है। इसी कारण मीमांसक लोग वेदों को स्वतः प्रामाण्य एवं अपौरुषेय मानते हैं और यज्ञों को मुक्ति का साधन। यही विष्णु के भक्त आपके देह की उपासना या तो शालिग्राम के रूप में करते हैं या लोक के कल्याण के लिये अवतीर्ण अवतारों की पूजा करते हैं। इस प्रकार इस संसार में हे भगवन्! लोग भिन्न-भिन्न रूप और प्रकार से आपकी उपासना किया करते हैं ॥ १४२ ॥

तरसन्नोदध्वान्तस्त्वां हृदि मरुतश्च मुनिजनो रुद्ध्वान्तः।
अविकारमणीयांस सकलं वा स्मरति देव रमणीयांसम् ॥ १४३ ॥

अनुवाद—महान् मोह (अज्ञान) को नष्ट कर देनेवाले मुनि-जन अपनी (प्राणापानरूप) वायुओं को (प्राणायाम के द्वारा रेचक, पूरक, कुम्भक क्रम से) रोककर (समाधि में) आपके (पृथिवी आदि षोडश विकारों से पृथक्) विकाररहित परमाणुरूप को स्मरण करते हैं अथवा (जाग्रतावस्था में) हे देव! आपके रमणीय कन्धोंवाले तथा शंख, चक्र, गदाधारी स्वरूप का स्मरण करते हैं।

व्याख्या—योगी लोग ईश्वर के दर्शन भिन्न प्रकार से करते हैं। वे समाधि में रेचकादि प्राणायाम द्वारा अपनी वायु को वश में करके परमात्मा के अणुरूप का दर्शन करते हैं अथवा जाग्रतावस्था में आपकी चतुर्भुज मुद्रा का स्मरण करते हैं ॥ १४३ ॥

वादिभिरेतत्तत्त्वं ध्रुवमिति यद्यन्मतं हरे तत्तत्त्वम्।
तमसामस्तमयाय प्रभो नमस्ते समस्तमयाय ॥ १४४ ॥

अनुवाद—हे हरे! यह निश्चित है कि विविध वादियों के द्वारा जो स्वीकार किया गया वह तत्त्व आप ही हैं। अतः मोहरूप अन्धकार के अस्तरूप तथा त्रिजगन्मय प्रभो! आपको नमस्कार है।

व्याख्या—कवि ने सभा द्वारा की जानेवाली स्तुति का उपसंहार इस श्लोक में किया है। सारे मत, दर्शन और पन्थ के द्वारा जो तत्त्व स्वीकार किया गया उस सबका पर्यवसान एक आपमें ही होता है। जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्र में ही मिलती हैं भले ही वे किसी रास्ते से जावें उसी प्रकार सारे मत आपके ही स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं जैसा कि कहा भी गया है—'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' ॥ १४४ ॥

इति मुनिजाद कलयन्नानार्थवतीर्गिरो निजातङ्कलयम्।
भक्तिरसादनमत्तं भगवन्त सदसि तत्प्रसादनमत्तम् ॥ १४५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार सभा में, श्रीकृष्ण के प्रसाद से मत्त मुनि समूह ने नानार्थगर्भित स्तुति करते हुए, भक्तिरस के साथ, अपने आतङ्क (संसारमय रोग) का लय करनेवाले भगवान् कृष्ण को प्रणाम किया ॥ १४५ ॥

टिप्पणी—भगवान् कृष्ण के लिये कवि 'निजातङ्कलय' विशेषण प्रयुक्त किया है जो कई अर्थों को ध्वनित करता है। प्रथम तो यह कि भगवान् कृष्ण ने अपने आतङ्क (विश्वरूपदर्शनजनित भय) को समाप्त किया अर्थात् अपनी माया को समेट लिया और दूसरे यह कि वह इस संसारमय रोग (आतङ्क) का अपने में विलयन करनेवाले थे। इस प्रकार कवि ने इस विशेषण को प्रकरण के औचित्य को ध्यान में रख कर प्रयुक्त किया है ॥ १४५ ॥

अथ धृतनानाविग्रः स्वमायया शौरिररिजनानाविध्य।
शैलसमस्तम्भवनं विधूय निर्यातवान् समस्तं भवनम् ॥ १४६ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त नाना विग्रहों को धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण अपनी माया से शत्रुओं को कँपाकर, पर्वत के समान स्तम्भ-वनों से व्याप्त समस्त सभा-मण्डपको कम्पित करके बाहर निकल गये।

व्याख्या—जो भी शत्रु भगवान् कृष्ण को बांधने के लिये आगे बढ़े थे वे भगवान् के विश्वरूप को देखकर भय के कारण काँपने लगे। तत्पश्चात् भगवान् भी सक्रोध सभा से बाहर निकल पड़े ॥ १४६ ॥

निरतः संधावहितं राधेयं चानुनीय संधावहितम्।
पार्थान् पुनरापायं जनार्दनश्चिन्तयन् रिपुरापायम् ॥ १४७ ॥

अनुवाद—पीछे दौड़ने में लगे हुए शत्रु कर्ण को शान्त करके, सन्धि में रत भगवान् कृष्ण शत्रुओं के विनाश का विचार करते हुए पाण्डवों के पास आये ॥ १४७ ॥

पुंसः परमतमस्य श्रुत्वा वचनेन तदनु परमतमस्य।
पार्थाः सन्नाहितया चम्वा चेलू रणाय सन्ना हितया ॥ १४८ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् परम श्रेष्ठ भगवान् कृष्ण के वचनों के द्वारा शत्रु के मन को जानकर दुःखी पाण्डव युद्ध के लिये हितकारिणी तथा सुसज्जित सेना के साथ चल पड़े।

व्याख्या—अपने भाइयों के निश्चय को जानकर सहृदय पाण्डवों का दुःखी होना स्वाभाविक था। वे अति पराक्रमी होते हुए भी अपने भाइयों के विनाश के समर्थन में न थे परन्तु दुर्योधन के व्यवहार को जानने के बाद पाण्डवों के पास अब युद्ध के सिवाय कोई और चारा भी शेष न था ॥ १४८ ॥

कृतकोपक्षेपास्ते कुरवः पार्थाश्च सन्धिपक्षेऽपास्ते ।
क्षेत्र परमाजिहत स्वर्गं प्राप्नोति यत्र परमाजिहतः ॥ १४६ ॥

अनुवाद—सन्धि-पक्ष के समाप्त हो जाने पर कुपित हुए कौरव और पाण्डव उत्कृष्ट कुरुक्षेत्र में (युद्ध के लिए) आये । जहाँ पर महासंग्राम में मरा हुआ पुरुष स्वर्ग प्राप्त करता है ॥ १४९ ॥

तत्र तु विरराम रणाद् राधेयः कुरुचमूपतेरामरणात् ।
कौरवगणनेत्रा स प्रोक्तोऽर्धरथो रथीभगणनेऽत्रासः ॥ १५० ॥

अनुवाद—रणभूमि में कर्ण (राधेय), कौरव-सेनापति भीष्मपितामह के मरण-पर्यन्त युद्ध से निवृत्त हो गया क्योंकि कौरवगण के नेता भीष्म ने निर्भय कर्ण को रथ-महारथादि की गणना में अर्धरथ ही गिना था ॥ १५० ॥

टिप्पणी—दुर्योधन ने जब बड़ी अनुनय-विनय करके भीष्म को सेनापतित्व के लिये राजी किया तो भीष्म ने भी कहा कि 'भले ही पाण्डु के पुत्रों को मैं नहीं मार सकता फिर भी मैं नित्य-प्रति उनके पक्ष के दस-हजार योद्धाओं का संहार कर दिया करूँगा । तुम्हारे सेनापतित्व को मैं एक शर्त के साथ स्वीकार कर सकता हूँ । इस युद्ध में या तो पहले कर्ण लड़ले या मैं लड़लूँ; क्योंकि इस संग्राम में यह सूत-पुत्र सदा ही मुझसे बड़ी लाग-डाँट रखता है । इस पर कर्ण ने कहा 'गंगापुत्र भीष्म जब तक जीवित रहेंगे, मैं युद्ध न करूँगा । इनके मरने पर ही अर्जुन के साथ मेरा युद्ध होगा' ॥ १५० ॥

तत्र स चापत्यजने भीष्मो भीते नृपस्य चापत्यजने ।
राज्ञां मतिमानयुत प्रतिजज्ञे हन्तुमनिशमतिमानयुतम् ॥ १५१ ॥

अनुवाद—(इस प्रतिज्ञा पर) दुर्योधनादि के भय-भीत होने पर तथा राजा कर्ण के धनुष त्यागने पर (दुर्योधनादि के उदासीन होने पर) बुद्धिमान भीष्म ने प्रतिदिन अतिमानयुक्त दश हजार राजाओं के मारने की प्रतिज्ञा की ॥ १५१ ॥

बलद्वयी च विस्तृता समुद्रसम्पदन्तदा ।
चकार सयुगाजिरे समुद्रस पदं तदा ॥ १५२ ॥

अनुवाद—समुद्र-शोभा को भी तिरस्कृत करनेवाली विस्तृत दोनों सेनाओं ने युद्ध-भूमि में सहर्ष, कौतुक-पूर्ण पद प्राप्त किया । (अथवा कौतूहल को उत्पन्न कर दिया) ॥ १५२ ॥

इति षष्ठ आश्वासः ।

सप्तम आश्वासः

अथ रभसेनानीकं व्यूह्य सरित्सूनुना ससेनानीकम्।
कुरवः शौर्याभरणास्तस्थुर्युद्धाय शक्रशौर्याभरणाः ॥ १ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त गंगा-पुत्र भीष्म के द्वारा, शीघ्र ही सेनानी-युक्त सेना की व्यूह-रचना किये जाने पर शौर्यरूपी आभरणवाले तथा इन्द्र और कृष्ण के सदृश युद्ध करनेवाले कौरव, युद्ध के लिए खड़े हो गये।

व्याख्या—भीष्म ने अपनी इच्छानुकूल सेना को सजाया और दुर्योधनादि के साथ युद्ध के लिए खड़े हो गये। इनमें प्रत्येक वीर पराक्रम का पुञ्ज था तथा इन्द्र और कृष्ण के समान भयङ्कर युद्ध करनेवाला था ॥ १ ॥

तानभिदुद्राव ततः सरोषपार्षतचमूरुदुद्रावततः।
सकटुकलापी कुन्तीपुत्रबलौघः शरी कलापी कुन्ती। २॥

अनुवाद—इसके पश्चात् क्रोधयुक्त धृष्टद्युम्न के सैनापतित्ववाली तथा ऊँचे शब्द से व्याप्त पाण्डवों की सेना (युद्ध के लिए) कटु ललकारें करती हुई, बाण, तरकस और भालों को लिये हुए कौरवों के सम्मुख आयी ॥ २ ॥

भ्रातृभिरेव युयुत्सुर्विभीषणो राघवं पुरेव युयुत्सुः।
कौन्तेयानभियातानाश्रितवान्नीतिमत्तया न भिया तान् ॥ ३ ॥

अनुवाद—युद्ध के लिये जाते हुए पाण्डवों का 'युयुत्सु' ने (धृतराष्ट्र-पुत्र) युद्ध की इच्छा से अपनी नीति के अनुसार आश्रय लिया, भय के कारण नहीं जिस प्रकार प्राचीन काल में युद्ध की इच्छा से विभीषण ने अपनी नीतिमत्ता से भगवान् राम का साथ दिया, भय के कारण नहीं।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में उपमा का औचित्य सिद्ध कर दिखाया है। प्राचीन काल में विभीषण ने अपने भाई दशानन का साथ न देकर राम का साथ दिया क्योंकि वह न्याय-अन्याय, नीति-कुनीति से सम्यक् परिचित था। वह जानता था कि सीता का हरण करके मेरे भाई रावण ने बहुत बड़ा पाप किया है, उसी प्रकार 'युयुत्सु' ने धृतराष्ट्र का पुत्र होते हुए भी अपनी बुद्धि से पाण्डवों का साथ दिया, किसी भय से नहीं। क्योंकि वह जानता था कि दुर्योधन ने कपट-द्यूत के द्वारा पाण्डवों का राज्य छीनकर, पूज्य भाभी द्रौपदी का अपमान करके तथा उन्हें वनवास देकर घोर अपराध किया है ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा मान्यानमितान् पार्थो योद्धुं कुरूत्तमान्यानमितान् ।
अमुचच्चापं करतः कृष्णेनाश्वासितः स चापङ्करतः ॥ ४ ॥

अनुवाद—(रणभूमि में) असख्य रथादि तथा युद्ध के लिये खड़े हुए अनेक पूज्य (पितामह, आचार्य, मातुलादि) कौरव प्रमुखों को देखकर अर्जुन (पार्थ) ने अपने हाथ से धनुष छोड़ दिया फिर भगवान् कृष्ण ने पापरहित अर्जुन को (गीतोपदेश के द्वारा) धैर्य बँधाया।

व्याख्या—प्रसिद्ध है कि जब अर्जुन ने युद्ध-भूमि में अपने ही सगे-सम्बन्धियों को खड़ा पाया तो वे ममता के कारण अपना धनुष छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गये। उनके मोह को दूर करने के लिये भगवान् कृष्ण ने उन्हें ज्ञान, कर्म और भक्ति का उपदेश दिया और उनसे कहा कि 'हे अर्जुन। तुम्हारा शोक व्यर्थ है। क्योंकि आत्मा तो कभी नहीं मरती और शरीर नश्वर है। यह तो तुम्हारे मारे बिना भी नष्ट होगा ही। संसार के सारे कर्म तू मुझ में समर्पित करके कर तो तुझे पाप नहीं लगेगा क्योंकि कर्मों के प्रति कर्तृत्व-भावना ही बन्धन का कारण है। अतः तू निष्काम भाव से कर्म कर। इनको मारकर तू वसुन्धरा का उपभोग करेगा।' देखिये गीता के यह प्रस्तुत श्लोक—

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"

भगवान् कृष्ण का यह उपदेश सुनकर अर्जुन को ज्ञान प्राप्त हुआ और वह कृष्ण से यह कहकर युद्ध के लिए तय्यार हो गया—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' ॥ ४ ॥

युद्धारम्भेऽरीणां नादः समचुम्बदम्बरं भेरीणाम् ।
द्रवतां वै धुर्याणां खुरजन्म रजोऽपि रहितवैधुर्याणाम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—शत्रुओं का युद्ध आरम्भ होने पर भेरियों के शब्द ने आकाश को चूम लिया अर्थात् दुन्दुभी के शब्द से आकाश गूँज उठा तथा निर्भय दौड़ते हुए हस्ती, अश्व और रथादि के खुरों से उठी हुई धूलि भी (आकाश में उड़ने लगी ॥ ५ ॥

टिप्पणी—धूलि का आकाश प्रान्त में उड़ना तुमुल-युद्ध को सूचित करता है ॥ ५ ॥

अनितारावे शंखे चारणचक्राणि चक्रुरावेशं खे।
विषभावभ्रामरजः संमर्दः सर्वदिक्षु बभ्राम रजः॥ ६॥

अनुवाद—(युद्ध-सूचक) शख का शब्द होने पर आकाश में चारणों के समूह आ गये तथा आकाश में देवताओं की भीड़ सुशोभित होने लगी। सारी दिशाओं में धूलि उड़ने लगी॥ ६॥

मुहुरकृपणवाद्यानामाहत इव स्वनेन पणवाद्यानाम्।
अनुगतबन्दिव्यजनः समागमद् द्रष्टुमाहव दिव्यजनः॥ ७॥

अनुवाद—महापुरुषों के द्वारा वादनीय पणवादि वाद्यों के बारम्बार शब्द सुनकर, बन्दी और व्यजन-सहित देवतागण युद्ध देखने के लिए आकाश में आ गये॥ ७॥

नागं नागोऽधावद्रथिनं च रथी नरं च ना गोधावत्।
तुरगवरं च तुरङ्गः प्राप बलौघः परस्पर चतुरङ्ग॥ ८॥

अनुवाद—हाथी की ओर हाथी दौड़ा। गोधा (ज्याघात-वारण के लिये हाथ में बंधा पट्टा) युक्त (अथवा गोधा के समान) पैदल से पैदल, रथी से रथी भिड़ गये। घोड़े से घोड़े भिड़ गये। इस प्रकार चतुरङ्ग (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल) सैन्य-समूह आपस में भिड़े।

व्याख्या—कवि ने इस श्लोक में चतुरंगिणी के घनघोर युद्ध का वर्णन किया है॥ ८॥

अवनिभृदाहवहोत्रव्यापारे जीवहव्यदाहवहोऽत्र।
धुतपांसावलसदसिः स्फुटमग्निशिखेव वर्चसा बलसदसि॥ ६॥

अनुवाद—उड़ती हुई धूलिवाली सैन्यरूपी (वेदिरूपा) सभा में, राजाओं के युद्धरूपी अग्निहोत्रव्यापार (यज्ञरूप) में जीवरूपी हव्य को जलानेवाली (मारनेवाली) खड्ग (अपने) तेज से अग्नि-शिखा के समान सुशोभित हुई।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में साङ्गरूपक का अत्युत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया है। सेना एक सभा (वेदिरूपा) के समान है। उसमें जो युद्ध हो रहा है वही यज्ञानुष्ठान है। यज्ञ में हविष् डाली जाती है। इस युद्धरूपी यज्ञ में मरते हुए जीव ही हविष् हैं तथा चमकती हुई तलवारें ही यज्ञ की अग्नि की लपटें हैं॥ ९॥

टिप्पणी—'इव' पद होने के कारण इस श्लोक में उपमालङ्कार का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस श्लोक में रूपक और उपमालंकार का संकर है। कला-पक्ष की दृष्टि से यह श्लोक अत्यन्त मनोहर है॥ ९॥

अजनि तु भूरिमराजी चलितायां मत्तपीन भूरिमराजी।
लघुतां रथवाहास्तद्योमस्थितपांसुपङ्क्तिरथ वाहास्त ॥ १० ॥

अनुवाद—उस समय संग्राम में गजपंक्तियों के चलने पर पृथ्वी अत्यधिक भार से बोझिल हो गयी। रथ तथा अश्वादि से उठी हुई और आकाश में ठहरी हुई धूलि ने लघुता को त्याग दिया अर्थात् धूलि और भी अधिक सघन हो गयी (क्योंकि युद्ध और भी अधिक घनघोर होने लगा)।

व्याख्या—प्रारम्भ में युद्ध का वेग धीमा था अत: पृथ्वी से उठी हुई धूलि आकाश में सघन न थी। परन्तु हाथियों के चलने पर तथा युद्ध की गति और भी तेज होने पर युद्ध-भूमि से उठी हुई धूलि आकाश में सघन होने लगी। कहने का अभिप्राय यह कि शनैः-शनैः युद्ध की घनघोरता बढ़ने लगी ॥१०॥

तत्र विवेदनतावद्योद्धा पतितं भुजं विवेद न तावत्।
अरिनिशितमहासयस्तं प्रहर्तुमप्यैच्छदधिकवमहासयस्तम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—उस युद्ध में (कोई) योद्धा शत्रु की तीक्ष्ण महान् खड्ग से काटी गयी तथा (पृथ्वी पर) गिरी हुई भुजा को विवेदन (व्यथाराहित्य) के समान न जान सका तथा अत्यधिक उपहसनीय उस योद्धा ने उस शत्रु को भी मारना चाहा।

व्याख्या—कवि ने इस श्लोक में किसी वीर के युद्धसम्बन्धी साहस और उत्साह का वर्णन किया है। जिस प्रकार बेहोशी आदि में लोगों को विवेदनता (व्यथाराहित्य) हो जाती है उसी प्रकार अत्यन्त आवेश में वीर को अपनी कटी हुई भुजा का भी ज्ञान न हो सका। वह तो पूर्ववत् ही शत्रु को अपने खड्ग से मारने के लिए आगे बढ़ा ॥ ११ ॥

छिन्नेनोपरि करिणा रथेन गगनादपातिनो परिकरिणा।
वायुपुसखे गलता सुखी तत्रास्त धृतरस खेऽगलता ॥ १२ ॥

अनुवाद—युद्ध में हाथी के द्वारा ऊपर की ओर फेंका गया रथ वायु के कारण आकाश से नीचे न गिर सका। यह देखकर शंख के समान कण्ठवाली अप्सरा आश्चर्य करने लगी ॥ १२ ॥

यत्र घनप्रासारिक्षुरिके रक्षोगणेन न प्रामारि।
गतशङ्कावन्धेन स्थितममेभक्षणेन कावन्धेन ॥ १३ ॥

अनुवाद—भाले (प्रास), चक्र (अरि) तथा छुरिका से व्याप्त उस युद्ध में (भय के कारण) राक्षस समूह विचरण न कर सका। उस युद्ध में निःशङ्क कबन्ध-समूह पड़े हुए थे।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने युद्ध की भयङ्करता का वर्णन इस श्लोक में किया है। विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के भय के कारण युद्ध-भूमि में राक्षस-समूह भी विचरण नहीं कर सका तथा वहाँ पर बहुत से वीरों के कटे हुए धड़ (कबन्ध) पड़े हुए थे ॥ १३ ॥

न मृत नामानेन प्राङ्निहत येन सुकृतिना मानेन।
खड्गवती क्षामासेरागतिरसिपाणिना प्रतीआमासे ॥ १४ ॥

अनुवाद—जो स्वाभिमानी, पुण्यवान् वीर (सम्मुख लड़कर) प्रारम्भ में मरा वह निश्चय ही (यशः-शरीर के चिरस्थायी होने के कारण) नहीं मरा तथा हाथों में खड्ग लिये हुए पुरुष ने (युद्ध में) कुण्ठित (या भग्न) खड्ग वाले पुरुष के पुनः खड्ग लेकर आने की प्रतीक्षा की।

व्याख्या—महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध था। इस युद्ध में जो वीर सामने लड़ता हुआ मारा गया वह मरकर भी न मर सका क्योंकि उसका यशःशरीर संसार में चिरस्थायी है। इस युद्ध में किसी भी योद्धा ने निहत्थे वीर पर वार नहीं किया बल्कि जब तक वह दूसरा खड्ग लेकर नहीं आ जाता था तब तक वह प्रतीक्षा करता था ॥ १४ ॥

गुरुमत्सरसादरुषः पतिताः क्षरितासृजश्च सरसादरुषः।
दुधुवुः पादानश्वा हर्षाद्रपति स्म कृतवपादानः श्वा ॥ १५ ॥

अनुवाद—महान् मत्सर, कष्ट (साद) और क्रोध से भरे हुए तथा बहते हुए रक्तवाले गीले घाव के कारण भूमि पर गिरे हुए घोड़े अपने पैरों को हिला रहे थे तथा चर्बी लिए हुए कुत्ते हर्ष के कारण भौंक रहे थे ॥ १५ ॥

जहजङ्घोरःस्वरदः पतितोऽपरकार्यकोपघोरस्वरदः।
भ्रष्टगुरुग्रैवेयं प्रचुरमदानां प्रवृत्तिरुग्रैवेयम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—योद्धा कोप के साथ घोर शब्द करता हुआ तथा बड़े-बड़े कण्ठाभरणों (ग्रैवेयक) को खींचता हुआ कोई दूसरा बिना दाँत का हाथी (युद्ध-भूमि में अत्यधिक दौड़ने के कारण) जड़ जंघा और वक्षःस्थलवाले पुरुषों पर गिर पड़ा (क्योंकि) अत्यधिक मदवाले लोगों की यही कठोर प्रवृत्ति (मार्ग) होती है।

व्याख्या—कोई हाथी थके-माँदे पुरुषों के ऊपर गिर पड़ा और उनके कण्ठ में पड़े हुए कण्ठाभरणों को खींचने लगा। कवि वासुदेव ने अर्थान्तरन्यास के द्वारा हाथियों के इस घोर-कर्म का कारण बतलाया है कि जो लोग मद से भरे होते हैं वे इसी प्रकार के मार्ग को सेवन करते हैं अर्थात् निर्बल लोगों को उत्पीड़ित किया करते हैं ॥ १६ ॥

प्राप विमान दिवि ना निहत. संप्रारय रुधिरमानन्दि विना ।
असृजाशा कपिशा च स्वतृषं व्यपनेतुमपि शशाक पिशाचः ॥१७॥

अनुवाद—आनन्ददायी रक्त को चखनेवाले पक्षी के द्वारा मारे गये पुरुष ने आकाश में देव-यान प्राप्त किया। रक्त से दिशाएँ लाल हो गईं तथा पिशाच अपनी प्यास भी बुझा सके।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने संक्षेप में अनेक विषयों का वर्णन किया है। (गृध्रादि) पक्षियों ने आहत वीरों के रक्त का पान कर उन्हें मार डाला। ऐसे वीरों ने देवयान प्राप्त किया। वीरों के रक्त से दिशाएँ रक्तिम हो उठीं। युद्ध-भूमि में इतना रक्त बहा कि पिशाच ने भी अपनी प्यास बुझाई ॥ १७ ॥

टिप्पणी—मरे हुए व्यक्ति का आकाश में देवयान प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि उसने स्वर्ग का आनन्द (लाभ) प्राप्त किया ॥ १७ ॥

अशनैरस्थिरदन्तस्थानाः श्वानो बभूवुरस्थि रदन्तः ।
लोहितपङ्कं कवलं चक्रे च कङ्कलोलुपं कङ्कमलम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—समर-भूमि में (मरे हुए वीरों की) अस्थि को कुरेदते हुए कुत्तों के दन्तस्थान शीघ्र ही अस्थिर (कमजोर) हो गये तथा मांसलोलुप कंक-पक्षियों के समूह ने रक्त-कर्दम को अपना ग्रास बनाया ॥ १८ ॥

टिप्पणी—युद्ध की बीभत्सता को दर्शाने के लिए कवि वासुदेव ने कतिपय श्लोकों में पशु पक्षियों के तात्कालीन-चेष्टाओं का वर्णन किया है।

उपर्युक्त श्लोक में कवि ने कुत्ते और कंकपक्षियों की क्रियाओं का वर्णन किया है। हड्डी काटते-काटते कुत्तों के दाँत कमजोर हो गये तथा कंकपक्षियों ने रक्त-कर्दम को अपना भोज्य बनाया ॥ १८ ॥

असृगशनादशिवानां पङ्क्तिः परमाहवे ननाद शिवानाम् ।
काष्ठा काकालीभिर्नैव मलिना बभूव का कालीभिः ॥ १९ ॥

अनुवाद—रक्तास्वाद के कारण, अमंगलकारी शृगालों की पंक्ति उस महायुद्ध में घोर करने लगी तथा कौओं की काली पंक्ति से कौन दिशा (काष्ठा) नितान्त मलिन न हुई ? अर्थात् सारी दिशाएँ काली हो गयीं।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने युद्ध में उपस्थित शृगाल और कौओं का वर्णन प्रस्तुत किया है। शृगाल तो रक्तास्वाद करके प्रसन्नता के कारण चिल्लाने लगे तथा मरे हुए वीरों के मांस का आस्वाद लेने के लिए आए हुए कौओं से प्रत्येक दिशा काली हो गयी ॥ १९ ॥

सति समरे कामबलान्नलयोरुभयोरिरंसुरेकामबलाम् ।
विबधारोदसुरस्त्री निराकृतान्यासुना रुरोद सुरस्त्री ॥ २० ॥

अनुवाद—युद्ध होने पर (वीर को देखकर) कामवशात् आयी हुई दो अप्सराओं में से एक अप्सरा को, रमण करने की इच्छा से, शस्त्र-विद्या में कुशल तथा (उस वीर के द्वारा) न अपनाई गयी दूसरी अप्सरा रोने लगी ॥ २० ॥

टिप्पणी—वीर की, युद्ध में वीरता देखकर अप्सराएँ मुग्ध हो गईं तथा उसके साथ समागम की इच्छा से रण-भूमि में आयीं। वीर के प्राण निकल रहे थे। उसने उन दो में से एक का वरण किया। दूसरी अप्सरा जिसे उस वीर ने नहीं अपनाया वह दुःख के कारण अपने भाग्य को कोसती हुई रोने लगी ॥ २० ॥

इत्थं तत्रासरणे परस्पर सैन्ययोगतत्रासरणे।
भीष्मोऽविक्षत्त्रस्त पार्थबलौघ हृतच्छविक्षत्त्रस्तम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार दोनों सेनाओं में अत्रा (स) रण तथा निर्भय युद्ध होने पर, क्षत्रियों की छवि को हरण करनेवाले भीष्म (पितामह) ने युधिष्ठिर के सैन्य-समूह में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

टिप्पणी—कवि ने दोनों सेनाओं के युद्ध के लिये 'अत्रारण' तथा 'गत-त्रास' विशेषण प्रयुक्त किया है जो युद्ध की भयंकरता के सूचक हैं। युद्ध में सारे वीर उन्मत्त हो रहे थे, कोई किसी को पहचान नहीं पाता था। निर्भय होकर योद्धा एक दूसरे से भिड़ रहे थे। लाखों पदाति मर्यादा छोड़कर युद्ध कर रहे थे। कोई किसी की रक्षा करनेवाला न था। वहाँ पिता पुत्र की ओर नहीं देखता था और पुत्र को नहीं गिनता था। इसी प्रकार भाई-भाई को, भानजा मामा को, मामा-भानजे को और मित्र-मित्र की परवाह नहीं करता था। इस प्रकार जब वह संग्राम मर्यादाहीन और अत्यन्त भयानक हो गया तो भीष्म ने पाण्डवों की सेना में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

अधिकतमनिशानान्ता बिभ्राणाः कङ्कपत्त्रमनिशातान्ता'।
अगुरापुङ्खादन्त' क्षितिं पितामहशरा रिपुं खादन्तः ॥ २२ ॥

अनुवाद—अत्यधिक तीक्ष्ण फल वाले, कंकपत्र को धारण किये हुए तथा सदैव (शत्रुओं के नाश में) योद्धा त्रिय भीष्म पितामह के बाण शत्रुओं को प्रमित करते हुए पृथ्वी के अन्दर पुंख-पर्यन्त प्रवेश कर रहे थे।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि ने मर्मवेनः भीष्म पितामह के पराक्रम का वर्णन किया है। भीष्म पितामह के तीक्ष्ण बाण शत्रुओं के कवचों को भेद कर पृथ्वी के अन्दर पुंख-पर्यन्त घुस जाते थे ॥ २२ ॥

- टिप्पणी—कवि ने 'रिपु खादन्त' पद बाणों के लिये प्रयुक्त किया।

साधन क्रिया थार्थो में अनुपपन्न होने के कारण इस पद का लक्षणा द्वारा 'भिद्यन्तः' या 'भ्रममानाः' अर्थ लगाना पड़ेगा ॥ २२ ॥

नृपसमितावृद्धेन त्रिभुवनमान्येन बलवता वृद्धेन ।
भीष्मेणादभ्राजिस्तम्भितहरि जिष्णुना क्षणादभ्राजि ॥ २३ ॥

अनुवाद—थोड़ी ही देर में, अपने घनघोर युद्ध से श्रीकृष्ण (हरि-या सूर्य) को स्तम्भित करके जयशील, त्रिभुवन-पूज्य, बलवान्, समृद्ध तथा वृद्ध भीष्म पितामह राजसभा में सुशोभित हुए।

व्याख्या—भीष्म पितामह राजसभा में सुशोभित हुए। क्योंकि उन्होंने अपनी शर-वृष्टि से श्रीकृष्ण को भी स्तम्भित कर दिया। 'हरि' पद के अनेक अर्थों में एक अर्थ सूर्य भी होता है—'इन्द्रचन्द्रार्कवातादिशुकभेकयमादिषु। कपौ सिंहे सुवर्णसवर्णे विष्णौ हरिं विदुः' ॥ अतः जयशील भीष्म की शरौघ-वृष्टि से सूर्य ढक गया—इस अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है ॥२३॥

स हि सुदृढधाराणि श्रीधरचक्रस्यापि दृढाराणि ।
हतकेतनवाहानि प्रधनानि पितामहोऽकृत नवाहानि ॥ २४ ॥

अनुवाद—उन भीष्म-पितामह ने नौ दिन तक प्रचण्ड युद्ध किया जिसमें (उन्होंने) श्रीकृष्ण के सुदर्शनचक्र की धार को (भी) कुण्ठित कर दिया तथा (शत्रुओं के) ध्वज और घोड़ों (वाह) को नष्ट कर दिया ॥ २४ ॥

राज्ञामयुतमुदस्तं पार्थाः संप्रेक्ष्य नित्यमयुतमुदस्तम् ।
उपगतशिबिरा मरणं भीष्ममयाचन्त भरतशिबिरामरणम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—नित्य ही दस-हजार क्षत्रियों को मरा हुआ देखकर दुःखी पाण्डव, भीष्म के शिविर में पहुँचे और राजा भरत, शिबि तथा राम (या परशुराम) के सदृश युद्ध करनेवाले उन (भीष्म) से मृत्यु का उपाय पूछा।

व्याख्या—भीष्म-पितामह ने नित्य ही दस हजार क्षत्रियों को मारने की प्रतिज्ञा की। नौ दिन तक उन्होंने अपने प्रचण्ड-युद्ध में जब सहस्रों वीर और अश्वादि मार डाले तो युधिष्ठिरादि चिन्तित हुए। एक रात्रि श्रीकृष्ण के परामर्शानुसार पाण्डव भीष्म-पितामह के शिविर में पहुँचे। राजा युधिष्ठिर पितामह-भीष्म से दीनतापूर्वक बोले 'प्रभो! जिस उपाय से इस प्रजा का संहार बन्द हो जाये, वह बतलाइये। दादा जी! अब तक हमारी बहुत बड़ी सेना नष्ट हो गयी है। अतः अब आप ही वह उपाय बतलाइये जिससे आपको हम जीत सकें' ॥ २५ ॥

टिप्पणी—कवि ने भीष्म पितामह के युद्ध की उपमा -भरत, शिबि और राम (या परशुराम) के युद्ध से दी है। इन सभी राजाओं का युद्ध लोक-

प्रसिद्ध है। 'भरतशिविरामरणम्' पद में 'इव' वाचक पद का लोप होने के कारण लुप्तोपमा है ॥ २५ ॥

कर्ता सञ्जन्यस्य द्रुपदात्मजमग्रतश्च सञ्जन्यस्य ।
सरभसमाश्वेताः श्व सेना सवार्य हन्तु मा श्वेनाश्वः ॥ २६ ॥
इति मुदिताः स्ववधाय प्रोक्त भीष्मेण चोदिताः स्ववधाय ।
पुनरेव रजन्यन्ते पाण्डुसुताः कुर्वते स्म घरजन्यं ते ॥ २७ ॥

अनुवाद—हे पाण्डवो! महायुद्ध का कर्ता अर्जुन (श्वेताश्व) द्रुपद-पुत्र शिखण्डी को आगे करके तथा सेना को रोक कर कल साहस के साथ आवे और मुझे शीघ्र ही मारे।

इस प्रकार (भीष्म के) कहे हुए वचनों पर अच्छी प्रकार ध्यान देकर तथा अपने वध के लिये भीष्म के द्वारा प्रेरित किये गये उन पाण्डवों ने प्रसन्न होकर प्रातःकाल पुनः महायुद्ध किया।

व्याख्या—पाण्डवों के प्रार्थना करने पर भीष्म-पितामह ने अपनी मृत्यु का रहस्य बतलाया 'हे पाण्डुनन्दन! जब मैं हथियार रख दूँ, उस समय तुम्हारे महारथी मुझे मार सकते हैं। जो हथियार डाल दे, गिर जाये, कवच उतार दे, ध्वजा नीची कर दे, भाग जाये, डरा हो, 'मैं आप का हूँ' यह कहकर शरण में आ जाये, स्त्री हो, या स्त्री के समान जिसका नाम हो, जो व्याकुल हो, जिसको एक ही पुत्र हो और जो लोक में निन्दित हो—ऐसे लोगों के साथ मैं युद्ध नहीं करता। तुम्हारी सेना में जो शिखण्डी है, वह पहले स्त्री के रूप में उत्पन्न हुआ था, पीछे पुरुष हुआ है—इस बात को तुम लोग भी जानते हो। वीर अर्जुन शिखण्डी को आगे करके मुझ पर बाणों का प्रहार करें, वह जब मेरे सामने रहेगा, तो मैं धनुष लिए रहने पर भी प्रहार नहीं करूँगा। मुझे मारने के लिए यही एक छिद्र है। इस मौके का लाभ उठाकर अर्जुन शीघ्रतापूर्वक मुझे बाणों से घायल कर दे। ऐसा करने से निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी' ॥ २६–२७ ॥

दत्तशिखण्डिन्याम. शरवृष्ट्या शत्रुराशिखण्डिन्या सः ।
गुरुतरसमरेपास्त्वं पार्थो भीष्मं चकार समरेऽपास्तम् ॥ २८ ॥

अनुवाद—उस अर्जुन ने द्रुपद-पुत्र शिखण्डी को आगे करके शत्रु-राशि को खण्डित करनेवाली अपनी शर-वृष्टि से निष्पाप तथा महान् पराक्रम वाले भीष्म को युद्ध में भूमि पर गिरा दिया ॥ २८ ॥

सुभटानामुक्तेभ्यः शरशय्यायां किरीटिना मुक्तेभ्यः ।
धर्मविदा पत्त्रिभ्यः सुयोग्यमुपधानमपि तदापत्त्रिभ्यः ॥ २९ ॥

अनुवाद—फिर धर्मवेत्ता भीष्म ने शरशय्या पर पड़े हुए, अर्जुन के द्वारा छोड़े गये कंक-पत्र युक्त तीन बाणों के सुयोग्य तकिये को भी प्राप्त किया।

व्याख्या—भीष्म जी ने शरशय्या पर लेटे हुए अपने सामने खड़े हुए वीरों से कहा 'मेरा मस्तक नीचे लटक रहा है, आप लोग इसके लिए कोई तकिया ला दीजिए'। यह सुनकर राजा लोग बहुत कोमल और उत्तम-उत्तम तकिये ले आये। इस पर भीष्म ने हँसकर कहा 'ये तकिये वीर-शय्या के योग्य नहीं हैं।' इसके बाद उन्होंने अर्जुन की ओर देखा। अर्जुन अपने दादा का अभिप्राय समझ गये। उन्होंने तीन अभिमन्त्रित-बाणों के द्वारा उनका मस्तक ऊँचा कर दिया ॥ २९ ॥

तस्य च भूतोदकत. शरात्पृणो मोक्षमेत्य भूतोदकतः।
सुभटपदेऽशेतान्तः स्फुरन्मुकुन्दो रणप्रदेशेऽतान्त. ॥ ३० ॥

अनुवाद—अर्जुन के भूमिविदारक (भूतोदकत.) बाण से उत्पन्न हुए जल के द्वारा (भूतोदकत•) अपनी प्यास को बुझाकर भीष्म पितामह अन्तःकरण में श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए (उस अवस्था में भी) बिना किसी कष्ट के युद्ध-भूमि में ही सो गये।

व्याख्या—बाणों के घाव से भीष्म जी का शरीर जल रहा था, पीड़ा से उन्हें रह-रहकर मूर्छा आ जाती थी। उन्होंने बड़ी कठिनाई से राजाओं की ओर देखकर कहा 'पानी चाहिये'। सुनते ही क्षत्रिय लोग जल से भरे उत्तमोत्तम घड़े लाकर भीष्म जी को अर्पित करने लगे। यह देखकर भीष्म खिन्न हुए और अर्जुन से बोले 'बेटा! तुम्हारे बाणों से मेरा शरीर जल रहा है। मर्म-स्थानों में बड़ी पीड़ा हो रही है। मुँह सूखा जा रहा है! मुझे पानी दो'। अर्जुन ने 'बहुत अच्छा' कहकर बाण को निकाला फिर मन्त्र पढ़कर उसे पार्जन्य-अस्त्र से संयोजित किया। सबके देखते-देखते भीष्म की बगलवाली जमीन पर बाण मार जल की निर्मल धारा निकाल दी। उसे पीकर भीष्म की प्यास तृप्ति हुई ॥ ३० ॥

सप्रामोदितकर्ण' सुयोधनोऽथास्य वचनमोदितकणः।
स्तुत्वा वाचार्यं स सेनापतिमकृत कौरवाचार्यं तम् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—(भीष्म-पितामह के वध के उपरान्त) कर्ण युद्ध के लिए तय्यार हो गया। भीष्म-पितामह के वचनों से आनन्दित श्रवणों (कानों) वाले दुर्योधन ने अपनी वाणी से श्रेष्ठ द्रोणाचार्य की स्तुति करके उनको (अपनी सेना का) सेनापति बनाया।

व्याख्या—भीष्म-पितामह के वध के उपरान्त अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कर्ण युद्ध करने के लिए तय्यार हो गया। कर्ण के परामर्श पर द्रोणाचार्य को सेनापति बनाने के लिये दुर्योधन ने आचार्य के पास जाकर उनकी स्तुति की कि 'हे भगवन्! आप वर्ण, कुल, बुद्धि, पराक्रम, युद्ध-कौशल आदि सभी गुणों में बढ़े-चढ़े हैं। इन्द्र जिस प्रकार देवताओं की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी हमारी रक्षा कीजिए। अतः आप हमारे सेनापति बनने की कृपा कीजिए'॥ ३१ ॥

वीररसेनापतिनां भारद्वाजोऽप्यवाप्य सेनापतिताम्।
मोदेन क्षत्राणां मध्ये विबभौ शशीव नक्षत्राणाम्॥ ३२॥

अनुवाद—भरद्वाज मुनि के पुत्र द्रोणाचार्य भी, (अपनी) वीरता के कारण प्राप्त हुए सेनापतित्व को पाकर प्रसन्नता से क्षत्रियों के मध्य में उसी प्रकार अत्यधिक सुशोभित हुए जिस प्रकार नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा सुशोभित होता है।

व्याख्या—द्रोणाचार्य में सबसे अधिक गुण थे अतः उन्हीं को सेनापति बनाया गया। सेनापति-पद पर प्रतिष्ठित द्रोण राजाओं के बीच में चन्द्रमा के समान सुशोभित होने लगे। नक्षत्र तभी तक अच्छे लगते हैं जब तक आकाश में चन्द्रमा नहीं उदित होता। चन्द्रमा के उदित होने पर तो वे सारे के सारे कान्ति-शून्य हो जाते हैं। उसी प्रकार द्रोणाचार्य की उपस्थिति में अन्य सारे राजागण नक्षत्र के समान दिखलाई पड़ने लगे। ३२॥

सशरी चापी वरदो राजानं व्याजहार चापीवरदोः।
किं तव कार्यं तनुतां युधमेत्याय जनोऽधिकार्यन्ततनुताम्॥ ३३॥

अनुवाद—बाण व धनुष लिये हुए, (दुर्योधन को) वरदान देनेवाले तथा मांसल भुजाओं (आपीवरदोः) वाले द्रोणाचार्य राजा दुर्योधन से बोले 'हे राजन्! अत्यधिक शत्रुओं में प्रशमित संग्राम में पहुँच कर यह व्यक्ति आपका कौन सा कार्य करे?' ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में, 'अधिकार्यन्ततनुताम्' पद के श्लेष से दो अर्थ किये जा सकते हैं—

१. अधिकृत पुरुष के नाश से स्तुत (अधिकृतपुरुषस्य अन्तो नाशस्तेन नुतां स्तुताम्)।

२. अधिक दुश्मनों के नाश से स्तुत (अधिकमरीणां शत्रूणामन्तो नाशस्तेन नुता स्तुता) ॥ ३३ ॥

तस्य गिरा जातमदः स्मितेनेति व्याजहार राजा तमदः।
बद्धं कुरुराज तं शत्रुमभूहं समेत्य कुरु राजन्तम्॥ ३४॥

अनुवाद—(इस) द्रोणाचार्य की बात से राजा दुर्योधन में अहंकार उत्पन्न हो गया। (अतः) थोड़ा मुस्कुरा कर वह द्रोणाचार्य से यह (वक्ष्यमाण) बोला 'हे गुरो! शत्रु-समूह में पहुँच कर आप सोममान राजा युधिष्ठिर को (जीवित ही) बाँध लावें।'

व्याख्या—द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा 'आपने हमें सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया है। अतः तुम्हारी जो इच्छा हो मुझसे वर माँग लो।' इस पर राजा दुर्योधन ने कहा 'यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो युधिष्ठिर को जीता हुआ ही पकड़ कर ले आइये' ॥ ३४ ॥

पुनरेवाह्वानमितं कृत्वा पार्थं त्वदीयबाह्वानमितम् ।
आनितदेवनया तं विपदर्थेऽयं कर्तुमापदे वनयावम् ॥ ३५ ॥

अनुवाद—हे आचार्य! आपकी बाहुओं से बाँधे गये युधिष्ठिर को पुनः द्यूत के विचार से बुलाकर विपत्ति के लिए वन भेजना चाहता हूँ।

व्याख्या—दुर्योधन ने द्रोणाचार्य से अपनी इच्छा युधिष्ठिर को कैद करने के लिये क्यों प्रकट की? युधिष्ठिर का वध कराने के लिए उसने वरदान क्यों नहीं माँगा? इसका उत्तर वह स्वयं इस श्लोक में संक्षेपतः प्रस्तुत कर रहा है। युधिष्ठिर के मारे जाने से दुर्योधन की विजय नहीं हो सकती क्योंकि यदि उसने उसे मार भी डाला तो शेष पाण्डव उसे अवश्य ही नष्ट कर डालेंगे। अतः यदि सत्य-प्रतिज्ञ युधिष्ठिर उसके काबू में आ जावे तो वह उन्हें जूए में फिर जीत लेगा और तब उनके अनुयायी पाण्डव लोग भी फिर से वन को चले जायेंगे। इस तरह स्पष्ट ही बहुत दिनों के लिए दुर्योधन की जीत हो जावेगी। इसी से वह धर्मराज का वध किसी भी अवस्था में नहीं कराना चाहता ॥ ३५ ॥

इत्थं वादानस्य श्रुत्वा प्रोचे मकैतवादानस्य ।
प्रमुदितवाचार्येण श्रेणीसिंहेन कौरवाचार्येण ॥ ३६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कपटाचरण-युक्त दुर्योधन की बात को सुनकर कौरवों के आचार्य, वीरसिंह-श्रेष्ठ द्रोणाचार्य प्रमुदित वाणी से बोले ॥ ३६ ॥

न गुडाकेशस्तस्य स्थास्यति यदि तावदन्तिके शस्तस्य ।
धर्मसुतो नह्येत ध्रुवमापाद्य तदमतो नह्येतत् ॥ ३७ ॥
इति भारद्वाजेन ध्रुवता शरराशिना स्फुरद्वाजेन ।
पार्थबलं समदारिप्रान्तं शितशस्त्रसंकुलं समदारि ॥ ३८ ॥

अनुवाद—हे राजन्! यदि उस प्रशंसनीय युधिष्ठिर के निकट अर्जुन

(गुडाकेश) नहीं होगा तो निश्चित ही मैं धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) को बाँध लूँगा, (परन्तु) उसके (अर्जुन) आगे यह सम्भव न हो सकेगा।

भरद्वाज-पुत्र द्रोणाचार्य ने इस प्रकार कहते हुए स्फुरित होते हुए पखवाले बाण-समूह से, गर्वीले शत्रु-समूह से युक्त तथा तीक्ष्ण-शस्त्रों से व्याप्त पाण्डव-सेना को विदीर्ण कर दिया।

व्याख्या—द्रोणाचार्य बड़े व्यवहार-कुशल थे। वे दुर्योधन का कूट-अभिप्राय तत्क्षण ताड़ गये इसलिए, उसे उन्होंने एक शर्त के साथ वर देते हुए कहा कि 'यदि वीर अर्जुन ने युधिष्ठिर की रक्षा न की तो तुम युधिष्ठिर को अपने काबू में आया ही समझो। क्योंकि अर्जुन के ऊपर आक्रमण करने का साहस तो इन्द्र के सहित देवता और असुर भी नहीं कर सकते। अतः जैसे बने, वैसे ही तुम उसे युद्ध-क्षेत्र से दूर ले जाना ॥ ३७—३८ ॥

स हि कोपरसेनासु द्रोणो बाणान्विकीर्य परसेनासु।
पाण्डवनायकबन्धं कर्तुमनेकं नभो निनाय कबन्धम् ॥ ३९ ॥

अनुवाद—द्रोणाचार्य अत्यन्त कोप के साथ शत्रु-सेना पर बाणों को फेंक कर पाण्डवों के नायक युधिष्ठिर को बाँधने की इच्छा से अनेक कबन्धों (धड़ों) को आकाश में ले गये अर्थात् क्रोध में उन्होंने सेना के अनगिनत वीरों को मारकर आकाश को कबन्ध से व्याप्त कर दिया ॥ ३९ ॥

सरम्भी मायन्तं सात्यकिसहदेवनकुलभीमाद्यन्तम्।
अरिलोकं समुदस्य क्षितिभर्तुः प्रापदन्तिकं समुदस्य ॥ ४० ॥

अनुवाद—क्रोधी द्रोणाचार्य, सात्यकि, सहदेव, नकुल तथा भीमादि से व्याप्त शत्रु-समूह को घायल करके सहर्ष राजा युधिष्ठिर के समीप पहुँचे।

व्याख्या—सेनापति द्रोणाचार्य आज धर्मराज को पकड़ना चाहते थे; इसलिये उन्हें रोकने के लिए जो-जो योद्धा सामने आये, उन्हीं को उन्होंने प्रहार करके क्षुब्ध कर दिया। उन्होंने बारह बाणों से शिखण्डी को, बीस से उत्तमौजा को, पाँच से नकुल को, सात से सहदेव और पाँच से सात्यकि को घायल कर दिया ॥ ४० ॥

द्विपदृष्टवीरध्वजवान्मृद्नन्द्विपवत्कपिप्रवीरध्वजवान्।
पार्थः सहसा ददृशे दददथ भीतिं जनाय मह सादृदृशे ॥ ४१ ॥

अनुवाद—कपि-श्रेष्ठ हनुमान से चिह्नित ध्वज वाले, युद्ध-मार्ग से शत्रु-रूपी अटवी को हाथी के समान रौंदते हुए तथा युद्ध-क्लेश अनुभव करनेवाले लोगों को भयभीत करते हुए अर्जुन उस समय सहसा दिखलाई पड़े।

व्याख्या—जिस समय सैनिक आचार्य के पराक्रम की चर्चा कर रहे थे, उसी समय अर्जुन बड़ी तेजी से शत्रुओं को भयभीत करते हुए तथा अपनी घनघोर बाण वर्षा से शत्रुओं को उसी प्रकार रौंदते हुए द्रोणाचार्य के सेना के सामने आ गये जिस प्रकार कोई विशालकाय क्रुद्ध हाथी महारण्यों को रौंदता हुआ चलता है ॥ ४१ ॥

तद्धनुषः सारवतः शिताः शरा नतिमुपेयुषः सारवतः ।
लसमाना अवतेरुर्द्रोणाय ददुश्च सिंहनादवतेऽरुः ॥ ४२ ॥

अनुवाद—उसके (अर्जुन) दृढ़ तथा टंकार करते हुए धनुष से चमकते हुए तीक्ष्ण बाण निकलने लगे । (उन बाणों ने) सिंहनाद करनेवाले द्रोणाचार्य को घाव प्रदान किये अर्थात् इन बाणों ने द्रोणाचार्य को घायल कर दिया ॥४२॥

अथ तरसापायासीद् द्रोणः सेना च तस्य सापायासीत् ।
अशनैरविरलमकरोद्भूतं जलधेर्जलं च रविरलमकरोत् ॥ ४३ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर द्रोणाचार्य (सेना व स्वयं के, बाणों से घायल होने पर) शीघ्र ही रण से चल दिये । उनकी सेना भी नष्ट हो चुकी थी । शीघ्र ही अनेक मकरों से उछाले गये समुद्र के जल को सूर्य ने अलङ्कृत किया अर्थात् इतने में ही सन्ध्या हो गयी ।

व्याख्या—धनञ्जय की बाण वर्षा के कारण दिशाएँ अन्तरिक्ष, आकाश और पृथ्वी—कुछ भी दिखायी नहीं देता था; सब बाणमय से जान पड़ते थे । इतने ही में सन्ध्या हो गयी । कवि ने इस बात को पर्यायोक्त अलंकार के द्वारा अभिव्यक्त किया है ॥ ४३ ॥

अथ रिपुरोधी राज्ञः शिबिरं सम्प्राप्य कुरुवरो धीराज्ञः ।
प्रतिपन्नापनयाय त्रैगर्तानशिषदर्जुनापनयाय ॥ ४४ ॥

अनुवाद—इसके बाद शिविर पहुँचकर, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले, दृढ़ आज्ञा वाले तथा कुनीति-मार्ग का सेवन करनेवाले दुर्योधन ने त्रिगर्त जनपद के वीरों को राजा युधिष्ठिर से अर्जुन को अलग करने की आज्ञा दी ।

व्याख्या—सेना को लौटाने के पश्चात् द्रोणाचार्य बड़े संकोच से दुर्योधन के पास आये और बोले 'यदि तुम किसी उपाय से अर्जुन को दूर ले जा सको तो महाराज युधिष्ठिर तुम्हारे काबू में आ सकते हैं ।' यह सुनकर दुर्योधन ने इस कार्य के लिये त्रिगर्त जनपद के वीरों को आज्ञा दी ॥ ४४ ॥

द्विषतामानन्दहनं साक्षीकृत्य प्रदीप्यमानं दहनम् ।
प्रविदधुरेते शपथं निनीषवः पाण्डवं परेतेशपथम् ॥ ४५ ॥

अनुवाद—अर्जुन को यम-पथ ले जाने के इच्छुक इन (त्रिगर्त जनपद के)

वीरों ने (यह बात सुनकर) जलती हुई अग्नि को साक्षी करके शत्रुओं के आनन्द को नष्ट करनेवाली प्रतिज्ञा की ।

व्याख्या—दुर्योधन की बात सुनकर अग्नि के सामने त्रिगर्त-वीरों ने यह प्रतिज्ञा की कि 'यदि अर्जुन हमारे सामने आ गया तो हम उसे अलग ले जाकर मार डालेंगे। अब पृथ्वी में या तो अर्जुन ही नहीं रहेगा या त्रिगर्त ही नहीं रहेंगे।' ॥ ४५ ॥

तदनु गतायामन्तं निशि पार्थं धृतघनुर्लतायामं तम् ।
आहूयाकुर्वत ते देशे समरं जिघांसया कुवंतते ॥ ४६ ॥

अनुवाद—तदनन्तर रात्रि के बीतने पर वे त्रिगर्तवीर विशाल धनुर्लता को धारण करनेवाले अर्जुन को ललकार कर, उसको मारने की इच्छा से, कौरवों से अव्याप्त स्थान में ले जाकर युद्ध करने लगे ।

व्याख्या—प्रतिज्ञा करने के पश्चात् वे त्रिगर्तवीर युद्ध के लिये अर्जुन को ललकारते हुए दक्षिण की ओर चल दिये। वीरों की पुकार सुनकर अर्जुन अपने नियमानुसार, सत्यजित् को युधिष्ठिर की रक्षा में नियुक्त करके, युद्ध करने के लिये चल पड़े ॥ ४६ ॥

सोऽपि रणे सत्यजितं नियुज्य राज्ञश्च रक्षणे सत्यजितम् ।
सरभसमकुरुत तेन त्रिगर्तसैन्येन समरमकुरुततेन ॥ ४७ ॥

अनुवाद—संग्राम के समय, अर्जुन राजा युधिष्ठिर की रक्षा में अजेय सत्यजित् को नियुक्त करके साहसपूर्वक, कौरवों से रहित त्रिगर्त सेना के साथ, युद्ध करने लगे ।

व्याख्या—त्रिगर्त-वीरों की ललकार पर युद्ध के लिये जाते समय अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा 'राजन्! आज यह सत्यजित् संग्राम में आपकी रक्षा करेगा। इस पाञ्चाल राजकुमार के रहते हुए आचार्य अपना मनोरथ पूर्ण न कर सकेंगे। यह पुरुषसिंह युद्ध में काम आ जाये, तो और सब वीरों के आसपास रहने पर भी आप संग्राम-भूमि में किसी प्रकार न टिकें' ॥ ४७ ॥

सधनुर्बाणांसेनां द्रोणोऽपि व्यूह्य कौरवाणां सेनाम् ।
रोपरसेनाराजौ धर्मतनूजं स्थितं स्वसेनाराजौ ॥ ४८ ॥

अनुवाद—द्रोणाचार्य भी, धनुष-बाण युक्त स्कन्धोंवाले राजाओं से युक्त (सधनुर्बाणांसेनाम्) कौरवों की सेना की, व्यूह-रचना करके, अपनी सेना-पंक्ति में स्थित धर्म-पुत्र युधिष्ठिर की ओर क्रोध के साथ पहुँचे ॥ ४८ ॥

तं द्रोणमुपायान्तं शत्रूणामधिकदारुणमुपायान्तम् ।
क्रोधेनाराचाल्यः सत्यजिदौहन्त तेन नाराचाल्यः ॥ ४९ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के लिए अत्यधिक बाधक तथा उपाय के साक्षात्स्वरूप तथा (युधिष्ठिर के समीप) आते हुए उन द्रोणाचार्य के समीप, अविचल सत्यजित् आया और उसने नाराच (शर) की पंक्ति क्रोध के साथ (द्रोण के ऊपर) फेंकी।

व्याख्या—राजा युधिष्ठिर के पास आचार्य द्रोण को आते देखकर महाबली सत्यजित् उन्हें बचाने के लिए आचार्य की ओर बाण फेंकने लगा। उसने पहले बाण से आचार्य को घायल कर दिया फिर पाँच बाण मारकर उनके सारथि को मूर्च्छित कर दिया ॥ ४९ ॥

रणनर्मणि मत्तस्य व्यस्य शिरः पविभ्रमुखमणिमत्तस्य।
द्रोणो विततक्षेम धर्मतनूजं समेत्य विततक्षेमम् ॥ ५० ॥

अनुवाद—आचार्य द्रोण ने युद्ध-क्रीड़ा में मतवाले राजा सत्यजित् के हीरकमणियुक्त शिर को काटकर विस्तृत क्षेम (कल्याण) वाले धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास पहुँचकर अपने बाणों से उन्हें घायल कर दिया।

व्याख्या—द्रोणाचार्य के द्वारा बार बार धनुष काट दिये जाने पर भी जब सत्यजित् युद्ध में आचार्य के सामने डटा रहा तो उसके उत्साह को देखकर आचार्य ने एक अर्धचन्द्राकार बाण से उसका सिर उड़ा दिया जिसपर हीरक-जटित मुकुट रखा हुआ था ॥ ५० ॥

हयहेतिरथापायात्समरात्सचिन्त्य भूपतिरथापायात्।
भग्नयुगसच्छत्रामिभभग्नवरा चास्य बलमगच्छत्रासि ॥ ५१ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् अश्व, शस्त्र और रथ के नाश से चिन्तित होकर राजा युधिष्ठिर युद्ध-भूमि से भाग गये। भग्न हुए रथावयव, छत्र तथा खड्ग-वाली युधिष्ठिर की भयभीत सेना पराजित हो गयी ॥ ५१ ॥

अथ पृथुबलमानमदं स्वबलं दृष्ट्वा भयेन बलमानमदः।
अचलत्प्रसभं गदया समरे भीमः सपत्नरसभङ्गदया ॥ ५२ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अपनी सेना को लौटते हुए (बलमानम्) देखकर, महान् बल, मान और मदवाले भीम, हठात्, शत्रुओं के रस को भग करनेवाली अपनी गदा के साथ युद्ध-भूमि की ओर चल पड़े ॥ ५२ ॥

तं कटभूमिभ्रमदा रुरुधुः करिणः समेत्य भूमिभ्रमदाः।
तेषामभिनद्दतां स गदया भीमः समूहमभिनद्दतान्तम् ॥ ५३ ॥

अनुवाद—गण्डस्थल से बहनेवाले मद से युक्त तथा (अपने भार से) भूमि को भ्रम प्रदान करनेवाले (दुर्योधन के) हाथियों ने भीम के ऊपर

आक्रमण किया। गरजते हुए उन हाथियों के अखिल समूह (व्यूह) को उसने (भीम) अपनी गदा से तितर-वितर कर दिया।

व्याख्या—जब भीम अपनी गदा लेकर युद्ध के लिये आगे बढ़े तो दुर्योधन ने गजारोहियों की सेना लेकर भीमसेन के ऊपर धावा किया। किन्तु युद्ध-कुशल भीमसेन ने थोड़ी ही देर में उस गज-सेना के व्यूह को तोड़ दिया॥ ५३॥

तेषामप्रतिमाना द्विरदानां तावमनुत्तमप्रतिमानाम्।
उन्नतदन्तकराणां सोऽनैषीदन्तमसुहृदन्तकराणाम्॥ ५४॥

अनुवाद—उस भीमसेन ने निरुपमेय, श्रेष्ठ प्रतिमा (हाथी के दोनों दाँतों के बीच का भाग) वाले, उन्नत दाँत और सूँड (कर) को धारण करनेवाले तथा शत्रुओं का विनाश करनेवाले हाथियों की पंक्ति को नष्ट कर डाला॥५४॥

अभ्रमिव क्रन्दन्तं बिभ्राणं विभ्रमेण वक्रं दन्तम्।
उन्नतमङ्कुशलतया चोदयमानो गजोत्तमं कुशलतया॥ ५५॥
अरिसेनानाशरतः कौरवसैन्यान्निरेत्य नानाशरतः।
पार्थमहासेनास्ता भगदत्तोऽभ्याजगाम हासेनास्ताः॥ ५६॥

अनुवाद—मेघों के समान गरजते हुए तथा विभ्रम (विच्छित्ति) के साथ टेढ़े दाँत को धारण किये हुए विशालकाय श्रेष्ठ हाथी को कुशलतापूर्वक अपनी अङ्कुशलता से हाँकता हुआ।

शत्रुओं की सेना के नाश में प्रवृत्त भगदत्त (प्राग्ज्योतिषनरेश), नानाविध बाणों से व्याप्त कौरव-सेना से निकलकर (अपने) अट्टहास से तितर-बितर की गयी पाण्डवों की (अक्षौहिणीरूप) महासेना के सम्मुख आया।

व्याख्या—भीमसेन ने दुर्योधन की सेना को कुचल डाला। उसने अङ्गदेश के राजा के मस्तक को अपने बाण से उड़ा दिया। यह देखकर दुर्योधन की सेना घबराकर भाग गयी। इसके बाद ऐरावत के वंश में उत्पन्न हुए एक विशालकाय गजराज पर चढ़कर भगदत्त ने भीमसेन पर आक्रमण किया॥ ५५–५६॥

स्वच्छं दन्तं दधतं स्वच्छन्दं तं प्रचारयन् द्विपराजम्।
अस्तोकारिविमुक्तैरस्तोऽकारिक्षुरैर्न भगदत्तोऽयम्॥ ५७॥

अनुवाद—शुभ्र-दाँत को धारण करनेवाले स्वेच्छाचारी गजराज को हाँकनेवाले इस भगदत्त को असंख्य पांडव-सेना के वीरों द्वारा छोड़े गये (अस्तोकारिविमुक्तैः) क्षुर (बाण-विशेष) भी दूर न कर सके। अर्थात् पाण्डव-सेना के बाणों से वह भगाया न जा सका॥ ५७॥

नवशीकरमुक्ताभिर्गलितगुरगस्तदीयकरमुक्ताभि ।
गच्छन्नतुलेभेश गर्वेण वृकोदरोऽपि न तु लेभे शम् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—भगदत्त के गजराज की सूँड से छोड़े गये नवीन जलकण रूपी मुक्ताओं से (भीम के रथ के) घोड़े भाग गये। फिर गर्व के साथ निरुपमेय गजराज के पास जाते हुए भीम ने सुख न प्राप्त किया अर्थात् उसके द्वारा भीम को अत्यधिक शारीरिक-कष्ट प्राप्त हुआ।

व्याख्या—भगदत्त के हाथी ने क्रोध में भरकर अपने आगे के दो पैर और सूँड से भीमसेन के रथ और घोड़ों को एकदम कुचल डाला। भीमसेन हाथी के सामने पहुँचे तो उसने उन्हें सूँड से नीचे गिराकर मसलना प्रारम्भ किया। कुछ देर में वे उससे छुटकारा पाकर बड़े वेग से भाग गये ॥ ५८ ॥

स जनितबन्धुरय त शैनेयरथ निरास बन्धुरयन्तम् ।
सात्यकिरातेन न प्लुतः पुनः समर किरातेनेन ॥ ५९ ॥

अनुवाद—(फिर) उस गजराज ने सुन्दर धुरावाले सात्यकि (शैनेय) के रथ को उठाकर दूर फेंक दिया। इस पर सात्यकि के बन्धु हाहाकार करने लगे। भागे हुए सात्यकि ने पुनः (लौटकर) इस किरातस्वामी (किरातेन) भगदत्त के साथ युद्ध न किया।

व्याख्या—जब युधिष्ठिर ने बड़ी भारी सेना लेकर भगदत्त को चारो ओर से घेर लिया तो प्राग्ज्योतिष नरेश ने अपने हाथी को यकायक सात्यकि के रथ पर छोड़ दिया। हाथी ने उसके रथ को उठाकर बड़े वेग से दूर फेंक दिया परन्तु सात्यकि रथ में से कूदकर भाग गया। यह देखकर सेना के लोग हाहाकार करने लगे ॥ ५९ ॥

स हि तेषु यदा भङ्गं सहितेषु चकार सुप्रतीकारोही ।
कोऽपि च विभ्रत्सु मन कोऽपि चकारो न सुप्रतीकारो हि ॥ ६० ॥

अनुवाद—सुन्दर अङ्गोंवाले (सुप्रतीक—अथवा सुप्रतीक नामक) हाथी पर सवार हुए उस भगदत्त ने जब उन लोगों (भीमसेन, सात्यकि आदि) के इकट्ठे होने पर तथा कोपयुक्त चित्त धारण करने पर भी (उन लोगों को) पराजित (भङ्ग) कर दिया तब पाण्डवों की सेना में भगदत्त का प्रतीकार करनेवाला कोई भी (महारथी) शेष न रहा ॥ ६० ॥

सेना समद तेन प्रमथ्यमानाद्रिशृङ्गसमदन्तेन ।
अधिकमिहाहायाद्धार्ता तामर्जुनाय हाहावादाद् ॥ ६१ ॥

अनुवाद—पर्वत-शिखर के सदृश दाँतवाले (भगदत्त के) मतवाले

गजवर के द्वारा रण में संहार की जाती हुई सेना ने हाहाकार द्वारा विनाशरूप प्रवृत्ति (समाचार) को अर्जुन तक पहुँचाया अर्थात् अपनी सेना के हाहाकार को सुनकर अर्जुन को अपनी सेना के (भगदत्त द्वारा होनेवाले) संहार का पता लगा ॥ ६१ ॥

अथ गजमभियातेन श्वेताश्वेनातिमात्रमभिया तेन।
भगदत्तोऽमरशक्तिर्विदधौ विध्वस्तचापतोमरशक्ति ॥ ६२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त अत्यन्त निर्भीक अर्जुन (श्वेताश्व) ने भगदत्त के गज के सम्मुख पहुँचकर, देवताओं के सदृश शक्तिवाले (अमरशक्ति) भगदत्त के (द्वारा फेंके गये) धनुष, तोमर और शक्ति (आयुधविशेष) को (बीच में ही अनेक टुकड़ों में) काट दिया।

व्याख्या—भगदत्त इन्द्रादि देवताओं के समान पराक्रमशाली था। उसने अपने सम्मुख अर्जुन को आया हुआ देखकर अर्जुन पर बाणों की वर्षा प्रारम्भ की पर अर्जुन ने उसके धनुष को काट डाला। फिर भगदत्त ने उनपर चौदह तोमर छोड़े, किन्तु उन्होंने प्रत्येक के दो-दो टुकड़े कर डाले तब भगदत्त ने श्रीकृष्ण पर एक लोहे की शक्ति छोड़ी, किन्तु अर्जुन ने उसके भी दो टुकड़े कर डाले ॥ ६२ ॥

शत्रुसमाजावार्यः शक्रभुवे वैष्णवाख्यमाजावार्यः ।
अर्कमिवारितमस्त्रं भगदत्तो मुक्तवानवारितमस्त्रम् ॥ ६३ ॥

अनुवाद—शत्रु-समूह के लिये दुर्धर्ष राजा भगदत्त ने युद्ध-भूमि में अर्जुन के ऊपर किसी के भी द्वारा न रोके जा सकनेवाले तथा अन्धकार को नष्ट करनेवाले सूर्य के समान, शत्रु-रूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाले वैष्णवास्त्र को छोड़ा ॥ ६३ ॥

वेगादेव स्वंस स्वयमस्त्रमधत्त वासुदेवः स्वं स.।
तच्च शुभोरसि तस्य स्रगजनि रम्या जगत्प्रभोरसितस्य ॥ ६४ ॥

अनुवाद—सुन्दर स्कन्धोंवाले भगवान् कृष्ण (वासुदेव) ने वेग से (अर्जुन के ऊपर फेंके गये) उस अपने वैष्णवास्त्र को स्वयं झेल लिया तथा वह (वैष्णवास्त्र) अस्त्र श्यामवर्ण (असितस्य) श्रीकृष्ण के शुभ वक्षस्थल पर सुन्दर माला (के समान) बन गया (क्योंकि उससे उन्हें तनिक भी कष्ट न पहुँचा) ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—जब भगदत्त अर्जुन के पराक्रम से व्यथित हो उठा तो क्रोध में आकर उसने वैष्णवास्त्र का आवाहन किया और उससे अङ्कुश को अभिमंत्रित करके उसे अर्जुन की छाती पर चलाया। भगदत्त का वह अस्त्र सबका नाश

करनेवाला था अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ओट करके उसे अपनी छाती पर झेल लिया। यह देखकर अर्जुन को बड़ा क्लेश हुआ और उसने भगवान् से ऐसा करने का कारण पूछा। अर्जुन का प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण ने इसका रहस्य प्रकट किया। वे बोले 'जब मैं अपने चौथे विग्रह (शेषशायी नारायण) के द्वारा हजार वर्ष के पश्चात् शयन से उठा तो पृथ्वी-देवी ने आकर मुझसे वरदान माँगा कि 'मेरा पुत्र (नरकासुर) देवता तथा असुरों से अवध्य हो और उसके पास वैष्णवास्त्र रहे'। पृथ्वी की यह याचना सुनकर मैंने उसके पुत्र को अमोघ वैष्णवास्त्र दिया और उससे कहा 'पृथ्वी! यह अमोघ वैष्णवास्त्र नरकासुर की रक्षा के लिए उसके पास रहेगा, अब इसे कोई नहीं मार सकेगा।' वह नरकासुर अब दुर्धर्ष होकर शत्रुओं को सन्ताप देने लगा। अर्जुन! वही मेरा अस्त्र नरकासुर से भगदत्त को प्राप्त हुआ है। अतः तुम्हारी प्राण-रक्षा के लिए ही मैंने इस अस्त्र की चोट स्वयं सह ली और इसे व्यर्थ कर दिया है। अब भगदत्त के पास यह अस्त्र नहीं रहा, अतः इस महान् असुर को तुम मार डालो' ॥ ६४ ॥

अथ मतिमानिषुमहिते शक्रतनूजो मुमोच मानिषु महिते।
तद्भिन्नः स ममार स्थानं च महेन्द्रसद्मनः सममार ॥ ६५ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् बुद्धिमान् (इन्द्रपुत्र) अर्जुन ने स्वाभिमानियों में पूज्य शत्रु (अहित) भगदत्त पर बाण चलाया। अर्जुन के बाण से विदीर्ण (वक्षस्थलवाला) भगदत्त मर गया तथा इन्द्र-लोक के समान पद को प्राप्त किया।

व्याख्या—भगवान् श्रीकृष्ण से आज्ञा प्राप्त कर अर्जुन ने भगदत्त को अपने तीक्ष्ण बाण से मार डाला। भगदत्त ने मरकर इन्द्रलोक के समान पद को प्राप्त किया क्योंकि युद्ध में महारथी अर्जुन के द्वारा वध प्राप्त करना पुण्य की बात है ॥ ६५ ॥

अथ भगदत्तेभान्तं शरमिषुधावहरदग्निदत्ते भान्तम्।
तेन ततान तदन्तं सोऽपि नदन्नवनिमभजतानतदन्तम् ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् अर्जुन ने अग्नि के द्वारा (खाण्डववनदाह के समय) दिये गये तरकस से चमकते हुए बाण को भगदत्त के हाथी को मारने के लिये निकाला और उससे उसको (हाथी को) मार डाला। वह हाथी भी अपने उठे हुए दाँतों को नीचे करके चिंघाड़ता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥६६॥

कृत्वासौ कर्यन्तं पार्थो गजवीयदत्तसौकर्यं नम्।
जिष्णुर्जन्यायातः पुनरपि संशप्तकानजन्यायातः ॥ ६७ ॥

अनुवाद—गज के वध के कारण (युद्ध में महान् शत्रुओं के भी वध रूप)

सौकर्य को प्राप्त करनेवाले भगदत्त को जीतनेवाले अर्जुन, हाथी का वध करके, पुनः युद्ध करने के लिये संशप्तकों के पास आये ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—त्रिगर्त जनपद के वीरों के लिए संशप्तक पद प्रयुक्त किया गया है। संशप्तक उस योद्धा को कहते हैं जिसने बिना सफल हुए लड़ाई से न हटने की शपथ खायी हो अथवा जिसने शत्रु को मारे बिना रणक्षेत्र से न हटने की शपथ खायी हो—सम्यक् शप्तम् अङ्गीकारो यस्य, ब० स०, कप्। अमरकोष में भी इसी प्रकार उल्लेख आया है—'संशप्तकास्तु समये संग्रामाद्-निवर्तिनः' ॥ ६७ ॥

अथ रविरस्तमहास्तद्द्युतिभिरिवावजृम्भिताभिरस्तमहास्त ।
क्षतकङ्कटकाये ते सेने द्वे अपि जवेन कटकाये ते ॥ ६८ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् अर्जुन की फैलती हुई कान्ति से मानों क्षीण तेजवाला सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हुआ। नष्ट हुए कवच (कङ्कट) से युक्त शरीरवाली दोनों सेनाएँ भी शीघ्र ही (विश्राम करने के लिये) अपनी-अपनी सेनाओं (कौरवों और पाण्डवों के शिविर) में चली गयीं।

व्याख्या—युद्ध होते-होते सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हुआ। इस भाव की जो उत्प्रेक्षा कवि ने अपनी प्रतिभा से उद्भूत की है वह अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक है। अर्जुन की अत्यधिक कान्ति के सम्मुख सूर्य का तेज नष्ट हो गया जैसे सूर्य के सामने दीपक का। अतः ऐसी दशा में मानों विरक्त एवं नैराश्य-भाव से सूर्य पर्वतों के पीछे छिपने के लिये चला गया जैसे कि, लोक में भी, किसी बात के कारण दूसरों से लज्जित कोई व्यक्ति अपना मुख छिपाने लग जाता है ॥ ६८ ॥

निशि भगदत्तान्तेन स्वजनेन समन्वितोऽवदत्तान्तेन ।
अरिगणनोदी नत्वा द्रोणाचार्यं सुयोधनो दीनत्वाद् ॥ ६९ ॥

अनुवाद—रात्रि में, भगदत्त के वध से दुःखी बन्धुवर्ग से घिरा हुआ शत्रु-समूह को नष्ट करनेवाला दुर्योधन दीनता के साथ द्रोणाचार्य को प्रणाम करके बोला ॥ ६९ ॥

मतिमप्रङ्ग मयि त्वा मन्ये स्निग्धं (तात) यदर्जुन गमयित्वा ।
न त्वं नह्यस्यहित वाञ्छसि नूनं जनस्य न ह्यस्य हितम् ॥ ७० ॥

अनुवाद—हे बुद्धिमन् द्रोणाचार्य! अर्जुन को दूर भिजवाकर भी जो आप शत्रु युधिष्ठिर को (मेरे अधीन करने के लिए) नहीं बांधते हैं उससे मैं यह समझता हूँ कि आप मुझसे स्नेह नहीं करते। निश्चित ही आप इस व्यक्ति (अर्थात् हमारा) का हित नहीं चाहते ॥ ७० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'तूर्ण' और 'हि' दोनों ही निश्चयार्थक अव्ययों को उपयुक्त करने का अभिप्राय निश्चय को और भी अधिक दृढ़ करना है ॥७०॥

वचनममाविष्रमस्य श्रुत्वा कुपितेन चेतसा विश्रमस्य ।
मतिमकरोद्वेगेन व्यसनमिदं तरितुं गुरुतरोद्वेगेन ॥ ७१ ॥

अनुवाद—इस (अन्तरिन्द्रियोपमशम) रहित दुर्योधन के ऐसे वचन सुनकर द्रोणाचार्य ने अत्यन्त चिन्ता और क्रोधयुक्त मन से शीघ्र ही इस (शत्रु) संकट को पार करने का निश्चय किया ॥ ७१ ॥

रणकेलीयानेषु व्यग्रोऽरिबलेषु यो बलीयानेषु ।
अध्वनि हन्तास्वस्त भवतु तवाय जनो निहन्ता श्वस्तम् । ७२ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! इस शत्रु-सैन्य में जो (महारथी) रण-क्रीडा-यात्रा के लिये उत्कण्ठित है तथा जो सबसे बलवान् है उसको यह व्यक्ति कल अवश्य ही मारेगा-तुम्हारे लिये यही आश्वासन है ॥ ७२ ॥

स व्यूह रचनवान् द्रक्ष्यसि कर्माणि यत्र हन्त नयानि ।
यं न नरा जानीयुर्न च रिपुचक्राणि साहितराजानीयुः ॥ ७३ ॥

अनुवाद—हे राजन् ! तुम देखना मैं उस व्यूह की रचना करूँगा जहाँ पर (अद्विभेद्यत्वादि) अद्भुत कर्म होंगे । जिस व्यूह को न तो साधारण-मनुष्य जानते हैं और न ही राजा (युधिष्ठिर) सहित शत्रु-समूह उसको (व्यूह) जान सकेगा ।

व्याख्या—दुर्योधन के कटु वचन सुनकर द्रोणाचार्य बड़े खिन्न हुए और बोले 'तात ! तुमसे सत्य कहता हूँ, यह बात कभी अन्यथा नहीं हो सकती कि कल मैं पाण्डव-पक्ष के किसी एक श्रेष्ठ महारथी का नाश करूँगा । कल वह व्यूह बनाऊँगा, जिसे देवता भी नहीं जानते । लेकिन अर्जुन को तुम किसी भी उपाय से हटा देना क्योंकि युद्ध के विषय की कोई भी कला ऐसी नहीं जो अर्जुन को न पता हो' ॥ ७३ ॥

इत्य वाणीमुक्त्वा द्रोणः करुणा रथी च वाणी मुक्त्वा ।
कर्तुमनाः समरधयग्नलिनव्यूह जितोशना. समरचयत् ॥ ७४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कहकर तथा दया त्याग कर, रथ व बाणधारी द्रोणाचार्य ने, जिन्होंने अपनी बुद्धि से शुक्राचार्य को भी जीत लिया था, युद्ध करने की इच्छा से पद्मव्यूह की रचना की ॥ ७४ ॥

परुपगिरोपसि तेन त्रिगर्तपतिना सदा च रोपमितेन ।
तद्वचनावाहितेन व्यपकृष्टौ कृष्णफल्गुनावहितेन ॥ ७५ ॥

अनुवाद—इसके बाद प्रातःकाल दुर्योधन के वचनों के प्रति सावधान, कोपान्वित तथा कठोर वाणीवाला शत्रु त्रिगर्तराज (ललकार कर) कृष्ण और अर्जुन को दूर ले गया ॥ ७५ ॥

पार्था मिन्धुरवन्तं पद्मव्यूहं समीक्ष्य सिन्धुरवं तम्।
प्रतिहतवेगा हन्त व्यसनसमुद्रे महाहवेऽगाहन्त ॥ ७६ ॥

अनुवाद—महायुद्ध में, सिन्धु के समान कोलाहल से पूर्ण तथा गज-व्याप्त उस पद्म-व्यूह को देखकर, (चारों) पाण्डव कुण्ठित-शक्ति होकर संकट-समुद्र में डूब गये ॥ ७६ ॥

द्विषतामारम्भान्तं सौभद्रं धर्मजः कुमारं भान्तम्।
अरिसमुदायान्तस्य व्यूहस्य नियुक्तवानिमदायां तस्य ॥ ७७ ॥

अनुवाद—धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने शत्रु-समूह (पाण्डव-सैन्य) के नाश-रूप उस व्यूह के भेदन में, शत्रुओं (कौरव-सैन्य) की रचना के लिये नाशरूप तथा तेजस्वी, कुमार अभिमन्यु को नियुक्त किया।

व्याख्या—पद्म व्यूह देखकर सारे पाण्डव हतप्रभ हो गये क्योंकि उनमें से कोई भी इसके भेदन-प्रकार से परिचित न था। अतः युधिष्ठिर ने अभिमन्यु को बुलाकर कहा 'वत्स! इस व्यूह को केवल तुम, अर्जुन, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न ही तोड़ सकते हैं। पाँचवा कोई भी इस काम को नहीं जानता। अतः तुम शीघ्र ही अस्त्र लेकर द्रोण के इस व्यूह को तोड़ डालो। जिस मार्ग से तुम जाओगे तुम्हारे पीछे-पीछे हम लोग भी चलेंगे और सब ओर से तुम्हारी रक्षा करेंगे ॥ ७७ ॥

स च नृपकेसरवन्तं द्रोणे तिष्ठति सकार्मुके सरवं तम्।
दृढमतिरभिनद्धासी रभसादभिमन्युरिषुभिरभिनद्धासी ॥ ७८ ॥

अनुवाद—स्थिर बुद्धिवाले दूसरे वीरों की हँसी उड़ानेवाले खड्गधारी अभिमन्यु ने शीघ्र ही अपने बाणों से, धनुर्धारी द्रोणाचार्य के स्थित रहने पर भी, कोलाहल-व्याप्त तथा नृपरूपी केसर से पूर्ण उस (पद्म) व्यूह को भेद डाला ॥ ७८ ॥

त पुनराजाविष्टं पद्मव्यूहं समीक्ष्य राजा विष्टम्।
चर्तुं रक्षां तस्य प्रचचाल (समं) चमूभिरक्षान्तस्य ॥ ७९ ॥

अनुवाद—राजा युधिष्ठिर संग्राम में अपने प्रिय (भतीजे अभिमन्यु) को पद्मव्यूह में प्रविष्ट हुआ देखकर, (शत्रुओं को पराजित करने में) असमर्थ अभिमन्यु की रक्षा करने के लिये सेना के साथ चल पड़े ॥ ७९ ॥

तत्र समुद्यतमानांस्तद्गुप्त्यै पाण्डवान्समुद्यतमानान् ।
विप्रदसि हरवरतः सिन्धुपतिस्तान्रुरोध सिंहरवरतः ॥ ८० ॥

अनुवाद—उस चक्र-व्यूह में, अभिमन्यु की रक्षा के लिये प्रयत्नशील तथा प्रचण्ड-वीरता करनेवाले उन पाण्डवों को, सिंहनाद करनेवाले खड्गधारी जयद्रथ ने शंकर के वरदान के कारण रोक दिया ॥ ८० ॥

टिप्पणी—जब जयद्रथ ने वन में द्रौपदी का हरण किया था, उस समय भीमसेन से उसे पराजित होना पड़ा था। इस अपमान से दुःखी होकर उसने भगवान् शंकर की आराधना की। भक्तवत्सल भगवान् ने उस पर दया की और स्वप्न में उसे दर्शन देकर कहा 'जयद्रथ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, इच्छानुसार वर माँग लो। वह प्रणाम करके बोला 'मैं चाहता हूँ अकेले ही समस्त पाण्डवों को युद्ध में जीत सकूँ।' भगवान ने कहा सौम्य! तुम अर्जुन को छोड़ शेष चार पाण्डवों को युद्ध में जीत सकोगे।' 'अच्छा, ऐसा ही हो—' यह कहते-कहते उसकी नींद टूट गयी ॥ ८० ॥

द्विपदबलम्बालोपि प्रविश्य पार्थात्मजो बल बालोऽपि ।
समामे कोदण्डी काल इव चचार समरमेको दण्डी ॥ ८१ ॥

अनुवाद—पार्थ-पुत्र अभिमन्यु ने बालक होते हुए भी, युद्ध में शत्रुओं के आश्रय को नष्ट कर देनेवाली कौरवों की सेना में प्रवेश करके, अकेले ही धनुष तथा दण्ड लिये हुए काल के समान युद्ध किया।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में अभिमन्यु की उपमा काल से देकर उसके अतुलित पराक्रम व वीरता का परिचय दिया है। जिस प्रकार यम अकेले ही युद्ध में सारे वीरों को समाप्त कर देता है उसी प्रकार अभिमन्यु ने भी अकेले ही साहस के साथ युद्ध किया ॥ ८१ ॥

स ततानामोघेषु स्वैरं क्रीडा विरोधिनामोघेषु ।
देवचमूर्धन्यस्य प्रसूनवृष्टिं मुमोच मूर्धन्यस्य ॥ ८२ ॥

अनुवाद—उस अभिमन्यु ने शत्रुओं के अमोघ समूह में यथेष्ट युद्ध क्रीडा की। इसके बाद देव-सेना ने धन्य अभिमन्यु के शिर पर पुष्पों की वर्षा की ॥ ८२ ॥

अथ कृतमन्त्रस्ते न द्रोणेन नृप. ससंभ्रमं त्रस्तेन ।
समामायस्तस्य क्षुरेण धनुरच्छिन्नत्समायस्तस्य ॥ ८३ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त (बालक अभिमन्यु के अद्भुत-पराक्रम को देखकर) व्याकुल तथा भयभीत द्रोणाचार्य के साथ सलाह करके मायावी

कर्ण) (अथवा श्रेष्ठ—वृष—सेनानी) ने बाण से संग्राम करने से खिन्न उस अभिमन्यु का धनुष काट दिया ॥ ८३ ॥

सारथिरस्य कृपेण द्रोणेनाश्वाश्च रणशिरस्यकृपेण ।
यमलोकमनीयन्त भुवमनयन्नैव कर्म कमनीयं तत् ॥ ८४ ॥

अनुवाद—युद्ध-भूमि में कृपाचार्य ने अभिमन्यु के सारथि को तथा निर्दय द्रोणाचार्य ने उसके घोड़ों को अनीति से यम-लोक पहुँचा दिया अर्थात् मार डाला। (वस्तुत.) इस प्रकार का कर्म (महापुरुषों के द्वारा निन्दनीय होने के कारण) शोमनीय नहीं।

व्याख्या—जब कर्ण अभिमन्यु के बाण से काफी आहत हो चुका तो द्रोणाचार्य ने कर्ण से कहा 'यदि इसका धनुष और प्रत्यञ्चा काटी जा सकें, बागडोर काटकर घोड़े, पार्श्वरक्षक और सारथि मार दिये जा सकें, तो काम बन सकता है। अत: राधेय ! तुम यदि कर सको, तो करो। इस प्रकार से असहाय करके इसे रण से भगाओ और पीछे से प्रहार करो। यदि इसके हाथ में धनुष रहा तो देवता और असुर भी इसे नहीं जीत सकते।' इस प्रकार अनीति का सहारा लेकर सारे महारथियों ने उस पर हमला किया।

कवि वासुदेव ने इस श्लोक में किसीको अनीति के द्वारा मारे जाने की निन्दा की है और फिर महाभारत का युद्ध तो धर्म-युद्ध था अतः इस प्रकार का कर्म तो विशेष रूप से हेय था ॥ ८४ ॥

स हि रिपुसमुदायस्तं किं बहुना शरशतेन समुदायस्तम् ।
बालं फल्गुनरहितं न्यपातयच्छलमुपेत्य फल्गुनरहितम् ॥ ८५ ॥

अनुवाद—अधिक क्या कहें, उस शत्रु-समूह ने बड़ी प्रसन्नता के साथ, सैकड़ों बाणों से खिन्न तथा अर्जुन से रहित, अभिमन्यु को, नीच पुरुषों के लिये हितकारी—छल का सहारा लेकर, मार डाला ॥ ८५ ॥

ज्ञात्वा घोराद्रवतः कौरवसैन्यस्य ते लघोराद्रवतः ।
आर्जुनिमापन्नतनुं पाण्डुतनूजा विषादमापन्नतनुम् ॥ ८६ ॥

अनुवाद—चारों ओर दौड़ती हुई नीच स्वभाववाली कौरव-सेना के (प्रसन्नता के कारण) भयंकर शब्द से, उन (चारों) पाण्डवों ने वैष्णवी-कला को प्राप्त किये हुए शरीरवाले अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु को युद्ध-भूमि में मरा हुआ जानकर महान् दुःख प्राप्त किया अर्थात् अभिमन्यु का वध जानकर पाण्डव बहुत दुःखी हुए ॥ ८६ ॥

अथ रिपुसेनावलितः सायमदृष्टेन मानसेनावलितः ।
श्रुतवानस्वमुदं तं स्वजनं संप्राप्य फल्गुनस्तमुदन्तम् ॥ ८७ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त दुःखी मन से शत्रु सेना से लौटे हुए अर्जुन ने दुःखी बन्धुओं के पास पहुँच कर (अभिमन्यु-वधरूप) उस समाचार को सुना।

व्याख्या—संशप्तकों से युद्ध करके सायंकाल जब अर्जुन अपने शिविर में आये तो उनका मन पहले से ही भावी-दुःख के कारण दुःखी था। कभी-कभी भावी दुःख की सम्भावना से व्यक्ति पहले से ही अन्यमनस्क हो जाता है ॥ ८७ ॥

अनुचितमङ्ग तथास्त्यस्त्वया यदुपशमसि जनमिमं गतवादः।
गमनं वत्स विधेहि त्वं मत्सहितो रमे भवत्सविधे हि ॥ ८८ ॥

अनुवाद—हे पुत्र अभिमन्यु ! यह तो तुम्हारे लिए उचित नहीं कि तुम मेरे साथ बिना बात किये हुए मुझे छोड़कर (परलोक) जा रहे हो। हे वत्स ! तुम मेरे साथ चलना जिससे मैं भी तुम्हारे समीप (रहकर) आनन्द प्राप्त कर सकूँ।

व्याख्या—अपने प्रिय पुत्र का वध सुनकर वीर अर्जुन दीनतावश विलाप करने लगे। इस श्लोक में अर्जुन का अपने पुत्र के प्रति सहज वात्सल्य-भाव स्पष्टतः देखा जा सकता है ॥ ८८ ॥

क्रोशति नामात्र मयि प्रदिश मुखेन्दोर्विभावनामात्रमयि।
देहि कृपां सौभद्र मैवं शेष्व महति पांसौ मद्र ॥ ८९ ॥

अनुवाद—हे पुत्र ! यहाँ पर मुझ क्रन्दन करते हुए (पिता) को थोड़ा अपना मुख चन्द्र तो दिखलाओ। हे अभिमन्यु ! मुझ पर कृपा करो। हे भद्र ! इस प्रकार तुम (रण-भूमि की) धूलि में (अकेले ही) मत सो ॥ ८९ ॥

वपुषा कौमारेण त्वया विना विरहितैव कौमारेण।
कथमविषादी प्राणान्दध्यां मध्ये द्विषां त्विषा दीप्राणाम् ॥ ९० ॥

अनुवाद—हे वत्स ! तुम्हारे तरुण शरीर के अभाव में यह पृथ्वी मदन-रहित हो गयी है। तुम्हारी मृत्यु पर भी स्वस्थ बना हुआ मैं भला कैसे कान्ति से प्रकाशमान शत्रुओं के बीच में अपने प्राण धारण करूँ।

व्याख्या—अर्जुन ने इस श्लोक में प्रकारान्तर से, अपने पुत्र की सुन्दरता के कारण काम का विग्रह बतलाया है। आज उसके परलोकवासी हो जाने से मानों पृथ्वी मदन से विरहित हो गयी। अर्जुन का कहना है कि मैं यदि तुम्हारा पिता हूँ तो मुझ को भी तुम्हारे साथ चले जाना चाहिये था पर दुःख है कि मैं ऐसी दशा में भी पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे अभाव में भला मैं कैसे जीवित रहूँ ॥ ९० ॥

इत्थं सुतमोहरतः श्रवणाद्वचसोऽच्युतस्य सुतमो हरतः ।
सखेताश्वस्ततया गिरा च सुहृदामयुज्यताश्वस्ततया ॥ ९१ ॥

अनुवाद—इस प्रकार पुत्र के मोह में विलाप करनेवाले अर्जुन, भगवान् कृष्ण के, अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करनेवाले तत्वज्ञान रूप वचनों को सुनकर तथा मित्रों की आश्वस्तयुक्त वाणी से कुछ आश्वस्त हुए अर्थात् उन्होंने धैर्य धारण किया ।

व्याख्या—नश्वर शरीर के प्रति मोह करना अविद्या है। आत्मा अजर, अमर है—इस प्रकार का उपदेश भगवान् कृष्ण पहले ही अर्जुन को 'य एनं वेत्ति हन्तारं' आदि वाक्यों में दे चुके हैं । इसी प्रकार सात्यकि आदि मित्रों ने भी अर्जुन को काफी धैर्य बँधाया ॥ ९१ ॥

अथ सपदि व्यापारं संचिन्त्य जयद्रथस्य दिव्यापारम् ।
सुतशोकोपेतस्य क्षणान्मनो मग्नमजनि कोपे तस्य ॥ ९२ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त तत्क्षण जयद्रथ के (शम्भु के वर के कारण युधिष्ठिरादि का रोधन रूप) दिव्य और अपार (रण-कौशल रूप) व्यापार को सोचकर, पुत्र-शोक से युक्त अर्जुन का मन क्षण भर में कोप में डूब गया अर्थात् अर्जुन जयद्रथ के व्यापार को सोचकर कुपित हो उठे ॥ ९२ ॥

समरभुवि स्वस्तस्य क्षयं न कुर्यां स्थितस्य विश्वस्तस्य ।
यद्यरिसंसद्यस्यामाविष्टो जातवेदसं सद्यः स्याम् ॥ ९३ ॥

अनुवाद—रण-भूमि में स्थित निडर जयद्रथ का वध यदि मैं (कल) शत्रु-सभा में प्रवेश करके न कर सकूँगा तो शीघ्र ही अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा ।

व्याख्या—युधिष्ठिर के मुख से अपने पुत्र के वध का आद्योपान्त वृत्तान्त सुनने के पश्चात् अर्जुन ने जयद्रथ को ही मुख्य रूप से अपने पुत्र के वध का निमित्त माना । अतः क्रोध में आकर उन्होंने तत्क्षण प्रतिज्ञा की कि 'यदि कल सूर्य अस्त होने के पहले पापी जयद्रथ को मैं न मार सका तो मैं स्वयं ही जलती हुई आग में प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ ९३ ॥

इत्थ कोपमितेन भुवता पार्थेन पावकोपमितेन ।
आनयनासि धुवनं धूममिवेद्धं दिधक्षवा सिन्धुवनम् ॥ ९४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार (क्रोध के कारण) अग्नि के समान, कोपान्वित, धूम के समान खड्ग को हिलानेवाले तथा सिन्धु (जयद्रथ का जनपद) वन को जलाने के इच्छुक अर्जुन (क्रोध से) भभक उठे ॥ ९४ ॥

अथ कृतसञ्चारेभ्यः पाण्डवसैन्ये ससाध्वसं चारेभ्यः ।
श्रुतवान्स बभूवार्तः सिन्धुपतिस्तत्क्षणेन सम्भूयार्तः ॥ १५ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त पाण्डव सैन्य में विचरण करनेवाले दूतों से भयभीत सिन्धुपति जयद्रथ ने अपने वध की बात सुनी । यह सुनकर वह अत्यन्त घबड़ाया । वह तत्क्षण भय (वध) से आत्म कुशलता पर विचार करने लगा अर्थात् किसी यत्न के सम्पादन से ही मुझ को इस महान् संकट से मुक्ति मिल सकेगी—यह सोचने लगा ॥ १५ ॥

अधिकृतरक्षामस्य स्वयं प्रतिश्रुत्य सपदि रक्षामस्य ।
द्रोणो दयया तेने समये व्यूहं जगादुदययातेने ॥ १६ ॥

अनुवाद—यह सुनकर द्रोणाचार्य ने तत्क्षण कृपापूर्वक, अत्यन्त दुःखी जयद्रथ की रक्षा के लिये स्वयं प्रतिज्ञा करके प्रातः काल होने पर (उदयपातेने समये), शीघ्र ही व्यूह रचना की ।

व्याख्या—अत्यन्त भयभीत जयद्रथ रात्रि में द्रोणाचार्य के समीप जाकर प्र णाम करके अपनी रक्षा के लिए गिड़गिड़ाने लगा । उसकी ऐसी दशा देखकर आचार्य ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा 'तुम डरो मत' क्योंकि मैं तुम्हारा रक्षक हूँ । मेरी भुजाएँ जिसकी रक्षा करती हों, उस पर देवताओं का भी वश नहीं चल सकता । मैं ऐसा व्यूह बनाऊँगा, जिसमें अर्जुन पहुँच ही नहीं सकेंगे । अतः डरो मत, खूब उत्साह से युद्ध करो' ॥ १६ ॥

तस्य सराजन्यस्य द्रोणः पृष्ठेऽथ सिन्धुराजं न्यस्य ।
स्वयमलमकरोदग्रं व्यूहस्याम्बुधिमिवोग्रमकरोदग्रम् ॥ १७ ॥

अनुवाद—क्षत्रिय-कुमारों से व्याप्त उस व्यूह के मध्य-भाग में सिन्धुराज जयद्रथ को खड़ा कर, उग्र मकरों से व्याप्त समुद्र के समान स्वयं को द्रोणाचार्य ने व्यूह के अग्रभाग में अलंकृत किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—द्रोणाचार्य का यह व्यूह अत्यन्त अद्भुत था । इस व्यूह का अगला आधा भाग शकट के आकार का था और पिछला कमल के समान । कमल-व्यूह के मध्य की कर्णिका के बीच सूची-व्यूह के पास जयद्रथ खड़ा था और बाकी सभी वीर उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ १७ ॥

अथ रिपुराजीघोरःपाटनकृत्पाण्डुसूनुराजौ घोरः ।
हित्वा दक्षो भीतं द्रोणस्य व्यूहमविशदक्षोभी तत् ॥ १८ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् युद्ध में कठोर, दक्ष तथा शत्रु राज-समूह के वक्ष स्थल को विदीर्ण करनेवाले क्षोभ-रहित अर्जुन ने, भय त्याग कर, द्रोणाचार्य के व्यूह में प्रवेश किया ॥ १८ ॥

निजबलमन्त्रासरति स्वयं गुरुर्न्यरुणदेनमत्रासरतिः।
प्रणमन्नादरयोगादाचार्यं फल्गुनः सनादरयोऽगात् ॥ ९९ ॥

अनुवाद—अपनी सेना में अर्जुन के प्रवेश करने पर निर्भय गुरु द्रोणाचार्य ने स्वयं अर्जुन को रोका। सिंहनाद करनेवाला अर्जुन आदर के कारण गुरु द्रोणाचार्य को प्रणाम करता हुआ (सम्मुख) आया ॥ ९९ ॥

पार्थं संधावन्तं नैव द्रोणो रुरोध संधावं तम् ।
हतनानानरमन्तेवासिव्यापत्सु सज्जना न रमन्ते ॥ १०० ॥

अनुवाद—(जयद्रथ के वध की) प्रतिज्ञा करनेवाले, (जयद्रथ की ओर) दौड़ने वाले तथा नानाविध मनुष्यों को मार डालनेवाले अर्जुन को आचार्य द्रोणाचार्य ने नहीं रोका (क्योंकि) सज्जन शिष्य के संकट में हर्षित नहीं होते हैं।

व्याख्या—अर्जुन ने द्रोणाचार्य को प्रणाम करते हुए कहा 'ब्रह्मन्! आप मेरे लिए कल्याण-कामना कीजिए। मेरे लिये आप पिता के समान हैं। जिस तरह अश्वत्थामा की रक्षा करना आपका कर्तव्य है, उसी प्रकार आपको मेरी भी रक्षा करनी चाहिये। आज मैं आपकी कृपा से सिन्धुराज जयद्रथ को मारना चाहता हूँ। आप मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा करें। इस प्रकार कहते हुए अर्जुन जयद्रथ के वध के लिए उत्सुक बड़ी तेजी से कौरवों की सेना में घुस गये। द्रोणाचार्य ने उन्हें क्यों नहीं ललकारा? इसका समाधान अर्थान्तर-न्यास के द्वारा कवि ने इस श्लोक में किया है क्योंकि सज्जन पुरुष अपने शिष्य को कष्ट नहीं देना चाहते। वे उसके कष्टों में हर्षित नहीं होते ॥ १०० ॥

निरचितबाणावलिना किरीटिना दलितवारबाणा बलिना ।
वसुधामापन्नमिता राजानः सैन्यवृन्दमापन्नमिताः ॥ १०१ ॥

अनुवाद—बलवान् किरीटी (अर्जुन) ने बाणों की अनवरत बौछार से राजाओं के कवचों को चूर-चूर कर दिया। तथा युद्ध के लिये आये हुए सैन्य-समूह में शामिल, उन असंख्य राजाओं को पृथ्वी पर (मारकर) लुढ़का दिया ॥ १०१ ॥

अमुचदपक्षेमेऽयं पुरः शरं जिष्णुरहितपक्षेऽमेयम् ।
त्रिभुवननाथोपेते द्रवति रथे पृष्ठतोऽमुनाथो पेते ॥ १०२ ॥

अनुवाद—विजयशील अर्जुन (जिष्णु) ने कल्याणविहीन (अपक्षेमे) शत्रु-पक्ष पर असंख्य बाण फेंके। इसके बाद श्रीकृष्ण से युक्त रथ के चलने पर अर्जुन भी (उस रथ पर) पीछे बैठ गये।

व्याख्या—अर्जुन के घोड़ों को युद्ध-भूमि में प्यास लगी थी। अतः अर्जुन ने वहीं पर अपने बाण को मारकर सरोवर उत्पन्न कर दिया। फिर भगवान कृष्ण अर्जुन के बनाये हुए बाणों के घर में ले जाकर अश्व-चर्या करने लगे। बड़े-बड़े महारथी भी पैदल युद्ध करते हुए अर्जुन को पीछे न हटा सके। इधर जब घोड़े विश्राम करके ताजे हो गये तो कृष्ण ने उन्हें फिर रथ में जोत दिया। वे अर्जुन के साथ रथ पर बैठकर बड़ी तेज़ी से जयद्रथ की ओर बढ़ने लगे॥ १०२॥

कुरुगन्धारावन्तिद्रविडान्यबलानि रुधिरधारावन्ति।
कृत्वा मज्जनदानां शतान्यसृजयन्त तेन मज्जनदानाम्॥ १०३॥

अनुवाद—अर्जुन ने कुरु, गान्धार, अवन्ति, द्रविड़ तथा दूसरे जनपदों की सेनाओं को रक्त की धारा से युक्त करके रण-भूमि में (शत्रुओं को) महत्ता देनेवाली मज्जा (मांस का गूदा) की सैकड़ों नदियाँ बहा दीं॥१०३॥

भूत्वासन्नाश्वस्तान् हत्वा च रणस्थ एव गतश्वस्तान्।
पार्थः सुरवरयोगात् सायाह्ने सैन्धवं च सुरवरयोऽगात्॥ १०४॥

अनुवाद—अश्वों को भिन्न कर देनेवाले अर्जुन, युद्ध में खड़े होकर, निकटस्थ तथा आश्वस्त कौरवादि को मारकर, श्रीशंकर की कृपा से (जयद्रथ को मारने के लिए) ज़ोर से सिंहनाद करते हुए, सायंकाल, जयद्रथ की ओर गये॥ १०४॥

टिप्पणी—अर्जुन ने भगवान् शंकर से पाशुपतास्त्र प्राप्त कर जयद्रथ को मारने का सामर्थ्य प्राप्त किया था। अर्जुन ने यह अस्त्र कैसे प्राप्त किया था इसका वर्णन महाभारत के द्रोण-पर्व में इस प्रकार किया गया है।

अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के विषय में चिन्ता करते हुए जब सो गये तो भगवान् कृष्ण ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया। श्रीकृष्ण के पूछने पर अर्जुन ने अपने शोक का कारण बतलाया। कारण सुनकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शंकर का सनातन पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिये शंकर का ध्यान करने को कहा। ध्यानावस्था में अर्जुन शंकर के निवासस्थान कैलास पर्वत पर पहुँचे। स्तुति करने के पश्चात् अर्जुन शङ्कर से दिव्य-अस्त्र माँगा। तत्पश्चात् शङ्करजी ने प्रसन्न होकर अपना 'पाशुपत' नामक घोर अस्त्र अर्जुन को दे दिया॥ १०४॥

अथ सपदि च्छन्नस्य ज्ञातु वार्तां महीभृदिच्छन्नस्य।
अनुचरसकलेऽशास्य सात्यकिमरिमण्डलेऽपि स कलेशास्यम्॥१०५॥

अनुवाद—इसके उपरान्त राजा युधिष्ठिर ने तत्क्षण, (व्यूह) छिपे हुए

अर्जुन का समाचार जानने की इच्छा से, सम्पूर्ण शत्रु-समूह में भी अशासनीय तथा चन्द्र सदृश मुखवाले सात्यकि को भेजा ॥ १०५ ॥

अतिसुरभि दानेन द्विपगणमश्वांश्च भिन्दानेन ।
द्रुतमावेशि निजेन स्थेम्ना सैन्यं महाहवे शिनिजेन ॥ १०६ ॥

अनुवाद—मद-जल के कारण अत्यन्त सुगन्धित हस्ति-समूह को तथा घोड़ों को छिन्न-भिन्न करता हुआ [सात्यकि, उस महायुद्ध में, दृढ़ता के साथ शीघ्र ही सेना में घुस गया ॥ १०६ ॥

अरिगणमानीयान्तं द्रोणादीनपि विजित्य मानीयान्तम् ।
कृतशरधाराजातं रुरोध भूरिश्रवाः क्रुधा राजा तम् ॥ १०७ ॥

अनुवाद—बाणों की वर्षा द्वारा शत्रु-समूह का नाश करके तथा द्रोणादि को भी जीतकर जाते हुए उस सात्यकि को अभिमानी राजा भूरिश्रवा ने क्रोध के साथ रोका ॥ १०७ ॥

ताभ्यां सद्वेषाभ्यां रथं ससूतं निपात्य सद्वेषाभ्याम् ।
उद्धृतसारासिभ्यां जघटे परमेण रंहसारासिभ्याम् ॥ १०८ ॥

अनुवाद—(युद्ध के योग्य) सुन्दर वेष को धारण करनेवाले तथा एक दूसरे से द्वेष करने वाले सात्यकि और भूरिश्रवा, एक-दूसरे के सारथि और रथ को नष्ट करके, हाथों में दृढ़ खड्ग लेकर तथा जोर-जोर से चिल्लाते हुए बड़ी तेजी के साथ आपस में युद्ध करने लगे ॥ १०८ ॥

शिनिजमहाबलवं तं निपात्य भूरिश्रवा महाबलवन्तम् ।
पदमतनोदनघोरःस्थले जवेनैव वैरिनोदनघोरः ॥ १०९ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के विनाश में क्रूर राजा भूरिश्रवा ने महाबली तथा चेष्टा-शून्य (अहाबलवम्) सात्यकि को भूमि पर पटककर उसके निष्कलङ्क वक्षःस्थल पर जोर से लात मारी ।

व्याख्या—जब दोनों ही वीर रथहीन हो गये तो उन्होंने आपस में खड्ग-युद्ध किया । थोड़ी देर में दोनों की तलवारों की चोटों से जब ढालें कट गयीं तो वे आपस में मल्लयुद्ध करने लगे । अन्त में जब सात्यकि लड़ते-लड़ते परास्त हो गया तो भूरिश्रवा ने सात्यकि को, जैसे सिंह हाथी को खदेड़ता है, पृथ्वी पर घसीटते हुए एकदम उठाकर पटक दिया और फिर उसकी छाती पर लात मारी ॥ १०९ ॥

त्वरित. सन्नतमस्य प्रगृह्य च शिरः कचेषु संनतमस्य ।
स्वबलं भासि मुदा स व्यातन्वन्संगरे महासिमुदास ॥ ११० ॥

अनुवाद—राजा भूरिश्रवा ने तुरन्त ही (युद्ध के कारण) अत्यन्त खिन्न तथा (लज्जा के कारण) झुके हुए सात्यकि के सिर को बालों से पकड़ कर हर्ष से अपने उज्ज्वल-बल को बतलाते हुए, युद्ध में, महान् खड्ग को (सिर काटने के लिये) म्यान से खींचा ॥ ११० ॥

तस्य तु स महावलय भूरिश्रवसो भुजंगसमहावलयम् ।
अहरत्सासिं हस्तं पार्थो बाणेन रंहसा सिंहस्तम् ॥ १११ ॥

अनुवाद—फिर सिंह सदृश अर्जुन ने अपने बाण के द्वारा शीघ्र ही, भूरिश्रवा के बड़े-बड़े कङ्कणोंवाली तथा भुजंग के समान चेष्टा करनेवाली खड्ग-युक्त भुजा को काट दिया।

व्याख्या—जब भूरिश्रवा सात्यकि के बाल पकड़ कर उसके सिर को अपनी खड्ग से काटना चाह रहा था तब दूर खड़े हुए श्रीकृष्ण ने भूरिश्रवा का यह संकट देखकर अर्जुन से कहा 'महाबाहो ! देखो तुम्हारा प्रिय शिष्य इस समय भूरिश्रवा के चंगुल में फँस गया है'। यह सुनकर पृथापुत्र अर्जुन ने गाण्डीव-धनुष पर एक पैना बाण चढ़ाया और उससे भूरिश्रवा की वह भुजा काट दी, जिसमें वह तलवार लिये हुए था ॥ १११ ॥

टिप्पणी—कवि वासुदेव ने खड्ग लिये हुए भूरिश्रवा की भुजा की समता एक सर्प से दी है। क्योंकि जिस प्रकार सर्प की इतस्ततः टेढ़ी-मेढ़ी गति होती है उसी प्रकार उस समय भूरिश्रवा के हाथ का खड्ग भी भीषण और विलास युक्त था। भूरिश्रवा के हाथ का इस प्रकार से चलने या घूमने का कारण, चंगुल में फँसे हुए सात्यकि का अपने को छुड़ाने के लिये मस्तक को इधर-उधर घुमाना था ॥ १११ ॥

स च धीरोऽपास्तरण' प्रगर्हमाणोऽर्जुनं सरोपास्तरण' ।
शिश्ये राजाऽबाहुस्त धर्मं विपदि योद्धुराजावाहु' ॥ ११२ ॥

अनुवाद—वह भुजाविहीन वीर राजा भूरिश्रवा (वैसी अवस्था में) युद्ध त्याग कर अर्जुन की निन्दा करता हुआ, (युद्ध में पड़े हुए) बाणों का बिछावन बनाकर (ध्यान करके मरण-पर्यन्त उपवास करने के लिए) बैठ गया। समाम में संकट आने पर (विद्वान् लोग इस प्रकार शत्रु को मारना) ऐसा करना योद्धा का धर्म कहते हैं।

व्याख्या—भुजा कट जाने पर, भूरिश्रवा सात्यकि को छोड़कर अलग खड़ा हो गया और अर्जुन के इस कर्म की निन्दा करते हुए बोला 'अर्जुन ! मैं दूसरे से युद्ध करने में लगा हुआ था, अतः ऐसी स्थिति में आपने मेरी भुजा काटकर बड़ा ही क्रूर-कर्म किया है'। कवि ने इस स्थान पर अर्जुन के

मुख से इस निन्दा का उत्तर न दिलवाकर स्वयं ही संक्षेपतः—'तं धर्मं विरदि योद्धुराजावाहु.'—इसका उत्तर दिया है। क्षत्रिय-धर्म या युद्ध-धर्म के अनुसार संग्रामभूमि में केवल अपनी ही रक्षा नहीं करनी चाहिये, बल्कि जिसके लिये जो लड़ रहा है, उसे उसकी रक्षा का ध्यान भी अवश्य रखना चाहिये। उसकी रक्षा होने से संग्राम में राजा की रक्षा होती है। यदि अर्जुन सात्यकि को अपने सामने मरते देखते तो उन्हें पाप लगता, इसी से उन्होंने सात्यकि की रक्षा की।

अन्त में, भूरिश्रवा ने सात्यकि को छोड़कर मरण-पर्यन्त उपवास करने का नियम ले लिया। उसने बायें हाथ से युद्ध में पड़े हुए बाणों को बिछाया और योगयुक्त होकर मुनिव्रत धारण किया॥ ११२॥

विहितविमाननलाभः सात्यकिरुत्थाय चासिमाननलाभः।
ग्रीवां धृतां तस्य क्रूरश्चिच्छेद चारुवृत्तान्तस्य॥ ११३॥

अनुवाद—भूरिश्रवा के द्वारा अपमानित, (क्रोध के कारण) अग्नि समान तथा निर्भय सात्यकि ने उठकर, हाथों में तलवार लेकर चारुचरित-भूरिश्रवा की सुन्दर गर्दन काट डाली॥ ११३॥

टिप्पणी—सात्यकि ने सब लोगों के चिल्लाते रहने पर भी निर्दोष तथा अनशनव्रतधारी भूरिश्रवा की गर्दन काट डाली क्योंकि उसकी प्रतिज्ञा थी कि 'यदि कोई पुरुष संग्राम में मेरा तिरस्कार करके मुझे जमीन पर घसीट कर जीवितावस्था में ही लात मारेगा तो वह फिर मुनिव्रत धारण करके ही क्यों न बैठ जाये उसे मैं अवश्य मारूँगा'॥ ११३॥

युक्तबलाहकसैन्यं प्राप्तं नादेन जितबलाहकसैन्यम्।
सात्यकिरूनापायं रथलघिरूढो हरेः कुरूनापायम्॥ ११४॥

अनुवाद—शत्रुओं की सेना को मारनेवाले (बलाहक) शूर-वीरों की सेना से युक्त, अपने शब्द से मेघ-समूह को भी पराजित करनेवाले (जितब-लाहकसैन्यम्) तथा विनाश-रहित, कृष्ण के रथ पर चढ़कर, सात्यकि कौरवों की ओर पहुँचे॥ ११४॥

अथ पुनराजावार्तां मतिं दधज्ज्ञातुमस्य राजा वार्ताम्।
श्रितपरसेनममुं च भ्रातुं सचिन्त्य भीमसेनममुञ्चत्॥ ११५॥

अनुवाद—फिर इसके बाद युद्ध के विषय में चिन्ताकुल राजा युधिष्ठिर ने अर्जुन का समाचार जानने के लिए तथा शत्रु की सेना में प्रविष्ट अर्जुन की रक्षा के विचार से भीमसेन को भेजा॥ ११५॥

स गुरो रणदक्षस्य क्षेमं कृत्वा रथस्य रणदक्षस्य।

कृतरिपुसंपद्धत्या पार्थं संप्राप सरभसं पद्धत्या ॥ ११६ ॥

अनुवाद—वह भीमसेन, रणदक्ष आचार्य द्रोणाचार्य के शस्त्र युक्त पहिये वाले रथ को (घोड़े, सारथि और ध्वज सहित) नष्ट करके, शत्रु-संपद् की हत्या करते हुए ! उत्कण्ठा के साथ अर्जुन के पास पहुँचा।

व्याख्या—आचार्य द्रोण ने जब आगे बढ़ते हुए भीमसेन को रोका और मुस्कुराते हुए बाण द्वारा उसके ललाट पर चोट की तो भीमसेन ने अपनी कालदण्ड के समान भयकर गदा उठायी और उसे घुमाकर द्रोणाचार्य पर फेंका। उस गदा ने घोड़े, सारथि और ध्वजा सहित उस रथ को चूर-चूर कर डाला। आँधी जिस प्रकार वृक्षों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार संग्राम में अनेक वीरों को मारते हुए भीमसेन अर्जुन के पास पहुँचे ॥ ११६ ॥

अथ तरसा दक्षोऽभी राधेयो भीममाससाद क्षोभी।
विरथमसाध्वसकृत्तं व्यधित च भङ्गं भजन्न साध्वसकृत्तम् ॥११७॥

अनुवाद—इसके उपरान्त दक्ष, निर्भय तथा क्रुद्ध कर्ण, फुर्ती से, भीम के पास पहुँचा। उसने बार-बार बुरी तरह से भीम को विरथ कर दिया और स्वय न पराजित हुआ ॥ ११७ ॥

अक्षतिमानायून व्रज तूवरक प्रतापमानायून ।
इति वाचा पाटव्या हृदयस्य तुतोद तं स चापाटव्या ॥ ११८ ॥

अनुवाद—'हे अचत ! औदरिक (आयून) ! नपुंसक, निर्मूछिये (तूवरक) ! प्रताप तथा मानादि से हीन भीम ! जा। (युद्ध से भाग जा)।' इस प्रकार हृदय को विदीर्ण करनेवाली वाणी के साथ उसने (कर्ण) धनुष के अग्र-भाग से उसे (भीम को) मारा ॥ ११८ ॥

समरं चापास्यन्तं मुमोच कर्णस्तमात्तचापास्यन्तम्।
लब्ध्वा मानापायं भीमो बीभत्सुमार्तिमानापायम् ॥ ११६ ॥

अनुवाद—विनष्ट हुए धनुष और खड्गवाले तथा युद्ध का त्याग करनेवाले भीम को कर्ण ने छोड़ दिया। भीम भी मान के नाश से दुःखी होकर अर्जुन (बीभत्सु) के पास आये ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—कर्ण ने भीम के सारे शस्त्र समाप्त कर दिये थे। कर्ण ने बार-बार अपने पैनों बाणों से भीम को मूर्छित सा कर दिया। किन्तु कुन्ती की बात याद करके (भीम की) शस्त्रविहीन अवस्था में उनका वध नहीं किया। भीमसेन सात्यकि के रथ पर सवार होकर अपने भाई अर्जुन के पास आये ॥ ११६ ॥

सोऽपि कुरुचमूनाशं कुर्वाणः सैन्धवं कुरुचमूनाशम् ।
कोपादापाशीतं निःश्वस्य यथान्तकस्तदा पाशी तम् ॥ १२० ॥

अनुवाद—वह भीम भी यम और वरुण के समान कौरव-सेना का नाश करते हुए, क्रोध के कारण गर्म साँस छोड़कर अवश्य जीविताशा तथा कुत्सित दीप्तिवाले (कुरुचम्) सिन्धुराज जयद्रथ के पास आये ॥ १२० ॥

अथ मुरहा स त्वरयन्निधनेऽस्य धनंजयं महासत्त्वरयम् ।
मण्डलमरुणदिनस्य स्वमायया प्रावधानमरुणदिनस्य ॥ १२१ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर मुरारि श्रीकृष्ण ने महान् धैर्यवान् धनञ्जय को जयद्रथ का वध करने के लिये जल्दी करने का संकेत करते हुए अपने योगैश्वर्य से संध्या-काल के सूर्य-मण्डल को सावधानीपूर्वक ढक दिया ।

व्याख्या—सूर्य को बड़ी तेजी से अस्ताचल के समीप जाते देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा 'पार्थ ! इस समय मैं सूर्य को छिपाने के लिये एक ऐसा उपाय करूँगा जिससे जयद्रथ को साफ-साफ मालूम होगा कि सूर्य अस्त हो गया । इससे वह हर्षित होकर तुम्हें मारने के लिये बाहर निकल आवेगा और अपनी रक्षा के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करेगा । इस अवसर पर तुम उस पर प्रहार करना, सूर्य अस्त हो गया है—यह समझकर उपेक्षा मत करना ।' तब योगीश्वर कृष्ण ने योगयुक्त होकर सूर्य को ढकने के लिये अन्धकार उत्पन्न कर दिया ॥ १२१ ॥

अनुविद्धामोदस्य स्थितस्य निजकं मुखं सुधामोदस्य ।
मूर्धा नालावितः सिन्धुपतेस्तत्क्षणं समालावि ततः ॥ १२२ ॥

अनुवाद—इसके बाद हर्ष से भरे हुए जयद्रथ के, अपने तेजयुक्त मुख को (सूर्य को देखने लिए) उठाकर खड़े होने पर, अर्जुन ने, तत्क्षण, उसके (जयद्रथ) मालाप्राप्त सिरको (अपने बाण से) काट दिया ।

व्याख्या—अन्धकार फैलते ही सूर्य अस्त हो गया है, यह सोचकर अर्जुन के नाश की संभावना से जयद्रथ बड़ी खुशी से भर गया । वह सिर ऊँचा करके सूर्य की ओर देखने लगा । यह देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा 'वीर ! देखो तुम्हारा भय छोड़कर सिन्धुराज सूर्य की ओर देख रहा है, इस दुष्ट को मारने का यही सबसे अच्छा अवसर है । फौरन ही इसका सिर उड़ाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो । यह सुनकर अर्जुन ने इन्द्र का वज्र के समान एक प्रचण्ड बाण निकाला और उसे वज्रास्त्र से अभिमन्त्रित करके फुर्ती से गाण्डीव पर रखकर छोड़ दिया ॥ १२२ ॥

छेत्ता गच्छेद्यस्य क्षितौ क्षयं सकलभूभुगच्छेद्यस्य ।
तमसावृद्धक्षत्त्रे रणेऽक्षिपत्तस्य वृद्धक्षत्त्रे ॥ १२३ ॥

अनुवाद—सारे राजाओं के द्वारा अच्छेद्य, जयद्रथ के मस्तक को जो पृथ्वी पर गिरावेगा, वह नष्ट हो जायेगा—इस प्रकार अपने पिता से वरदान प्राप्त करनेवाले जयद्रथ के सिर को (अर्जुन ने) वृद्धक्षत्र नामक राजा (जयद्रथ के जनक) की गोद में फेंक दिया ॥ १२३ ॥

टिप्पणी—जयद्रथ के पिता राजा वृद्धक्षत्र को अधिक आयु बीतने पर पुत्र प्राप्त हुआ था । इसके विषय में राजा वृद्धक्षत्र को यह आकाश-वाणी हुई थी 'राजन् ! आपका पुत्र गुणों में सूर्य और चन्द्रवंशियों के समान है किन्तु संग्राम में युद्ध करते समय एक क्षत्रिय-श्रेष्ठ अचानक ही इसका सिर काट डालेगा ।' यह सुनकर वृद्धक्षत्र ने पुत्रस्नेह के वशीभूत होकर अपने जातिबन्धुओं से कहा—'जो पुरुष मेरे पुत्र का सिर पृथ्वी पर गिरावेगा, उसके मस्तक के भी अवश्य ही सौ टुकड़े हो जायेंगे । ऐसा कहकर जयद्रथ का राज्याभिषेक कर वह वन को चला गया और वहाँ उग्र तपस्या करने लगा । अतः कृष्ण के मुख से यह रहस्य जानकर अर्जुन ने अपने बाण के द्वारा यह सिर उसकी गोद में डाल दिया ॥ १२३ ॥

तदनु पुनः समुदायान्छत्रूणां शक्रनन्दनः समुदायात् ।
धर्मसुत समरमयध्वान्तोत्तीर्णोऽविदुःसित समरमयत् ॥ १२४ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त फिर संग्राम रूप अन्धकार (ध्वान्त) को समाप्त कर, इन्द्रपुत्र अर्जुन शत्रुओं के समुदाय से निकलकर, सहर्ष, (अभिमन्यु वध से) अत्यन्त दुःखी धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास आये और उन्हें सन्तोष दिलाने लगे ॥ १२४ ॥

अशनैरजनि च रजनेरुदयस्तत्रापि मुदितरजनिचरजने ।
अभवदभङ्गोऽमायो रणोत्सवो नर्म चाशुभं गोमायोः ॥ १२५ ॥

अनुवाद—फिर तुरन्त ही रात्रुदय हुआ । प्रसन्न राक्षसजनों से पूर्ण उस संग्राम में, निरन्तर छलरहित रणोत्सव होता रहा तथा सियार खूब अमंगलमय क्रीडाएँ करते रहे ॥ १२५ ॥

विज्ञाय स्वानपरान् पृष्टैः कथितैश्च नामभिः स्वानपरान् ।
संजगृहुर्निशितमसिप्रवरं सस्तुश्च [सैनिका] निशि तमसि ॥१२६॥

अनुवाद—उस रात्रि-युद्ध में सैनिक लोग, शब्द करनेवाले अपने और शत्रु-जनों को, पूछे गये तथा बतलाये गये नामों से ही जानकर, तीक्ष्ण खड्ग-श्रेष्ठ पकड़ते थे और उन पर वार करते थे ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—रात्रि के अन्धकार में किसी का स्पष्ट रूप से पता लग सकना कठिन था अतः पूछने पर परिचय प्राप्त करने के बाद ही वीर योद्धा खड्ग का वार करते थे। इस बात से कवि ने महाभारत के धर्म-युद्ध का परिचय दिया है। अधर्म या अनीति से जिस किसी को भी मारना महाभारत-काल में निन्दनीय था ॥ १२६ ॥

अथ शितपरशू रजनौ भुजौ दधानौ विघूतपरशूरजनौ।
विजजृम्भे दीप्रासी रभसेन घटोत्कचोऽरिभेदी प्रासी ॥ १२७ ॥

अनुवाद—इसके बाद रात्रि युद्ध में, तीक्ष्ण परशु को धारण किये हुए, तथा श्रेष्ठ शूरवीरों को कँपा देनेवाली अपनी दो भुजाओं को धारण करानेवाला, शत्रुभेदी घटोत्कच चमकती हुई तलवार और भाला लेकर प्रकट हुआ ॥१२७॥

तस्य विहायस्यतनुः प्रबभौ दंष्ट्राभिरसिसहायस्य तनुः।
लसदकृशबलाकालीवृता घनालीव चापशबलाकाली ॥ १२८ ॥

अनुवाद—हाथों में खड्ग लिये हुए घटोत्कच का महान् शरीर बड़ी-बड़ी दाढ़ों के कारण आकाश में, इन्द्र-धनुष से चित्रित (शबला) तथा सुशोभित होती हुई महान् बगुलों की पंक्तियों से घिरे हुए काले घन-समूह के समान, विशेषरूप से सुशोभित होने लगा।

व्याख्या—इस श्लोक में कवि वासुदेव ने घटोत्कच के काले विशाल शरीर की उपमा मेघ-समूह से, उसकी दाढ़ों की उपमा बगुलों की पंक्ति से तथा चमकती हुई तलवार की उपमा इन्द्र-धनुष से देकर उसकी भयानकता का वर्णन किया है। उपमा औचित्यपूर्ण एवं स्वाभाविक है ॥ १२८ ॥

समितं वासीदन्त राक्षसमालोक्य निशितवासीदन्तम्।
भृशमेवासीदन्तगतारिसैन्यं सुमेरवासीद तम् ॥ १२९ ॥

अनुवाद—युद्ध में खड़े हुए, तीक्ष्ण बसूले के समान दाँतोंवाले तथा अत्यन्त भयावनी तलवारों को लिये हुए राजाओं की शोभा को नष्ट करनेवाले राक्षस घटोत्कच को देखकर, शत्रुओं की सेनाएँ गिरने लगीं (नष्ट होने लगी) ॥ १२९ ॥

निशि पुनरावाञ्छितया हन्तु शक्त्यार्जुनं त्वरावाञ्छितया।
वैरिजनेऽनवसादं जघान वैकर्तनः क्षणेन वसादम् ॥ १३० ॥

अनुवाद—फिर रात्रि में सूर्य-पुत्र कर्ण ने अपनी तीक्ष्ण शक्ति से, जो उसने अर्जुन के मारने के लिए इन्द्र से प्राप्त की थी, क्षणभर में, शीघ्रतापूर्वक, शत्रुजनों के प्रति अथकित, वसामक्षी राक्षस घटोत्कच को मार डाला।

व्याख्या—निशीथ का समय था, राक्षस घटोत्कच कर्ण पर निरन्तर प्रहार कर रहा था। कर्ण संग्राम में अब शत्रु का अधिक आघात न सह सका। उसने उसके वध की इच्छा से एकवीरघातिनी 'वैजयन्ती' नामवाली अमद्य शक्ति हाथ में ली। यह वही शक्ति थी जिसे न जाने कितने वर्षों से कर्ण ने अर्जुन को मारने के लिए सुरक्षित रखा था। वह सदा उसकी पूजा किया करता था। उसने काल की जिह्वा के समान लपलपाती वह शक्ति घटोत्कच के ऊपर चला दी। घटोत्कच भैरव-नाद करता हुआ अपने प्यारे प्राणों से हाथ धो बैठा ॥ १३० ॥

अध्यगमन्यायन्तं शोकं पार्था गतेऽभिमन्यावन्तम् ।
तावान्समजन्यस्य क्षयेऽपि तेषां महेन्द्रसमजन्यस्य ॥ १३१ ॥

अनुवाद—अभिमन्यु के वध पर पाण्डवों को जितना दुःख हुआ था उतना ही दुःख उन लोगों को इन्द्र के समान युद्ध करनेवाले घटोत्कच की मृत्यु पर हुआ ॥ १३१ ॥

शुचमपनीय तमान्ते बिभ्राणाः क्रुधमलङ्घनीयतमां ते ।
कौरववरसेनायं जिगीषवो निधनमाहवरसेनायन् ॥ १३२ ॥

अनुवाद—रात्रि के अन्तिम भाग में वे पाण्डव शोक को त्यागकर, अति अलङ्घनीय क्रोध को धारण करके, कौरवों की श्रेष्ठ सेना के वध की इच्छा से तथा युद्ध की अभिलाषा से, (रणभूमि में आये) ॥ १३२ ॥

अथ परसेनागस्य द्रोणाय वधं न वैशसे नागस्य ।
अश्वत्थामानमय नृपतिर्हतमभ्यधाद् व्यथामानमयन् ॥ १३३ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त (झूठ बोलने के कारण) दुःखी राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण की योजना के अनुसार (अम् अयन्) शत्रु की सेना में गये हुए (अपने अश्वत्थामा नामक) 'हाथी के वध' को युद्ध में न कहकर (द्रोणाचार्य का पुत्र) 'अश्वत्थामा मारा गया'—यह द्रोणाचार्य से कहा।

व्याख्या—कुन्ती-पुत्र पाण्डवों को भयभीत देखकर श्रीकृष्ण ने कहा 'पाण्डवो! द्रोणाचार्य के हाथ में धनुष रहते इन्हें कोई भी युद्ध में नहीं जीत सकता। मैं समझता हूँ अश्वत्थामा के मारे जाने पर यह युद्ध नहीं करेंगे अतः कोई जाकर इन्हें अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनावे'। फिर भीम ने अपनी ही सेना के एक हाथी को जिसका नाम अश्वत्थामा था, गदा से मार डाला और 'अश्वत्थामा मारा गया' इस प्रकार हल्ला करने लगे। पर द्रोण ने भीम की बात पर विश्वास न किया। फिर श्रीकृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर ने

द्रोणाचार्य से कहा 'अश्वत्थामा मारा गया' यह वाक्य उच्च स्वर से कहकर धीरे से बोले 'किन्तु हाथी' ॥ १३३ ॥

श्रुत्वा चापमुदस्य व्यसनं पुत्रस्य सपदि चापमुदस्य ।
मरणावस्था तेन प्राप्तवता शयितमाहवे क्षान्तेन ॥ १३४ ॥

अनुवाद—उस समय अपने पुत्र अश्वत्थामा के (वधरूप) संकट को सुनकर दुःखी द्रोणाचार्य ने तुरन्त ही धनुष छोड़ दिया और मरणावस्था को प्राप्त हुए वे क्षमालु आचार्य युद्ध-भूमि में ही सो गये।

व्याख्या—अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर द्रोणाचार्य अस्त्र-शस्त्रों को फेंककर रथ के पिछले भाग में बैठ गये और सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर ध्यान-मग्न हो गये ॥ १३४ ॥

अथ समरकरालोऽलं खड्गं विभ्रद्दिवाकरकरालोलम् ।
ग्रीवां कृत्तां तस्य द्रुपदसुतो व्यधित पापकृत्तान्तस्य ॥ १३५ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर युद्ध-भूमि में अति क्रूर, (गुरुवध के कारण) पापकर्ता द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने हाथ में सूर्य-किरण सदृश तीक्ष्ण खड्ग लेकर (बहुत दिनों तक युद्ध करने के कारण) खिन्न द्रोणाचार्य की गर्दन को (खड्ग से) काट दिया।

व्याख्या—जब आचार्य ध्यानमग्न थे, उस समय धृष्टद्युम्न ने उनका मस्तक काटकर घोर पाप किया। उसके इस कृत्य की निन्दा सभी लोग करने लगे ॥ १३५ ॥

अरिगणहन्ता तस्य श्रुत्वाथ वधं सुदुःसहं तातस्य ।
द्रौणिः कोपमयासीत्तन्वा च भयंकरोऽन्तकोपमयासीत् ॥ १३६ ॥

अनुवाद—इसके बाद शत्रु-गण को मारनेवाला द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा, अपने पूज्य पिता के दुःसह वध को सुनकर कुपित हो उठा। (क्रोध के कारण) यमतुल्य उसके शरीर को देखकर सभी लोग भयभीत हो गये ॥१३६॥

मोऽथ जवी रुद्धगलं बाष्पैर्विनदन्विपक्षवीरुद्दगलम् ।
द्रौणिर्महितमदान्तः ससर्ज नारायणास्त्रमहितमदान्तः ॥ १३७ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त विपक्षरूपी लताओं को अत्यधिक दग्ध कर डालनेवाले वेगवान् वे अश्वत्थामा, आँसुओं के कारण रुँधे गले से, विलाप करने लगे। फिर क्षमारहित तथा शत्रुओं के मद को नष्ट करनेवाले अश्वत्थामा ने पूज्य नारायणास्त्र को प्रकट किया।

व्याख्या—पापी धृष्टद्युम्न ने मेरे पिता को छल से मार डाला है,—दुर्यो-

घन से यह सुनकर अश्वत्थामा पहले तो रो पड़ा, उसकी आँखों से आँसू बहने लगे; मगर वह फिर रोष से भर गया, उसका सारा शरीर क्रोध से तमतमा उठा। पाण्डव सेना को समूल नष्ट करने के लिये उसने दिव्यास्त्र छोड़ा॥ १२७॥

टिप्पणी—पूर्वकाल में, द्रोणाचार्य ने भगवान् नारायण को नमस्कार कर विधिवत् पूजा की। भगवान् ने उनका पूजन स्वीकार किया और वर माँगने को कहा। आचार्य ने उनसे सर्वोत्तम 'नारायणास्त्र' माँगा। तब भगवान् बोले 'मैं यह अस्त्र तुम्हें देता हूँ; अब युद्ध में तुम्हारा मुकाबला करनेवाला कोई नहीं रह जायेगा। किन्तु ब्रह्मन्! इसका सहसा प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि यह अस्त्र शत्रु का नाश किए बिना नहीं लौटता। यह अवध्य का भी वध कर डालता है।' यह कहकर भगवान् ने उन्हें अस्त्र दिया और उन्होंने इसकी शिक्षा अश्वत्थामा को भी दे दी॥ १२७॥

दधता धामान्यस्य द्रौणेरस्त्रेण दिग्भुवा मान्यस्य।
समिताववलाभेन ज्याजृम्भि विपक्षसैन्यवनलाभेन॥ १२८॥

अनुवाद—लोकमान्य अश्वत्थामा का तेजस्वी तथा दिशाओं को आच्छादित करनेवाला नारायणास्त्र, युद्ध में, विपक्ष-सैन्यरूपी वन को प्राप्त कर, अग्नि के समान बढ़ने लगा।

व्याख्या—अश्वत्थामा ने जब नारायणास्त्र का प्रयोग किया तो उससे हजारों बाण निकलकर आकाश में छा गये, उन सबके अग्रभाग प्रज्वलित हो रहे थे। उनसे अन्तरिक्ष और दिशाएँ आच्छादित हो गयीं। पाण्डव-महारथी ज्यों-ज्यों युद्ध करते थे त्यों-त्यों उस अस्त्र का ज़ोर बढ़ता जाता था॥ १२८॥

विहितशरासन्यासः शौरेर्वाचापदांनिरासन्या सः।
व्यपयातो वाहनतः पार्थबलौघोऽञ्जलिं चोवाह नतः॥ १२९॥

अनुवाद—आपत्ति का निराकरण करनेवाले श्रीकृष्ण के, वचनों के अनुसार, पाण्डवों के सैन्य समूह ने पृथ्वी पर अपने धनुष रख दिये और वाहन (अश्व, गज, रथ), पर से उतर पड़े तथा नम्र होकर अञ्जलि बाँध ली।

व्याख्या—नारायणास्त्र के द्वारा होते हुए संहार के कारण भयभीत धर्मराज को देखकर भगवान् ने सारी सेना से कहा 'योद्धाओ! अपने हथियार शीघ्र ही नीचे डाल दो और सवारियों से उतर पड़ो। नारायणास्त्र की शान्ति का यही उपाय है। भूमि पर खड़े हुए निहत्थे लोगों को यह अस्त्र नहीं मारेगा। इसके विपरीत ज्यों ज्यों योद्धा इस अस्त्र के सामने युद्ध करेंगे त्यों-त्यों

कौरव अधिक बलवान् होते जायेंगे।' भगवान् के कहने के अनुसार सारी सेना ने वैसा ही किया ॥ १३९ ॥

अथ कृतभूयानेपु द्विट्स्वस्त्राग्नि शशाम भूयानेपु।
निहते परमहसि तया पाण्डवचम्वा ऽयमावि परमहसितया ॥ १४० ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त शत्रु-पाण्डवों के भूमि पर खड़े हो जाने पर, अस्त्र की अग्नि शान्त पड़ गयी। उस परम तेज के नष्ट हो जाने पर पाण्डव-सेना खूब हँसी॥ १४० ॥

अवल्गि पार्थसैनिकैर्महासिचापराजितैः ।
अवेक्ष्य वैरिणां दशामहासि चापराजितैः ॥ १४१ ॥

अनुवाद—महान् खड्ग और धनुष से सुशोभित तथा (किसी से भी) न जीते गये पाण्डवों के सैनिक, शत्रु कौरवों की दशा को देखकर नाचने-कूदने और हँसने लगे ॥ १४१ ॥

ततः क्षणेन यामिनी समाजगाम दारुणा।
पपौ वसां नृभुक्ततिः समाजगा मदारुणा ॥ १४२ ॥

अनुवाद—इसके बाद थोड़ी ही देर में भयंकर रात्रि आ गयी (हो गयी) तथा (पृथ्वी पर पड़े हुए वीरों की) लाशों के ढेर की ओर जानेवाले तथा रक्तपान के कारण लाल नरभोजी-राक्षस के समूह वसा का पान करने लगे।

व्याख्या—कवि ने इस श्लोक में युद्ध के बाद रणभूमि का बीभत्स चित्र प्रस्तुत किया है। रात्रि के समय युद्ध-भूमि पर राक्षसों का राज्य हो गया और वे मुर्दों का रक्तपान करके आनन्दित होने लगे ॥ १४२ ॥

विभावरीमुखे गुरोर्विभा वरीयसो वधात्।
स दाहवानिवृत्तवान् सदाहवात्सुयोधनः ॥ १४३ ॥

इति श्रीमहाकविवासुदेवविरचिते युधिष्ठिरविजये महाकाव्ये
सप्तम आश्वासः।

अनुवाद—रात्रि के प्रारम्भ होने पर, अतिश्रेष्ठ द्रोणाचार्य के वध के कारण दीप्तिशून्य (विभा) तथा सन्तापयुक्त दुर्योधन, युद्ध-भूमि से लौट आया ॥ १४३ ॥

इति सप्तम आश्वासः।

अष्टम आश्वासः

अथ सेनापत्यन्ते कुरुषशक्रुर्विरोचनापत्यं ते।
अधिपतिमाशु चमूना सोऽप्येषामकृत समहिमा शुचमूनाम्॥ १॥

अनुवाद—इसके उपरान्त सेनापति द्रोणाचार्य का वध हो जाने पर, दुर्योधनादि ने शीघ्र ही विरोचन के पुत्र कर्ण को 'अपनी सेना का नायक बनाया। महिमावान् उस कर्ण ने भी (सेनापति होकर) कौरवों के शोक को कम कर दिया।

व्याख्या—इस आश्वास में कवि ने 'कर्ण-पर्व' का आरम्भ किया है। आचार्य द्रोण के वध से सारे कौरव बड़े दुःखी हुए और फिर उस रात्रि में अश्वत्थामा से परामर्श करके कर्ण को उन्होंने सेनापति बनाया, कर्ण अपने अद्भुत और विस्मयकारी रणकौशल के कारण प्रसिद्ध था। अतः उसके सेनापति बनते ही कौरवों का शोक, जो द्रोणाचार्य के वध से उत्पन्न हुआ था, कम हुआ और वे अपनी विजय के प्रति आशावान् हो उठे॥ १॥

एकं तरसा दिवसं कृतसमर अरिवद्दलतरसादिवसम्।
कृतपरमपरत्रासौ भुजौ दधद्वाच नृपतिं परत्रासौ॥ २॥

अनुवाद—अपने बल से एक दिन में ही, 'अनेक घुड़सवारों की वसा के प्रवाह से पूर्ण युद्ध का निश्चय करनेवाले तथा उत्कृष्ट शत्रुओं को भी भयभीत करनेवाली भुजाओं को धारण करनेवाले कर्ण ने राजा दुर्योधन से कहा।

व्याख्या—कर्ण का स्वभाव सदैव से डींग मारने का था। वह अपने को सबसे अधिक पराक्रमी समझता था इसी कारण भीष्मादि से उसकी प्रायः कहा-सुनी हो जाया करती थी। अपने इसी बहुभाषी स्वभाव के कारण उसने एक ही दिन में विजित होने का निश्चय किया था। उसकी यह प्रतिज्ञा भीष्मादि से भी बढ़कर थी॥ २॥

अहनीह न न प्रधनं मम जिष्णोरात्तसैन्यहननप्रधनम्।
अस्त्रसमारम्भावि-स्फुलिङ्गनिकरं कुरूत्तमारं भावि॥ ३॥

अनुवाद—हे कुरुत्तम (दुर्योधन)! आज के दिन, अर्जुन के साथ मेरा अस्त्रों के प्रयोग से प्रकट हुए अग्निकण-समूह से व्याप्त युद्ध होगा ही, जिसमें मैं शत्रु-सैन्य-हननरूपी प्रकृष्ट धन अर्जित करूँगा।

व्याख्या—कर्ण ने यहाँ पर पुनः डींग हाँकने का प्रयास किया है। वह

मुख्य रूप से अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी है अतः अर्जुन को ही पराजित करने की चिर-कामना लेकर वह युद्ध की तैयारी कर रहा है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—कवि ने इस श्लोक में सैन्य-वध का रूपक प्रकृष्ट धन से बाँधा है। कोई महान् कार्य करने से जैसे किसी को पुरस्कार दिया जाता है, उसी प्रकार इस युद्ध में कर्ण भी सैन्य-वध रूप धन की प्राप्ति करेगा ॥ ३ ॥

करणैरथ चापाद्यैर्बीभत्सोर्नावरोऽस्मि रथचापाद्यैः।
यदुपतिना यन्त्रा स प्रत्नमधिकं सुयोधनाय त्रासः ॥ ४ ॥

अनुवाद—और फिर हे दुर्योधन ! अर्जित किये जाने योग्य रथ-धनुषादि (युद्ध-सम्बन्धी) उपकरणों की तुलना में मैं अर्जुन से किसी भी माने में कम नहीं हूँ यह निश्चित है पर हाँ श्रीकृष्ण जैसे सारथि में वह मुझसे अधिक है। यही एकमात्र भय मुझको है।

व्याख्या—प्रातःकाल होते ही कर्ण ने दुर्योधन से कहा 'मित्र ! युद्ध-विद्या में मैं अर्जुन से भी अधिक हूँ परन्तु बस एक ही खटका मुझे है कि उसके पास कृष्ण जैसा चतुर और दक्ष सारथि है जो मेरे पास नहीं है' ॥ ४ ॥

मम चेदधिकौ शल्यः सारं दर्पं च बिभ्रदधिकौशल्यः।
अश्वनियामी हत्वा पार्थं कुरुराज नन्दयामीह त्वा ॥ ५ ॥

अनुवाद—अतः हे सुयोधन ! यदि बल तथा गर्वधारी एवं सूतकर्म में अत्यधिक निपुण राजा शल्य मेरे सारथि बन जाये तो मैं निश्चित ही तुम्हें (विजय प्रदान कर) आनन्दित कर दूँगा ॥ ५ ॥

इत्थमघातान्तेन प्रोक्ते दुर्योधनेऽरिघातान्तेन।
मृदुवचसा मन्युचितं शल्यं यन्तारमकृत सामन्युचितम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार पापरहित तथा शत्रुओं के नाशरूप कर्ण के कहने पर, दुर्योधन ने कोमलवाणी के द्वारा, सामोपाय में योग्य तथा (कर्ण के साथ) स्पर्धारूप मन्यु से युक्त राजा शल्य को सारथि बनाया।

व्याख्या—कर्ण अपनी दानशीलता के लिए जगत्प्रसिद्ध था, इसलिये वह पापरहित था। कवि ने इस श्लोक में कर्ण और शल्य के आपस के सम्बन्धों को शल्य के लिये 'मन्युचितम्' विशेषण प्रयुक्त करके स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त शल्य के लिये 'सामन्युचितम्' विशेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शत्रुओं को वश में करने के सामरूप उपायविशेष में दक्ष था ॥ ६ ॥

टिप्पणी—दुर्योधन ने जब शल्य से कर्ण का सारथि बनने के लिए कहा तो शल्य अकस्मात् कुपित हो गया और बोला 'राजन् ! तुम मुझे सूत-

पुत्र कर्ण का सारथि बनने के लिये कहते हो! तुम्हें लज्जा नहीं आती ?' शल्य को कुपित हुआ देखकर दुर्योधन ने कोमलवाणी में शल्य से कहा 'वीर-शिरोमणि! तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे रथी से भी अधिक बलवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि हैं उसी प्रकार तुमको भी कर्ण सारथि बनाना चाहते हैं।' दुर्योधन के इस प्रकार मधुर वचन सुनकर शल्य सारथि बनने के लिये तैयार हो गये ॥ ६ ॥

स्यन्दनमुख्येन ततो मद्रजसारथिमनोभ्रमद्रजमार ।
राधेयः पार्थानां वासव्यूढां चमूं युधा स व्यूढाम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—इसके बाद युवक कर्ण, मद्रराज शल्य से युक्त तथा धूल उड़ानेवाले रथश्रेष्ठ पर बैठकर, इन्द्रपुत्र अर्जुन के द्वारा रचित तथा व्यूहरचना से खड़ी की गयी पाण्डवों की सेना की ओर चल पड़ा ॥ ७ ॥

शस्त्रममेय तारं स धमन्निपुणः पराक्रमे यन्तारम् ।
इदमवददुद्धरतः पश्य बलं मे रिपून् सपद्युद्धरतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—बहुत जोरों से शंख को बजाता हुआ, पराक्रम में दक्ष तथा युद्ध के लिये तत्पर कर्ण, सारथि शल्य से बोला 'हे शल्य! शत्रुओं को तुरन्त ही नष्ट कर डालनेवाले मेरे (कर्ण के) बल को अब तुम देखो ॥ ८ ॥

नङ्क्ष्यति मद्रवराजौ शत्रुगणः श्रूयमाणमद्रवराजौ ।
नूनं मद्यानेन प्राप्स्यति पार्थोऽपि भङ्गमद्यानेन ॥ ९ ॥

अनुवाद—हे मद्रवर (शल्य)! संग्राम में सुनाई देनेवाली मेरे सिंहनाद की झड़ी पर शत्रु-गण नष्ट हो जावेंगे। निश्चित ही मेरी युद्ध-यात्रा से अर्जुन भी पराजय प्राप्त करेगा (अथवा तुम जैसे निपुण सारथि के द्वारा हाँके गये मेरे रथ से—मद्यानेन—अर्जुन भी पराजित हो जावेगा) ॥ ९ ॥

टिप्पणी—'मद्र' (देश) एक प्राचीन देश का वैदिक नाम है। यह कश्यपसागर के दक्षिणी-तट पर पश्चिम की ओर था। ऐतरेय-ब्राह्मण में इसे उत्तर-कुरु के नाम से बतलाया गया है। पुराणों के मतानुसार वह देश रावी और झेलम नदी के बीच में है।

कर्ण ने 'पार्थोऽपि' कहकर अर्जुन का सारे पाण्डवों से प्राधान्य सूचित किया है ॥ ९ ॥

वीचीविसरोरुहया वक्त्रश्रेण्या हृतच्छविसरोरुहया ।
कौरवसेनानद्य स्थगयन्तु रिपून् सभीमसेनानद्य ॥ १० ॥

अनुवाद—हे राजन् (शल्य)! लहरों के विस्तार के समान महान् अर्थों से युक्त तथा कमलों की कान्ति को भी जीत लेनेवाली (वीरों की) मुख-पंक्ति

से व्याप्त कौरवों की सेनारूपी नदियाँ आज भीमसेन-सहित (युधिष्ठिरादि) शत्रुओं को रोक देंगी (जीत लेंगी) ॥ १० ॥

टिप्पणी—कर्ण ने इस श्लोक में कौरवों की सेना को उन विशाल नदियों के समान बतलाया है जिन्हें लोग पार नहीं कर पाते। इस रूपक में कर्ण ने अपने विशालकाय घोड़ों की पंक्ति की उपमा नदी में उठनेवाली लहरों से दी है तथा अपनी सेना के वीरों के मुख को नदियों के कमलों से भी अधिक सुन्दर बतलाकर व्यतिरेक अलंकार की सृष्टि की है ॥ १० ॥

इत्थं वाचाटन्त कर्णं मद्रेश्वरोऽप्युवाच वाचाटं तम्।
तेजःसंनत्यर्थं स्मृत्वा धर्मजवचो हसन्नत्यर्थम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—इस प्रकार कहते हुए जानेवाले बहुभाषी कर्ण से, मद्रेश्वर शल्य युधिष्ठिर के वचनों को याद करके (उसके) तेज का दमन करने के लिये जोर से हँसते हुए बोले ॥ ११ ॥

टिप्पणी—उद्योग-पर्व में सेना-संग्रह के समय शल्य ने दुर्योधन की ओर लड़ने की प्रतिज्ञा की थी। बाद में जब वह युधिष्ठिर के पास आये तो युधिष्ठिर ने उनसे प्रार्थना की कि "हे वीरशिरोमणि! यदि कभी युद्धभूमि में आपके साथ कर्ण आवे तो आप कटुवचनों से उसके तेज और उत्साह को शिथिल करते रहें, जिससे कि हम उसे सरलता से जीत सकें"। शल्य ने भी युधिष्ठिर की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। अतः जब वे युद्ध के लिये कर्ण के सारथि बनकर चले तो उसकी बक-बक सुनकर उन्हें युधिष्ठिर से किये गये वादे की स्मृति हो आयी और वे अपने वादे के अनुसार कटु-वचनों से उसे निरुत्साह करने लग गये ॥ ११ ॥

धृष्टतमं गा विस(ष)मा मा वोचः कर्ण समरमङ्गाविस(श)मा।
क्षेप्स्यति कपांसौ ते पार्थः कृत्वा महीं सकम्पां सौते ॥ १२ ॥

अनुवाद—हे कर्ण! तुम इस प्रकार के धृष्ट (विषम) वचन मत बोलो। हे कर्ण! तुम युद्ध में प्रवेश मत करो। (क्योंकि) हे सूतपुत्र (कर्ण)! अर्जुन इस भूमि को कम्पित करके तेरे शिर (कम्) को (रणभूमि की) धूलि में फेंक देगा अर्थात् वह निश्चय ही तेरा वध कर डालेगा ॥ १२ ॥

टिप्पणी—'शसयोरैक्यात्' इस नियम के अनुसार 'विसमा' को 'विषमा' और 'आविस' को 'आविश' मानकर अर्थ करना पड़ेगा ॥ १२ ॥

चरितं वृद्धे तव न श्रुतं यदा कौरव. श्रितद्वैतवनः।
गमनमुपानीयत तैर्गन्धर्वैः संनिपत्य पानीयततैः ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे कर्ण! (क्या) तुम्हारे उस चरित को लोगों ने नहीं सुना (अर्थात् सभी लोगों ने सुना), जब कि द्वैतवन में गये हुए दुर्योधन को, (सरोवर की रक्षा करने के लिये) फैले हुए गन्धर्व, बांधकर आकाश ले गये थे।

व्याख्या—राजा शल्य ने इस श्लोक में कर्ण की शक्ति और पराक्रम पर आक्षेप किया है। वह उसे द्वैतवन की पराजय की याद दिलाता है जब कि दुर्योधन को गन्धर्व बाँधकर आकाश ले गये थे। वह कहता है कि 'उस समय तुम्हारी यह शक्ति, जिसकी डींग तुम मार रहे हो, कहाँ गयी थी, भला तुमने उस दुर्योधन को गन्धर्वों के पंजे से क्यों नहीं छुड़ाया?' ॥ १३ ॥

अरिवनसवयदावः पार्थो वरमहन सरभस च यदा वः।
गतवान् पाप क त्वं तदा तवाहो गतत्रपापकत्वम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—हे निर्लज्ज कर्ण! जब तुम्हारे राजा दुर्योधन को, शत्रु-वनसमूह के लिये दावाग्निरूप अर्जुन आवेग के साथ (गन्धर्वों से छुड़ाकर) लाये उस समय हे पापिन्! तुम कहाँ गये थे? आश्चर्य है, तुम्हारी उस समय कैसी अप्रगल्भता (निरुत्साह, भय, शिथिलता, चुप्पी, मत्युत्पन्नमतिराहित्यादि)।

हितगिरमाकर्णय मत्तियच्छदर्पं प्रपश्य मा कर्ण यमम्।
येन जितो नाकौकःपतिर्जये तस्य समुचितो ना को कः ॥ १५ ॥

अनुवाद—इसलिए हे कर्ण! तुम मुझसे अपने हित की बात सुनो। दर्प को छोड़ दो और यम की ओर आँख मत उठाओ। जिस अर्जुन ने (खाण्डववन-दाह के समय) देवताओं (नाकौकस्) के पति इन्द्र (अथवा किरातवेशधारी शंकर) को भी (युद्ध में) जीता है, भला उसे जीतने के लिये इस पृथ्वी पर (को) कौन पुरुष (ना) समर्थ है? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १५ ॥

इत्युचारावस्य मुवतो विदिते मनस्यचारावस्य।
क्रोधाज्जगदेवाऽः कर्णेन दिधक्षतेव जगदे वादः ॥ १६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार जोर-जोर से चिल्लाकर कहनेवाले शल्य के कलुषित मन को जान लेने पर, क्रोध से मानों इस संसार को ही जला देने के इच्छुक कर्ण ने शल्य को जवाब दिया।

व्याख्या—शल्य के मर्मच्छेदी वचनों को सुनकर, कर्ण को शल्य के मन की कलुषता का आभास मिल गया। उसने जब देखा कि शल्य निरन्तर शत्रु-पक्ष की ही प्रशंसा करता चला जा रहा है तो वह क्रोध से आगबबूला हो उठा मानों वह सारी दुनियाँ को ही जला देना चाहता था ॥ १६ ॥

मद्रपते नाशस्ते न दूरगः पथि रतोऽसि नाशस्ते ।
निष्कृतिरवदातासि स्याद्यदि भूयोऽपि परुषरवदातासि ॥ १७ ॥

अनुवाद—हे मद्रपते (शल्य) ! तुम्हारा नाश समीप ही है इसी कारण तुम अमंगलकारी मार्ग में रत हो (सेवन कर रहे हो) । यदि अब फिर कटु-शब्द बोलोगे तो सान पर साफ की गयी मेरी यह खड्ग (तुम्हारे कटु-वचनों से) उऋण हो जावेगी (छुटकारा पा लेगी) अर्थात् मैं इस खड्ग से तुम्हारा वध कर डालूँगा ।

व्याख्या—कर्ण बोला 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'—इस सिद्धान्त के अनुसार इस समय तुम शत्रु का पक्ष ले रहे हो अतः मैं तुम्हारा नाश कर दूँगा। यदि पुनः इसी प्रकार तुम कटु वचन बोले' ॥ १७ ॥

टिप्पणी—'पथि रतोऽसि नाशस्ते' पाठ होनेपर काकु के द्वारा 'रतोऽसि' अर्थ किया जावेगा और 'पथि रतोऽसि तेनाशस्ते' पाठ होने पर उपर्युक्त अर्थ होगा । दोनों पाठों में 'तेनाशस्ते' पाठ अधिक समीचीन और युक्तिसंगत होने के कारण विशेष-ग्राह्य है ॥ १७ ॥

यच्छुभधीरामोदादस्त्रं मह्य तपोनिधी रामोऽदात् ।
अमुना नाशं कवम शत्रुं समरे नयामि नाशङ्कतमम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—हे मद्रपते (शल्य) ! (मेरी) निर्मल-बुद्धि से हर्षित होकर जिस अस्त्र को तपोनिधि परशुराम ने मुझे प्रदान किया है उस अस्त्र से निःशङ्क होकर युद्ध में मैं भला किस शत्रु का नाश नहीं कर सकता ? अर्थात् उससे मैं सभी का नाश कर सकता हूँ ॥ १८ ॥

अमुना मद्भुजगेन क्षतः शरेणास्तदीप्तिमद्भुजगेन ।
प्राणान्मुञ्चेत न कः प्रतियुध्येत जनममु चेतनकः ॥ १९ ॥

अनुवाद—हे शल्य ! (दीप्ति में) दीप्तिमान् सर्प को भी परास्त कर देने वाले, हाथ में आये हुए मेरे इस बा-- से घायल हुआ भला कौन पुरुष प्राणों को न छोड़ देगा ? अर्थात् सभी प्राण त्याग देंगे । कोई भी चेतन (समझदार) पुरुष इस व्यक्ति से (मुझसे) मुकाबले में युद्ध नहीं करेगा ।

व्याख्या—अपनी शेखी बघारने के स्वभाव के वशीभूत होकर, शल्य से निरुत्साह किये जाने के बावजूद भी, कर्ण पुनः अपने शस्त्रास्त्र का वर्णन करने में लगा हुआ है । उसका कहना है कि मेरे पास ऐसे-ऐसे अस्त्र हैं जिनसे कोई बचकर नहीं जा सकता । यह जानकर भी भला कोई समझदार योद्धा मुझसे युद्ध क्यों करेगा और यदि हठात् वह युद्ध करेगा भी तो मैं उसे तत्क्षण मौत

के घाट उतार दूँगा। अतः हे शल्य! तू मेरे सामर्थ्य और पराक्रम को जाने बगैर मेरी निन्दा मत कर ॥ १९ ॥

तस्मात्सयच्छेद यान कुर्यामरिं ससयच्छेदम्।
मद्रेशात्र बले हि प्रपश्य मे बलमशेषशात्रवलेहि ॥ २० ॥

अनुवाद—इसलिये हे मद्रेश (शल्य)! तुम इस रथ को हाँको। मैं समाम-सहित शत्रु का (ससयच्छेदं रिपुम्) नाश करूँगा। हे शल्य! (चुटकी बजाते) इस सेना में सारे शत्रुओं को चट कर डालनेवाले मेरे बल को तू देख ॥ २० ॥

इति वैकर्तनशल्यौ कथयन्तौ शत्रुहृदयकर्तनशल्यौ।
अतिरभसेनायान्तौ निपेततुः पाण्डुपुत्रसेनाया तौ ॥ २१ ॥

अनुवाद—शत्रुओं के हृदयों के कर्तन में शल्यरूप, वे दोनों—सूर्यपुत्र कर्ण और मद्राधिप शल्य—आपस में संवाद करते हुए तथा अत्यन्त आवेग से आते हुए, पाण्डवों की सेना पर टूट पड़े ॥ २१ ॥

कृतरिपुचापिविप्रास कर्ण महसास्ततो रुचा पित्रा सः।
व्यापद्विजयं चापन्नरेन्द्रमध्ये विकृष्य विजयं चापम् ॥ २२ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् शत्रु-धनुर्धारियों में भय उत्पन्न करनेवाले तथा (अपनी) कान्ति से पिता (सूर्य) के समान कर्ण ने 'विजय' नामक धनुष को आकर्णान्त खींचकर राजाओं के बीच जय प्राप्त की ॥ २२ ॥

स दधत्सेनाविलय नृपतिसमूहं च साध्वसेनाविलयन्।
अशनैरेवापदय धर्मसुतं महति सगरेवापदयम् ॥ २३ ॥

अनुवाद—वह कर्ण शत्रु-सेना का नाश करता हुआ तथा निर्दय होकर नृपसमूह को भय से व्याकुल करता हुआ (आविलयन्) शीघ्र ही, महायुद्ध में, धर्मपुत्र युधिष्ठिर के पास पहुँचा ॥ २३ ॥

स हि रविसूनुर्वाजिभिद्गान् कृत्वा [ततो] व्यसूनुर्वाजिः।
द्विषतामन्तस्तारस्वरैः शरैः पाण्डवोत्तमं तस्तार ॥ २४ ॥

अनुवाद—उस महायोद्धा रवि पुत्र कर्ण ने (युधिष्ठिर के रथ के) श्रेष्ठ घोड़ों को मारकर, शत्रुओं के बीच गम्भीर-शब्द करनेवाले (अपने) बाणों से युधिष्ठिर को ढँक दिया।

व्याख्या—अब कर्ण के बाणों का लक्ष्य युधिष्ठिर थे। उसके बाण शत्रु-समूह में शब्द करते हुए प्रवेश कर रहे थे। पहले तो कर्ण ने युधिष्ठिर के घोड़ों को प्राणशून्य कर दिया। पुनश्च उसने युधिष्ठिर को बाणों से ढँक दिया ॥ २४ ॥

प्राप्य सकलहेत्यन्तं नृपतिर्भग्नोऽभवत्स कलहेऽत्यन्तम् ।
अभिहितवाञ्छाम्यन्त त कर्णो मूढ ते न वाञ्छाम्यन्तम् ॥ २५ ॥

अनुवाद—युद्ध में समस्त आयुधों के नष्ट हो जाने पर राजा युधिष्ठिर अत्यन्त शक्तिविहीन हो गये। (युद्ध के कारण) अत्यन्त खिन्न युधिष्ठिर से कर्ण ने कहा 'हे मूढ (युधिष्ठिर) ! मैं तुम्हारा नाश नहीं चाहता हूँ (अपितु मैं तो अर्जुन को ही मारना चाहता हूँ) ॥ २५ ॥

टिप्पणी—कर्ण ने पाण्डवों की माँ कुन्ती को पाँच में से अर्जुन को छोड़ बाकी चार को न मारने का वचन दिया था। अतः उस वचन का स्मरण करके उसने युधिष्ठिर को छोड़ दिया ॥ २५ ॥

पाण्डुसुतापां चाल्यां रमस्व रणत. पलायितः पाञ्चाल्याम् ।
जय नियतापाञ्चाल्यान्मा दर्शय शक्तिमप्रतापां चाल्याम् ॥ २६ ॥

अनुवाद—हे पाण्डुसुत युधिष्ठिर ! युद्ध से भागकर तू कहीं जल-माला (नदी-प्रवाह) के किनारे रमण कर और द्रौपदी के साथ रमण कर। निश्चित रूप से प्राप्त होने योग्य दूसरे आर्यों को तू जीत। हे युधिष्ठिर ! (मेरे द्वारा) कम्पनीय तथा प्रतापरहित अपनी शक्ति को तू मुझे मत दिखा ॥ २६ ॥

टिप्पणी—'नियतानां सकृद्धर्मः स पुनस्तुल्ययोगिता' इस लक्षण के अनुसार एक ही 'रमस्व' क्रिया का 'अपाम् चाल्याम्' और 'पाञ्चाल्याम्' रूप दो अप्राकरणिक विषयों में अन्वय होने के कारण 'तुल्ययोगिता' अलंकार माना जा सकता है।

'रलयोरैक्यात्' नियम के अनुसार 'आल्यान्' का अर्थ 'आर्यान्' करने पर श्लोकार्थ स्पष्ट होगा ॥ २६ ॥

इत्थं वाचालोऽलं तमभुग्नदास्येन वाचालोलम् ।
रहसि निजजनन्या स श्वेताश्वमृते कृतास्मजजनन्यासः ॥ २७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार, एकान्त में अपनी जननी (कुन्ती) से अर्जुन (श्वेताश्व) को छोड़कर शेष चार (युधिष्ठिरादि) पुत्रों की रक्षा का वचन देनेवाले बहुभाषी कर्ण ने सीधा मुख किये हुए तथा शान्त युधिष्ठिर को छोड़ दिया ॥ २७ ॥

प्रययावलसत्वेन छिन्नः कर्णेन विपुलबलसत्त्वेन ।
राजा सन्नमदंसः शिश्ये शिबिरं समेत्य सन्नमदं सः ॥ २८ ॥

अनुवाद—विपुल बल और धैर्यशाली कर्ण के द्वारा अनायास ही छोड़े गये तथा (चिन्ता के कारण) नितान्त झुके हुए स्कन्धोंवाले राजा युधिष्ठिर गर्वविहीन होकर शिविर में आकर लेट गये ॥ २८ ॥

अथ नानापत्त्या सा कुरुसेना रुपितमतिरनापत्त्रासा ।
कर्णं समदा रयतः स्फुरद्भिरिषुभिर्बलं समेत्य समदारयत ॥ २९ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त विपत्ति के भय से रहित, नानाविध वाहनों (गज, रथ, अश्वादि) से युक्त गर्वीली तथा कुपित कौरव सेना ने, शीघ्रतापूर्वक सेनापति कर्ण के पास आकर चमकते हुए बाणों से पाण्डव-सेना को विदीर्ण कर दिया ॥ २९ ॥

रिपुगणहा रामाय श्रीमान्प्रणिपत्य संप्रहारामाय ।
अरिपरमानीकान्तं स मार्गवास्त्रं मुमोच मानी कान्तम् ॥ ३० ॥

अनुवाद—युद्ध में छलरहित, शत्रु-समूह-हन्ता, मानी तथा श्रीमान् कर्ण ने (अपने गुरु) परशुराम को प्रणाम करके शत्रुओं की उत्कृष्ट सेना का अन्त कर डालनेवाले मनोहर भार्गवास्त्र को पाण्डव-सैन्य पर छोड़ा ॥ ३० ॥

तस्य सुबाहोरस्रस्फुरन्त्यरोरुक्षतकेतुबाहोरस्त्रैः ।
पृथुरथगजवाजिभ्यः पतितपतन्निहतभूभुगजवाजिभ्यः ॥ ३१ ॥
धनुषो गलता लूनः शरनिकरेणोरुचरणगलतालूनः ।
पाण्डवसेनालोकः महसैव बभूव वैशसेनालोकः ॥ ३२ ॥

(युग्मम्)

अनुवाद—उस सुबाहु कर्ण के अस्त्रों में स्फुरित होते हुए बाणों से वीर की ध्वजाएँ, भुजाएँ और कवच छिन्न-भिन्न हो गये । विशाल रथ, हाथी और घोड़ों से गिरे हुए तथा गिरते हुये नृप-गण मर गये तथा स्वामिगण निर्वेग हो गये ।

(कर्ण के) धनुष से निकलनेवाले बाण-समूह से कटे हुए ऊरु, चरण, कण्ठ एवं तालुवाली पाण्डव सेना (शारीरिक) क्लेश के कारण (वैशसेन) तत्क्षण अदृश्य हो गयी ॥ ३१–३२ ॥

अरिमतिशोभावन्तं स्वजनस्य च वीक्ष्य भूरिशो भावं तम् ।
विहितावलघोरस्य व्यधत्त मतिमर्जुनोऽस्य बलघोरस्य ॥ ३३ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् (अपने पराक्रम के कारण) अत्यधिक शोभावान् शत्रु (कर्ण) को तथा अपने लोगों के अभिप्राय को जानकर अर्जुन ने बल के कारण घोर (क्रूर) तथा (पराक्रम के कारण) महान् कर्ण के वध का निश्चय किया ॥ ३३ ॥

स हि रिपुरोधाय बलन्निजकं शाकारमजः पुरोधाय बलम् ।
धर्मजमत्रासन्तं विज्ञाय जगाम शिबिरमत्रासं तम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—शत्रु पर आक्रमण करने के लिए अर्जुन अपनी सेना को आगे करके जब चला तो उसमें (सेना में) धर्मपुत्र युधिष्ठिर को न पाकर वह निर्भय होकर शिविर में गया।

व्याख्या—युद्ध में सिंह के समान पराक्रम करते हुए कर्ण के साथ युद्ध करने के लिये जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को कर्ण के सामने खड़ा किया तो भीमसेन ने आकर बतलाया 'धर्मराज युद्ध में घायल होकर शिविर चले गये हैं'। यह सुनकर श्रीकृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिर को देखने के लिए शिविर गये ॥ ३४ ॥

स्थिरबुद्धिरवायरुपं नृपमाश्वास्य क्षरद्रुधिरवार्यरुपम्।
कृतकोदण्डायमनः पार्थश्चक्रेऽथ कर्णदण्डाय मनः ॥ ३५ ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् स्थिर-बुद्धि अर्जुन ने, अवारणीय क्रोध को धारण करनेवाले तथा बहते हुए रुधिर-जल से पूर्ण व्रणोंवाले राजा युधिष्ठिर को सान्त्वना देकर, अपने धनुष (की डोरी) को झुकाकर (चढ़ाकर) कर्ण के (वधरूप) दण्ड का विचार किया ॥ ३५ ॥

अथ रिपुसादायातिक्रुद्धे पार्थे रणं रसादायाति।
तां सेनामारावीरोषो भीमो विरोधिनामारावी ॥ ३६ ॥

अनुवाद—तदनन्तर शत्रु (कर्ण) के वध के लिये अत्यन्त क्रुद्ध अर्जुन के रण में आने पर, सिंहनाद करते हुए क्रुद्ध (अवीरोष) भीमसेन कौरव-सेना के सम्मुख आये ॥ ३६ ॥

स तु हि दयासन्नं तं नृपतिं दृष्ट्वागसो यियासन्नन्तम्।
संग्रामे बाधावत्सैन्यं प्रविधाय तूर्णमेवाधावत् ॥ ३७ ॥

अनुवाद—दयालु युधिष्ठिर को देखकर, अपराध के कारण शत्रुओं का नाश करने का इच्छुक भीम, युद्ध में, शीघ्र ही, सबाध-सैन्य को लेकर शत्रुओं की ओर दौड़ा ॥ ३७ ॥

तस्य च परमाद्रवतः क्षोभं त्रीण्यपि जगन्ति परमाद्रवतः।
अममन्नवनिधुवनतश्चलमेरुनिरस्तनाकिनिधुवनतः ॥ ३८ ॥

अनुवाद—अत्यन्त तेजी से दौड़ते हुए भीम के उत्कृष्ट सिंहनाद से (उत्पन्न हुए) भूकम्प के कारण तीनों लोक क्षुब्ध हो उठे तथा हिलते हुए मेरुपर्वत पर देवताओं की क्रीड़ाएँ रुक गयीं ॥ ३८ ॥

स शरं तरसादाय व्यसृजत् कर्णाय विपुलतरसादाय।
पातमनीयत मोही तेनैव स चाप्यलङ्घनीयतमो ही ॥ ३९ ॥

अनुवाद—उस भीम ने तुरन्त ही बाण लेकर, (अपने वध के विचार से) अत्यन्त दुःखी कर्ण पर छोड़ा। आश्चर्य है (कि) भटत्व होता हुआ भी यह कर्ण उस बाण से मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा॥ ३९॥

दिग्वलये मदस्तु रवान् कुर्वञ्जिह्वालुलूयेमं क्षुरवान्।
तं पुनरासीददय यस्य मनः पश्यगाभिरासीददयम्॥ ४०॥

अनुवाद—वह भीम, जिसका मन कर्ण के कठोर वचनों (पेटू, निर्बुद्धि आदि) से पहले ही निर्दय हो गया था, शीघ्र ही दिशाओं में सिंहनाद करता हुआ, क्षुर (बाणविशेष) लेकर कर्ण की जिह्वा काटने की इच्छा से आगे बढ़ा॥ ४०॥

टिप्पणी—पूर्व आश्वास में कर्ण के साथ युद्ध करते हुए भीम का वर्णन आ चुका है। भीम के सारे शस्त्रों को नष्ट कर देने के बाद कर्ण ने भीम को अपने धनुष की नोक से मारते हुए अनेक कटु-शब्दों का प्रयोग किया था जिससे भीम का मन अत्यन्त दुःखी हुआ था। अतः इस बार भीम भी उसकी वाग्मी जिह्वा को काटने के विचार से कर्ण के पास आया॥ ४०॥

शृणु गा मे तात वधीर्मैनं भीमास्तु धृतिसमेता तव धीः।
मतिमानास्यवधेहि ह्ययापि संधा किरीटिनास्य वधे हि॥ ४१॥
इत्थ रुद्धस्तेन प्रतीत्य शल्येन पुनरुद्धस्तेन।
कर्णं धैर्ययुगजहाद् द्विड्भिर्जघटे च बहुविधैर्युगजहा॥ ४२॥

अनुवाद—हे तात, भीम! मेरी बात सुनो। तुम कर्ण को मत मारो। तुम्हारी बुद्धि धैर्य धारण करे। तुम (क्या) बुद्धिमान् नहीं हो! अर्थात् तुम बुद्धिमान् हो (अत:) ध्यान रखो कि कर्ण के वध के लिये अर्जुन ने प्रतिज्ञा की है।

फिर इस प्रकार हाथ उठाकर शल्य के द्वारा रोके गये धैर्यवान् भीम ने कर्ण को छोड़ दिया और घोड़े (युग) तथा हाथियों को मारनेवाला वह भीम युद्ध करने के लिये अनेक शत्रुओं से भिड़ गया॥ ४१-४२॥

गुरुकेतुच्छत्रा सा कुरुसेना क्रुद्धबलेऽपि तुच्छत्रासा।
गजवाजिलता तेन प्रमर्दिता वायुजेन जवजिततातेन॥ ४३॥

अनुवाद—बड़े-बड़े ध्वज और छत्रों वाली, हाथी-घोड़ों से व्याप्त तथा क्रुद्ध शत्रु-दल के सामने भी तुच्छ-त्रास वाली कौरव सेना को, वेग में अपने पिता (वायु) को भी जीतनेवाले भीम ने, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया॥ ४३॥

अथ रभसादभियं स भीमं दुःशासनोऽभ्यगादभियन्तम्।
कृतकम्पाराधारं स्थितं रणे तटमिवाशुक पारावारः॥ ४४॥

अनुवाद—इसके उपरान्त आवेगपूर्वक बढ़ते हुए निर्भय भीम के सामने (दुर्योधन का भाई) दुःशासन आया। उसके (भय के) कारण के कारण शत्रु समूह चिल्लाने चीखने लगा। संग्राम में स्थित (निर्भय) भीम के पास दुःशासन ऐसे आया जैसे कि तरङ्गों के कारण शोर मचाता हुआ समुद्र तट के पास जाता है।

व्याख्या—कवि वासुदेव ने इस श्लोक में दुःशासन को हिलोरें मारते हुए समुद्र के समान और भीम को तट के समान बतलाया है। कवि के इस सादृश्य का उद्देश्य केवल दुःशासन का अदम्य साहस और वीरता को अभिव्यक्त करना है ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—'अरि' पद में समूहार्थक 'अण्' प्रत्यय लगने से 'आर' पद निष्पन्न हुआ है—(अरीणां समूहम् आरम्) ॥ ४४ ॥

त्वरितौ सारावरणौ भीमो दुःशासनश्च सारावरणौ।
घोरमतन्वातां तौ पराक्रमं दलितयापि तन्वा तान्तौ ॥ ४५ ॥

अनुवाद—दृढ़-कञ्चुक-धारी तथा सिंहनाद के साथ युद्ध करनेवाले उन दोनों फुर्तीलों—भीम और दुःशासन—ने शरीर घायल हो जाने पर भी, बिना किसी कष्ट या दुःख के (अनुभव के साथ) घोर पराक्रम किया (दिखाया) ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—टीकाकार रत्नकण्ठ ने इस श्लोक में आये हुए 'तन्वा तान्तौ' पदों को पृथक्-पृथक् मानकर 'तान्त' का अर्थ खिन्न किया है जो इतना समीचीन नहीं जान पड़ता। यदि 'तन्वा तान्तौ' पदों को मिला दिया (तन्वातान्तौ) जाये तो 'अतान्तौ' पद का 'अखिन्न' या 'अम्लान' अर्थ अधिक उपयुक्त और समीचीन होगा क्योंकि 'शरीर के घायल हो जाने पर भी खिन्न उन दोनों-भीम और दुःशासन-ने घोर पराक्रम किया' इस अर्थ में वह चमत्कार नहीं जो 'शरीर के घायल हो जाने, पर भी बिना कष्ट का अनुभव किये घोर पराक्रम दिखाने' में है। शरीर के फूटने-फाटने पर यदि कष्ट का अनुभव किया तो भला वीरता कैसी? ॥ ४५ ॥

केशभराक्षेपी यः स्वकलत्रस्यास्मना धुरा क्षेपीयः।
अरिमधिकोपनतान्तं दृष्ट्वा भीमो बभार कोपनतां तम् ॥ ४६ ॥

अनुवाद—दुष्टों में अग्रगण्य होने के कारण जिस दुःशासन ने, बड़ी फुर्ती से अपनी कुटुम्बिनी द्रौपदी के केशपाश को खींचा था तथा जिसका अन्त एकदम निकट आ गया था—ऐसे शत्रु—(दुःशासन) को देखकर भीम ने कोप को धारण किया अर्थात् उसे देखकर भीम कुपित हुए ॥ ४६ ॥

अथ भीमो घोरगदो रभसादभिभूय रिपुममोघोरगदोः।
कुरुवीराक्षसमक्षं जगृहे हनुमान् पुरेव रावणमक्षम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर घोर-गदा-धारी तथा सर्प-सदृश अमोघ भुजा-धारी भीम ने साहस के साथ उस शत्रु (दुःशासन) को पराजित करके कौरव-वीरों की आँखों के सामने ही (अर्थात् उनके देखते-ही-देखते) उसको उसी प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार से पूर्वकाल (त्रेतायुग) में वानर-श्रेष्ठ हनुमान ने रावण-पुत्र अक्षकुमार को पकड़ लिया था ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—महाकवि ने इस श्लोक में भीम और दुःशासन का सादृश्य अत्यन्त ही उपयुक्त वीरों के साथ प्रदर्शित किया है। भीम हनुमान् के लघु-भ्राता थे। अतः उनमें हनुमान् के समान ही बल व पराक्रम होना न्याय-संगत है। दुःशासन की तुलना राक्षस अक्षकुमार के साथ की गयी है। वह भी अति उपयुक्त और समीचीन है क्योंकि दुःशासन ने द्रौपदी का केश-कर्षण करके अपने राक्षस-वृत्तिरूप स्वभाव का ही परिचय दिया है।

भीम की भुजाओं को सर्प के समान बतलाने का उद्देश्य उनकी अमोघ-शक्ति और भयकरता को बतलाना है क्योंकि आगे चलकर वह इन्हीं हाथों से दुःशासन के वक्षस्थल विदारणरूप क्रूर-कर्म का सम्पादन करने वाला है ॥ ४७ ॥

सोऽधिकलोलोऽहितहृद्‌दुमाग मित्त्वा महाबलो लोहितहृद्‌।
भीमो वारणदरणस्फुरितो बभावरातिवारणदरणः ॥ ४८ ॥

अनुवाद—उसके (दुःशासन) वध के लिये अत्यन्त उतावला, हाथियों के विदारण में उद्भट, शत्रुओं के कवचों को विदीर्ण करनेवाला तथा शत्रु (दुःशासन) के वक्षस्थल को चीरकर रक्त-पान करनेवाला महाबली भीमसेन (संग्राम-भूमि में) सुशोभित हुआ ॥ ४८ ॥

वेगादाहत्यामुं द्विरद इव महीतले मदाहत्यागम्।
अतिरभसेनोरसि तं भिन्दंश्चकार भीमसेनो रसितम् ॥ ४९ ॥

अनुवाद—भीमसेन ने अत्यन्त आवेग के साथ उसको पृथ्वी पर पटक कर वक्षस्थल चीरते हुए उसी प्रकार शब्द किया जिस प्रकार कोई हाथी वृक्ष को पृथ्वी पर गिराकर उसे तोड़ते हुए चिंघाड़ता है।

व्याख्या—इस श्लोक में भीम की उपमा एक ऐसे हाथी से दी गयी है जो किसी वृक्ष को गिराकर बड़ा प्रसन्न होता है और उसकी शाखाओं को उखाड़ता हुआ ज़ोर-ज़ोर से शब्द करता है। भीम का यह सादृश्य उसकी शक्ति और विशालकायता के कारण दिया गया है। आज अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते देख उसका हर्षित होना स्वाभाविक है ॥ ४९ ॥

अथ मधुरं रुचिमदसृक्सलिल मध्विव मनोहरं रुचिमदसृक् ।
वायुसुतेनापायिद्विड्वक्षःकुहरजन्म तेनापायि ॥ ५० ॥

अनुवाद—इसके पश्चात् उस वायुपुत्र-भीम ने विनाशी शत्रु दु:शासन के वक्षस्थल से निकलनेवाले कान्तियुक्त और स्वादिष्ट रुधिर जल को, मनोहर तथा रुचि और मद को उत्पन्न करनेवाले मधु (शहद या आसव) के समान पिया ॥ ५० ॥

टिप्पणी—दुःशासन का वक्षःस्थल चीर कर रक्तपान करना भीम की प्रतिज्ञा थी। कवि ने दु:शासन के रक्त की उपमा स्वादिष्ट मधु (आसव) से दी है क्योंकि जिस प्रकार आसव रुचि और मद को बढ़ानेवाला होता है उसी प्रकार रक्त-पान से भीम मद-मस्त हो गया था ॥ ५० ॥

अहितमदानवमुष्णन्निजशत्रोः शोणितं तदा नवमुष्णम् ।
मुदमुरुधामा पायं पायं नाकीव नवसुधामापायम् ॥ ५१ ॥

अनुवाद—उस भीम ने शत्रुओं के मद को चूर-चूर करते हुए उस समय अपने शत्रु (दुःशासन) के गर्म और ताजे रक्त को बारंबार पी कर उसी प्रकार सन्तोष प्राप्त किया जिस प्रकार देवता (नाकी) नव-सुधा का पान करके प्रसन्न होते हैं ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—शास्त्रों में देवताओं का अमृत-पान करना प्रसिद्ध है। अमृत-पान के कारण ही स्वर्गवासी लोग देवता कहलाते हैं। कवि ने रक्तपान से प्रसन्न होते हुए भीम की तुलना देवताओं से की है। जिस प्रकार देवगण सुधापान करके हर्षित होते हैं उसी प्रकार भीम भी अपने शत्रु का रक्तपान करके प्रसन्न हुआ। उसकी इस प्रसन्नता के कई कारण हैं। प्रथम तो यह कि उसकी आज प्रतिज्ञा पूरी हुई और दूसरे यह कि उसका 'असृक्सलिल' 'मध्विव मनोहरं रुचिमदसृक्' था। भीम को देवता के समान बतलाने का एक यह भी अभिप्राय है कि जिस प्रकार देवता-गण शत्रुओं या दुष्टों का यदा-कदा संहार करते हैं, उसी प्रकार भीम ने भी आज जगत् के धूर्त व दुष्ट का संहार किया है ॥ ५१ ॥

तत्र हते नानादिक्क्षोभकृता वायुजेन तेनानादि ।
अथ रिपुहा स न नर्तप्रतिश्रुतः सगरे जहास ननर्त ॥ ५२ ॥

अनुवाद—रण-भूमि में दु:शासन के मर जाने पर, सत्य-प्रतिज्ञा करनेवाले तथा नाना दिशाओं को क्षुब्ध करनेवाले शत्रु-घातक, वायु-पुत्र भीम ने महान् नाद किया। फिर इसके बाद वह युद्ध-भूमि में हँसा नहीं, (ऐसा) नहीं अर्थात् वह हँसा, वह नाचा नहीं, (ऐसा) नहीं अर्थात् वह नाचा (भी) ॥५२॥

त इतरिपु नर्दन्तं दशान्तमत्यन्तमरमरि पुनर्दन्तम् ।
द्रष्टु के शेकुरयस्थित रणे विरचिवास्थिकेशे कुरवः ॥ ५३ ॥

अनुवाद—शत्रु दुःशासन को मारकर गरजते हुए तथा अत्यन्त मारकर (परोत्कर्षासहन) के कारण दाँतों को क्रोध के कारण (कट-कट) बजाते हुए उस भीम को, (रण में मरे हुए लोगों के) बिखरे हुए अस्थि और केशों से व्याप्त युद्ध-भूमि में कौन कौरव (दुर्योधनादि) देख सके ? अर्थात् उसे कोई भी ऐसा करते देखने में समर्थ न हो सका क्योंकि कुछ लोग उसको ऐसा करते देखकर मूर्छित हो गये तो कुछ ने आँखें मूँद लीं ॥ ५३ ॥

रणकृतिनामप्येयं कर्म करोम्युभयपृतनामध्येऽयम् ।
नो चेन्मत्तो बलतः स मोचयत्वेनमत्र मत्तो बलतः ॥ ५४ ॥
मुञ्चति नैष भवत्सु क्रुद्धेष्वेन च यादवपमवत्सु ।
नौग्रहसिंहाकार हरिं हि शरभो हरः स्वसि हाकारम् ॥ ५५ ॥
श्रुत्वा मानवदद्दयं भीमं वचनमिति विकृतिमानवददयम् ।
प्राणान् रणभुवि हरत. मद्यं न हितदत्र मे प्रविहरतः ॥ ५६ ॥
इति कृतकोपाय ततः पार्थायादर्शयच्छुभोपायततः ।
विश्वाकार भीमं साक्षाद्रुद्रं हरिर्वैयारम्भीमम् ॥ ५७ ॥

(चक्कलकम्)

अनुवाद—युद्ध-कर्म में कुशल लोगों के लिये भी पठनीय इस कर्म को मैं दोनों सेनाओं के मध्य करता हूँ। जो भी कोई बलवान् हो वह बल के कारण मत्त मेरे पजे से अपने बल के द्वारा इस दुःशासन को छुड़ावे ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्ण सहित (यादवपंमवत्सु) आप लोगों (पाण्डवों) के क्रुद्ध होने पर भी मैं इसे नहीं छोड़ूँगा। (जिस प्रकार) शरभमूर्तिधारी शंकर (हर) ने हाहाकार करके सुन्दर खड्ग धारी, सिंहाकारधारी विष्णु (हरि) को भी नहीं छोड़ा ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—कवि ने इस श्लोक में दृष्टान्त के द्वारा भीम की बात की पुष्टि की है। नरसिंहाकारधारी भगवान् विष्णु के बल को नष्ट करने के लिये भगवान् शंकर ने शरभावतार लिया था—यह कथा पुराणों में पायी जाती है। शरभ आठ पैरोंवाला एक जन्तु विशेष है जिसका वर्णन पुराणों में ही पाया जाता है। वह देखने में नहीं आता है। शरभ को शेर से कहीं बढ़कर मज़बूत और बलवान् बतलाया गया है।

भीम के ये अभिमानपूर्ण और निर्दय वचनों को सुनकर अर्जुन बोले "(हे कृष्ण देखिये) ये भीम कितना अभिमानी है जो इसने ऐसा कहा कि

'रण-भूमि में दुःशासन के प्राणों को हरण करनेवाले तथा क्रीड़ा करनेवाले मुझ भीम का यह रुधिरपानरूप कर्म किसी के द्वारा भी सह्य नहीं अर्थात् मैं किसी से भी नहीं डरता' ॥ ५६ ॥

इस प्रकार कोप करनेवाले अर्जुन को, शुभोपाय में रत अर्थात् अपने भक्त पाण्डवों के हित में लगे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने, इस भीमसेन के साक्षात् रुद्र रूप विश्वरूप (विराट्रूप) को दिखलाया अर्थात् यह भीम नहीं, साक्षात् रुद्र ही इस कर्म में प्रवृत्त हुआ है ऐसा उन्होंने अर्जुन को बतलाया ॥ ५७ ॥

इत्थं कुर्वत्यन्तं भीमे सैन्यस्य निहतकुर्वत्यन्तम् ।
स्वबलमनाधि रथिभ्यां विदधद्भ्या घटितमर्जुनाधिरथिभ्याम् ॥५८॥

अनुवाद—इस प्रकार भीम द्वारा बहुत सारी शत्रु-सेना और कौरवों (दुर्योधन-भ्राता) के मार दिये जाने पर, अपनी आधिरहित (मनःपीड़ा-रहित) सेना को लिये हुए तथा रथ पर बैठे हुए अर्जुन और कर्ण (युद्ध के लिये) सामने आये ॥ ५८ ॥

ताभ्यां रसमानाभ्यां कर्णेन किरीटिना च रसमानाभ्याम् ।
उद्धतरसमा नाभ्यां युद्धे विदधे परस्परसमानाभ्याम् ॥ ५६ ॥

अनुवाद—रण-भूमि में वीररस और गर्व के कारण (रसमानाभ्याम्) सिंहनाद करते हुए (रसमानाभ्याम्) तथा (पराक्रम में) परस्पर समान कर्ण तथा अर्जुन—दोनों वीरों ने रौद्ररस की लक्ष्मी (उद्धतरस-मा) धारण की ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि वासुदेव ने प्रकारान्तर से रौद्ररस का वर्णन किया है। सिंहनाद करते हुए दोनों ही वीरों में रौद्ररस स्फुरित हुआ। इस श्लोक में 'उद्धतरसमा' पद का अर्थ रौद्ररस—उद्धतरसस्य—की लक्ष्मी—मा—किया गया है। लक्ष्मी का भावार्थ यहाँ पर शोभा है ॥ ५९ ॥

अथ कपिकेतावदयं कर्णो बाणं बलाधिके तावदयम् ।
भयमरिसेना गमयन्निशितं विससर्ज वैशसे नागमयम् ॥ ६० ॥

अनुवाद—इसके बाद शत्रुसेना को भयभीत करते हुए कर्ण ने, युद्ध-संकट में (वैशसे) निर्दय होकर, बल में अधिक अर्जुन (कपिकेतु) पर 'नागमय' (सर्पमय) तीक्ष्ण-बाण छोड़ा ॥ ६० ॥

सरसं खेऽनवमं त बाण दृष्ट्वानलं मुखेन वमन्तम् ।
आसन्नमनन्तेन न्यधायि पाण्डवरथस्य नमनं तेन ॥ ६१ ॥

अनुवाद—आकाश में शब्द करते हुए तथा मुख से अग्नि निकालते हुए

पुरुष बाण को अर्जुन के निकट आया हुआ देखकर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के रथ को नीचा कर दिया ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—कर्णपर्व में यह आख्यान आया हुआ है। जब कृष्ण ने देखा कि कर्ण के द्वारा छोड़ा गया 'नागमय' बाण अर्जुन को ही समाप्त करने के लिये आ रहा है तो इन्होंने रथ पर अपना अंगूठा कस कर मारा जिससे कि वह रथ नीचा हो गया। इस प्रकार अर्जुन उस बाण से घायल होने से बच गये ॥ ६१ ॥

स च कृतमतनोदस्तं नाग पार्थस्य कौलिमतनोदस्तम्।
अपि विपद् यस्या तं शरवृष्ट्या जिष्णुरनयदम्बरयातम् ॥ ६२ ॥

अनुवाद—उस नागरूप बाण ने अर्जुन के वध में असमर्थ होकर (कृतमतनोदः) उसके मुकुट को ही नष्ट (छिन्न-भिन्न) कर डाला। फिर अर्जुन ने भी उस आकाश-व्याप्त नागबाण को अपनी श्रेष्ठ शरवृष्टि से नष्ट कर दिया (शान्त कर दिया) ॥ ६२ ॥

अथ मुदिताशापे न द्विजातिमुख्यस्य घलधता शापेन।
रोषसमप्रास्यस्य स्यन्दनचक्रं भुवा समग्रास्यस्य ॥ ६३ ॥

अनुवाद—इसके बाद (अर्जुन का वध न होने से) कर्ण को हर्ष न हुआ। फिर क्रोध से तमतमाये हुए मुखवाले उस कर्ण के रथ चक्र विप्र (दुर्वासा) के कठोर शाप के कारण पृथ्वी में धँस गये ॥ ६३ ॥

कुद्धतयोग्रस्तेन व्यग्रे शत्रौ धनञ्जयो ग्रस्तेन।
इषुणा कर्णान्तरतः प्रकृष्य तरसा पपात कर्णान्तरतः ॥ ६४ ॥

अनुवाद—नागबाण के नष्ट होने से व्याकुल शत्रु (कर्ण) पर अर्जुन क्रोध के कारण (और भी) उग्र हो उठे। फिर अर्जुन ने कर्ण के वध के लिये तत्पर अपने बाण को कर्णान्त तक खींचकर (कर्ण को) मारा ॥ ६४ ॥

तस्य च मूर्धा रयतः कृत्त. कर्णस्य कुरुचमूर्धारयतः।
विशिखेनाशा तेन च्छिन्ना पतिता च कुरुजनाशा तेन ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उस बाण ने वेग से, कुरुसेना की रक्षा करनेवाले कर्ण के सिर को काट दिया और (उसी के साथ) उस बाण के द्वारा कौरवों की आशा भी छिन्न होकर समाप्त हो गयी ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में बाण के द्वारा कर्ण के सिर-छेदन के साथ-साथ कौरवों की विजयरूप आशा को भी छिन्न हुआ बतलाकर कवि ने 'सहोक्ति' अलंकार का अति सुन्दर समावेश किया है ॥ ६५ ॥

अथ सूतात्मजनाशे दुःखी दुर्योधनो गतात्मजनाशो।
न मनः परमरणाय व्यधत्त निरतोऽभवच्च परमरणाय ॥ ६६ ॥

अनुवाद—इसके अनन्तर अपने लोगों की आशा समाप्त हो जाने पर तथा सूत-पुत्र कर्ण के वध पर दुःखी दुर्योधन ने दूसरों के मरण का विचार न किया और स्वयं उत्कृष्ट-रण के लिये जुट गया ॥ ६६ ॥

स नरवरोऽहनि शान्ते शिबिरगतः शयनमारुरोह निशान्ते।
प्रददावार्तायनये बलाधिपत्यं च विहितवार्ताय नये ॥ ६७ ॥

अनुवाद—दिन समाप्त होने पर (रात्रि में) राजा दुर्योधन ने शिविर में जाकर शयन किया और रात्रि बीतने पर अर्थात् प्रातःकाल नीतिशास्त्र में कुशल, राजा शल्य को सेनापतित्व (पद) प्रदान किया अर्थात् उसे सेनापति बनाया ॥ ६७ ॥

बलमभियात्रस्यन्तं धर्मसुतः शल्यतुलया त्रस्यन्तम्।
शक्त्या धीमानवधीन्निरूप्य पृथिवीभृतां युधीमानवधीन् ॥ ६८ ॥

अनुवाद—सैन्य की ओर खड्ग लेकर चलनेवाले लोगों के लिये नाशरूप (बलमभियात्रस्यन्तम्) तथा (धर्मपुत्र से) डरनेवाले राजा शल्य को बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने—इनको राजाओं में अवधि (पराकाष्ठा) मानकर—युद्ध-भूमि में अपनी अतुलनीय शक्ति से मार गिराया ॥ ६८ ॥

व्याख्या—शल्य से युद्ध करने के लिये श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा क्योंकि अर्जुन युद्ध करते-करते काफी थक गये थे। युधिष्ठिर ने शल्य को मारने की प्रतिज्ञा की। शल्य और युधिष्ठिर का घोर युद्ध हुआ। फिर शतघ्नी-शक्ति, जो महाराज युधिष्ठिर ने मय दानव से प्राप्त की थी, उसे महाराज युधिष्ठिर ने शल्य पर चलाई। वह-शक्ति दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई राजा शल्य के वक्ष स्थल में प्रवेश करके पार हो गयी, जिससे शल्य उसी समय पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ६८ ॥

शकुनिं देवनमूलं नृपोऽपि यत्कृतिभिराददे वनमूलम्।
तं नानाक्षमतेषु स्थिरमथ माद्रीसुतस्य नाक्षमतेषुः ॥ ६९ ॥

अनुवाद—जिस शकुनि के (द्यूतादि) कर्मों के कारण राजा युधिष्ठिर ने वनवास प्राप्त किया, द्यूत-क्रीडा के मूल तथा पासों में स्थिर बुद्धिवाले उसको (शकुनि) भी माद्रीपुत्र (सहदेव) के बाण ने नहीं क्षमा किया अर्थात् सहदेव ने शकुनि को मारा ॥ ६९ ॥

किं क्रियते लापानां बहुलतया तद्बलं घनेलापानाम्।

षासविहव्यप्रासिमस्तमभूदहितविमहव्यमासि ॥ ७० ॥

अनुवाद—बहुत क्या कहा जाये, आश्चर्य है राजाओं की (शेष) सेना, जिनकी तलवारें शत्रुओं के शरीर पर वार करने के लिये व्यस्त थीं (अहित-विग्रहव्यप्रासि), इन्द्र पुत्र अर्जुनरूपी अग्नि (हव्यप्रासी) के द्वारा ग्रसित हुई अर्जुन ने बाकी बचे राजाओं को मारा ॥ ७० ॥

टिप्पणी—कवि ने अर्जुन का रूपक 'हव्यप्रासी' (अग्नि) से देकर उपमान की सार्थकता प्रकट की है। हव्यप्रासी रूप अर्जुन के लिये शेष राजा हव्य हुये। यहाँ पर संभवतः कोई अन्य पद, जो 'हव्यग्रहण' के भाव से रहित होता, युक्तिसंगत नहीं था ॥ ७० ॥

विधृतरसं धामवता कुरुवृन्दं महत्सु चैपु संधामवता।
वायुसुतेनाघानि स्मरता तन्निमितानि तेनाघानि ॥ ७१ ॥

अनुवाद—बड़े-बड़े लोगों में की गयी अपनी (कौरवनाश के वधरूप) प्रतिज्ञा की रक्षा करनेवाले तेजस्वी वायुपुत्र भीम ने कौरवों के द्वारा किये गये (द्रौपदी-केशकर्षणादि) अपराधों का स्मरण करते हुए कुरु-समूह का वध किया अर्थात् धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को भीम ने ही अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मारा ॥ ७१ ॥

सुनिराकृतवर्माणः शरैः कृपद्रोणसुतकृतवर्माणः।
समरमुदस्य भिया ते पलायितास्तत्र रिपुसदस्यभियाते ॥ ७२ ॥

अनुवाद—शत्रु-सभा (सेना) के भाग जाने पर बाणों से छिन्न-भिन्न हुए कवचोंवाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा भी भय के कारण युद्ध-भूमि छोड़कर भाग खड़े हुए ॥ ७२ ॥

प्रेक्ष्य चमूनाशं स प्रजगाहे ह्रदमगाधमूनाशसः।
तं च समस्तं भयतः स्वविद्यया कुरुपतिः समस्तम्भयतः ॥ ७३ ॥

अनुवाद—अपनी सेना के नाश को देखकर जय की आशा से रहित राजा दुर्योधन ने अपनी माया से, भय के कारण, सारे जल का स्तम्भन करके द्वैपायन-सरोवर में प्रवेश किया ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—जब राजा दुर्योधन ने अपनी सारी सेना को नष्ट होते हुए देखा तो अपनी रक्षा के लिये वह अपरिकथित (द्वैपायन) सरोवर में आकर छिप गया। यह स्तम्भन-विद्या उसने पातालवासी दैत्यों से सीखी थी। यह वर्णन महाभारत के शल्य-पर्व में सविस्तार देखा जा सकता है ॥ ७३ ॥

रणभुवि शबरचितायां वनभुवि च ततो विचिन्त्य शबरचितायाम्।

गत्वा मानी तोयं पार्थैर्वचनेन रोषमानीतोऽयम् ॥ ७४ ॥

अनुवाद—छात्रों से व्याप्त रणभूमि में, फिर शबरों (चाण्डाल) से व्याप्त वनप्रदेश में दुर्योधन को खोजने के पश्चात् युधिष्ठिरादि ने द्वैपायन ह्रद के समीप जाकर कटु वचनों से अभिमानी दुर्योधन को क्रुद्ध किया ॥ ७४ ॥

टिप्पणी—भीम से दुर्योधन के जल-स्तम्भन का समाचार पाकर युधिष्ठिरादि बड़े प्रसन्न हुए। भीम ने भीलों को पारितोषिक भी दिया फिर सब श्रीकृष्ण को साथ लेकर उस सरोवर के तट पर पहुँचे और दुर्योधन के लिये नाना प्रकार के कटु-वचन बोलने लगे। युधिष्ठिर बोले—'हे दुर्योधन! क्या आज तुमने उस अभिमान को छोड़ दिया, जो तुम्हारे हृदय में रहता था? अब तुम शीघ्र ही निकलो।' इसके बाद भीम बोले—'हे दुर्योधन! तू भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य और ९९ भ्राता और अनेक वीरों का नाश कर अब व्याकुल होकर यहाँ आ छिपा है, अरे तेरे जीवन को धिक्कार है। अब तू शीघ्र ही जल से निकल और हम लोगों से युद्ध कर। युधिष्ठिर और भीम के वचन सुनकर वह कुपित हो उठा ॥ ७४ ॥

सोऽपि महानिर्ह्रादादुत्थाय तलात्समानहानिर्ह्रादात्।
सरम्भी मरणाय व्यधत्त चेतस्तथैव भीमरणाय ॥ ७५ ॥

अनुवाद—(कटु-वचनों के कारण) मानहानि से युक्त उस दुर्योधन ने भी, महान् घोष वाले द्वैपायन सरोवर के तल से अति क्रोध के साथ निकल कर मरने का निश्चय किया तथा भीम के साथ गदा युद्ध करने का विचार किया ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—युधिष्ठिर ने दुर्योधन से कहा 'यदि तुम हम में से एक को भी अपने मन-वाञ्छित शस्त्र से जीतोगे तो तुम इस सम्पूर्ण पृथ्वी का निष्कण्टक-राज्य करोगे और हम लोग युद्ध से निवृत्त हो जावेंगे। यह सुन दुर्योधन गदा लेकर जल से बाहर निकला और गर्जना करते हुए भीमसेन से बोला 'हे भीम! मैं जानता हूँ कि तुमने जरासन्ध, भगदत्त और कीचक इत्यादि को मारकर मेरे दुःशासनादि भाइयों को भी मारा है। अब उन सबसे उऋण होने के लिये मैं तेरा विनाश करता हूँ।' यह कहकर वह भीम के साथ गदा-युद्ध करने लगा ॥ ७५ ॥

अथ रिपुमन्दृदया तौ समरं कर्तुमतिशुभं गदया तौ।
गुरुमत्सरसपत्नौ भीमो दुर्योधनश्च सरसं पत्नौ ॥ ७६ ॥
दधतौ मानसमाजौ जन्मन आरभ्य मोदमानसमाजौ।

अधिकतमारान्तरणौ जयदाते मज्जति पश्चिमाशां तरणौ ॥ ७७ ॥
(युग्मम्)

अनुवाद—इसके उपरान्त सूर्य के पश्चिम-दिशा में आने पर अर्थात् सायंकाल, महान् मत्सर (परोत्कर्षासहन) रूपी मालति को धारण करनेवाले, जन्म से ही गदा-युद्ध से प्रेम रखनेवाले, अत्यधिक उद्धत-युद्ध करनेवाले तथा वीरसमाज को हर्षित करनेवाले वे दोनों—भीम और दुर्योधन—पैदल ही उत्साहपूर्वक शत्रु का नाश करनेवाली गदा के द्वारा अत्युत्कृष्ट संग्राम करने के लिये, भिड़ गये ॥ ७६–७७ ॥

सुचिरममित्रावरणौ रोषेण बलेन च तुलितमित्रावरणौ ।
सुमहति जन्ये तान्तौ परस्परं ताडनैरजन्येतां तौ ॥ ७८ ॥

अनुवाद—रोष के कारण बहुत काल तक शत्रुओं को आच्छादित करने वाले—अथवा शत्रुओं के नाशरूप युद्ध को करनेवाले—तथा बल में सूर्य और अग्नि (आवरण)—या वायु—के समान वे दोनों—भीम और दुर्योधन—महान् युद्ध में, परस्पर ताडन (गदाघातादि) के कारण थक गये ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'अमित्रावरणौ' और 'तुलितमित्रावरणौ' पद में 'आ (अ) वरण' पद के श्लेष से दो अर्थ किये गये हैं ॥ ७८ ॥

तत्र तु वायुतनयत क्रियमाणे संयुगे युवा युधा युतनयतः ।
समजनि योग्याबलतः सुयोधनः समधिकयोग्यावलत ॥ ७९ ॥

अनुवाद—फिर तो वहाँ पर युद्ध करते समय तरुण दुर्योधन, योग्यबल के अभाव में, नीतियुक्त वायु-पुत्र भीम से (भी) अधिक और योग्य पैंतरेबाजी (आवल्गता) करने लगा ॥ ७९ ॥

व्याख्या—दुर्योधन शक्ति में भीम से कम था पर गदाभ्यास में उससे अधिक। गदा-युद्ध में उसे नाना-प्रकार के दांव-पेचों का ज्ञान था क्योंकि उसने बलराम से इसकी शिक्षा प्राप्त की थी। जब दुर्योधन ने देखा कि वह इस प्रकार भीम से नहीं जीत सकता तो पैंतरा बदलने के लिये वह घूमा ॥ ७९ ॥

तदनु सरोजनयनतः प्राप्याज्ञां पाण्डवो दरोज नयनतः ।
कपटपदव्यां जनतः सक्थि युगपदव्याजनत ॥ ८० ॥

अनुवाद—इसके बाद भीम ने श्रीकृष्ण (सरोजनयनतः) की आँखों से इशारा पाकर छल के द्वारा दुर्योधन की जाँघ भग्न कर दी और उसी के साथ (लज्जा के कारण) सिर झुका लिया (मानों स्वयं पराजित हो गया) ॥ ८० ॥

टिप्पणी—भगवान् कृष्ण ने जब देखा कि बहुत देर तक युद्ध करते हुए भी भीम दुर्योधन को न मार सके तो वे व्याकुल हो उठे और उन्होंने सोचा इस प्रकार धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए कभी भी दुर्योधन को नहीं जीत सकते क्योंकि गदा-विद्या में दुर्योधन भीम से अधिक बढ़ा-चढ़ा है। अतः अधर्म व अनीति का सहारा लेकर ही इसका वध करना चाहिये। मायावी राजा को माया के साथ ही जीतना चाहिये—यही धर्म है। अतः भीम को अपनी प्रतिज्ञा याद दिलाने के विचार से श्रीकृष्ण ने अपनी जंघा दिखाकर दुर्योधन की जंघा पर प्रहार करने का इशारा किया। श्रीकृष्ण का इशारा पाकर भीम ने तत्क्षण उसकी जंघा पर गदा-प्रहार कर उसे चूर-चूर कर दिया पर उसके साथ लज्जा के कारण उसका भी मस्तक नीचा हो गया क्योंकि उसने छल का सहारा लेकर दुर्योधन को मारा ॥ ८० ॥

प्रोज्झ्य वपूरुचमूरुद्वितये सचूर्णितोऽरिपूरुचमूरुत् ।
मारुतभूयोघनतः परमापन्नः पपात भूयोधनतः ॥ ८१ ॥

अनुवाद—(भीम के द्वारा) दोनों जंघाओं के चूर-चूर कर दिये जाने पर, शत्रुओं की महान् सेना को रोकनेवाला तथा पृथ्वी पर वीरों के द्वारा प्रणत (भूयोधननतः) सुयोधन अपने शरीर की कान्ति का त्याग कर तथा मारुत-पुत्र भीम के साथ युद्ध के कारण अशरण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ८१ ॥

मुदिततरा जनितान्ते शत्रुबले निपतिते च राजनि तान्ते ।
प्रापुः शिबिरं तारस्वनिताः पार्था निशि विरन्तारः ॥ ८२ ॥

अनुवाद—शत्रु-सेना के अन्त होने पर तथा (युद्ध के कारण) खिन्न राजा दुर्योधन के पृथ्वी पर गिर जाने पर, अत्यन्त-प्रसन्न पाण्डव सिंहनाद करते हुए, विश्राम करने के लिये रात्रि में अपने शिविर गये ॥ ८२ ॥

समममुत्कटकेतनया स्वसेनया पाण्डवस्य कटके तनयाः ।
द्रोणसुवाहन्यन्तप्राप्ते सुप्ताः क्षणादिवाहन्यन्त ॥ ८३ ॥

अनुवाद—ऊँचे-ऊँचे ध्वजोंवाली पाण्डव-सेना के साथ पाण्डव-सैन्य में सोये हुए द्रौपदी के (पाँच) पुत्रों को द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा ने, दिनान्त होने पर अर्थात् रात्रि में, मार डाला ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—जब दुर्योधन ने अश्वत्थामा को सेनापति का अभिषेक किया तब कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा, यह तीनों विशाल वटवृक्ष के नीचे गये। वहाँ अश्वत्थामा को वैरियों के मारने की चिन्ता से नींद न आयी। कृपाचार्य और कृतवर्मा दोनों घोर नींद में सो गये। उसी समय एक उल्लू ने

आकर सोते हुए काकों को मार डाला, अश्वत्थामा ने विचार किया कि जिस प्रकार इस उल्लू ने सोते हुए कौओं का विनाश किया है वैसे ही मैं भी सोते हुए शत्रुओं को मारूँगा। उठकर उसने यह विचार कृपाचार्य और कृतवर्मा को सुनाया। कृपाचार्य के बहुत मना करने पर भी अश्वत्थामा ने दोनों को साथ लेकर, पाण्डवों के डेरे में पहुँच कर द्रौपदी के पुत्रों—धृष्टद्युम्नादि का वध किया। यह आख्यान 'सौप्तिकपर्व' में सविस्तार देखा जा सकता है ॥ ८३ ॥

अथ कटके तनयाना योदय तति विहितयमकेतनयानाम्।
अजनि सतापापासा कृष्णानशनेन काङ्क्षितापापा सा ॥ ८४ ॥

अनुवाद—इसके बाद यमपुरी को गमन करनेवाले पुत्रों की पंक्ति को देखकर, धर्म की आकांक्षा करनेवाली द्रौपदी निराश हो गयी अनशन करके सन्ताप करने लगी ॥ ८४ ॥

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण-सहित पाण्डव लौटकर आये तो मार्ग में दैवयोग से धृष्टद्युम्न का सारथि उनको मिला, जो कृतवर्मा के वाणों से बच गया था। उसने रात्रि का सारा वृत्तान्त युधिष्ठिर को सुनाया। जब द्रौपदी ने अपने पुत्रों के मरे हुए शरीर देखे तो वह बहुत दुःखी हुई और अश्वत्थामा को भला-बुरा कहने लगी। उसने युधिष्ठिर से कहा 'स्वामिन्! जब आप अश्वत्थामा को मारकर उसके मस्तक की मणि लाकर मुझे दिखावेंगे तब मैं भोजन करूँगी'। इस प्रकार वह अनशन करने बैठ गयी ॥ ८४ ॥

तस्या घोरोधरतः क्रोधेन वृकोदरोऽतिधीरो धरतः।
द्रौणिमशङ्कालाभः समाद्रवत्तत्कर्कशं कालाभः ॥ ८५ ॥

अनुवाद—द्रौपदी को अनशन के विचार से रोकनेवाले, पर्वत से भी अधिक धैर्यवान् तथा काल-सदृश भीम ने निःशङ्क होकर, क्रोधपूर्वक, अश्वत्थामा पर आक्रमण किया ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—द्रौपदी की यह प्रतिज्ञा सुनकर भीम ने द्रौपदी को अनेक प्रकार से धैर्य बँधाया और नकुल को सारथि बनाकर अश्वत्थामा का विनाश करने के लिये चल दिये। भीम ने व्यास जी के आश्रम में पहुँच कर शस्त्र धारण किये। उधर भीम की रक्षा के लिये श्रीकृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिर को साथ लेकर चल दिये ॥ ८५ ॥

कृतरिपुमानवनाशं पाण्डवनिधनाय दीप्यमानवनाशम्।
जीवितलोभी मत्या विससर्जैषीकमाकुलो भीमत्या ॥ ८६ ॥

अनुवाद—फिर व्याकुल होकर, भयाकुल बुद्धि से, प्राणों के लोभी

अश्वत्थामा ने, शत्रु और मानवों का नाश करनेवाले तथा वन और दिशाओं को भी प्रकाशित करनेवाले ब्रह्मास्त्र को छोड़ा ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—जब पाण्डव वन को चले गये थे तो अश्वत्थामा ने द्वारिका आकर भगवान् से ब्रह्मास्त्र माँगा। परन्तु भगवान् ने उसे क्रूर जानकर पहले तो ब्रह्मास्त्र देने से इन्कार कर दिया और उसे चक्र प्रदान किया। जब अश्वत्थामा चक्र को अपनी दोनों भुजाओं से उठाने लगा तो उसे उठा न सका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा 'भगवन्! यदि मुझ में चक्र धारण करने की सामर्थ्य होती तो प्रथम तुमसे ही युद्ध करता, अतः आप मुझे ब्रह्मास्त्र दीजिए'। उसके बार बार इस प्रकार प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण ने उसे ब्रह्मास्त्र प्रदान किया जिसे उसने व्याकुल होकर भीम पर छोड़ा ॥ ८६ ॥

कृतवधरागमनेन प्रयुक्तमैषीकमन्तरागमनेन ।
मज्जनमानसहंसस्तदस्त्रमरुणत्पुरः पुमानसहं सः ॥ ८७ ॥

अनुवाद—वध की अभिलाषा से अश्वत्थामा के द्वारा छोड़े गये दुःसह ब्रह्मास्त्र को, सज्जनों के मानस-हंस भगवान् श्रीकृष्ण ने बीच में आकर रोक लिया ॥ ८७ ॥

उद्वरोदस्यत्रिदशं तेजस्ततोऽकरोदस्त्रस्य ।
नातिचिरायास्तोकं शोषितमुदरस्थमुत्तरायास्तोकम् ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इसके बाद द्यावापृथिवी को व्याकुल कर देनेवाले तथा देवताओं को भी भयभीत करनेवाले ब्रह्मास्त्र के तेज ने शीघ्र ही (अपने कार्य को बिना किये न शान्त होने के कारण) अभिमन्यु-पत्नी उत्तरा के उदरस्थ महातेजस्वी गर्भ को (तोकं) दग्ध कर दिया ॥ ८८ ॥

स च मणिमच्छशिरोग द्रौणिः प्रभया कृतांशुमच्छशिरोगम् ।
पश्यन्नैषीकान्तं प्रददौ भीमाय जीवनैषी कान्तम् ॥ ८९ ॥

अनुवाद—जीवन की आकांक्षा करनेवाले उस अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र को नष्ट हुआ देखकर, (अपनी) प्रभा से सूर्य और चन्द्रमा को रोग प्रदान करनेवाली अर्थात् सूर्य और शशि को भी तिरस्कृत कर देनेवाली मणि, जो उसके निर्मल शिर में लगी थी, भीम को प्रदान किया ॥ ८९ ॥

मुख्य विप्राणान्त द्रौणिं भीमो मुमोच विप्राणां तम् ।
स च गुरुसूत्ररमण्या हरणादभिनन्दितो बभूव रमण्या ॥ ९० ॥

अनुवाद—ब्राह्मणों में मुख्य उस अश्वत्थामा को भीम ने, बिना प्राणान्त किये ही, अर्थात् जीवित ही, छोड़ दिया। फिर वह भीम भी गुरुपुत्र

अश्वत्थामा की श्रेष्ठ मणि के लाने से द्रौपदी के द्वारा प्रशंसित हुआ ॥ ९० ॥

सफलाशम जयतः पार्थं श्राकर्ण्य परवशं सञ्जयतः।
सुविषादी प्रास्थित स धृतराष्ट्रो रणभुवं सुदीप्रास्थिततताम् ॥ ९१ ॥

अनुवाद—संजय के द्वारा युधिष्ठिर को विजय के कारण सफल मनोरथ हुआ सुनकर, (अपने पुत्रों के वध से) दुःखी धृतराष्ट्र ने उज्ज्वल अस्थियों से व्याप्त (सुदीप्रास्थिततताम्) रण-भूमि की ओर प्रस्थान किया ॥ ९१ ॥

स विधुतहस्तान्ताभिः स्त्रीभिः सार्धं कुरूद्वहस्तान्ताभिः।
हतचेताः स्वापत्यश्रेणीषु रुरोद निपतितास्वापत्य ॥ ९२ ॥

अनुवाद—विषाद के कारण मूर्छित चेतना वाले वह धृतराष्ट्र (कुरूद्वहः) खिन्न तथा छटपटाती हुई हाथों वाली स्त्रियों के साथ, (रण-भूमि में) पड़ी हुई अपने पुत्रों की पंक्ति के पास आकर रोने लगे ॥ ९२ ॥

अथ कुन्तीतनयेन स्मृत्वा कर्तव्यमत्यतीतनयेन।
तच्छमने प्रस्तेन प्रचोदितः पुण्डरीकनेत्रस्तेन ॥ ९३ ॥

अनुवाद—इसके उपरान्त नीति का उल्लंघन न करनेवाले भयभीत कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अपने कर्तव्य (सान्त्वनादि) का स्मरण करके, धृतराष्ट्र के दुःख को शान्त करने के लिये श्रीकृष्ण को भेजा ॥ ९३ ॥

व्याख्या—महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारी को विलाप करता देख युधिष्ठिर ने समाधान करने के लिये श्रीकृष्ण को भेजा। वे स्वयं इसलिये सान्त्वना देने के लिये न आ सके क्योंकि वे शाप से डरते थे कि कहीं ऐसा न हो कि अपने पुत्रों के नाश से दुःखी महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारी मुझे शाप दे दें जैसा कि श्रीकृष्ण के साथ हुआ भी। गान्धारी ने ३६ वर्ष बाद श्रीकृष्ण को, वंश-नाश होने का शाप दिया ॥ ९३ ॥

पार्थाः सम्रमनेन प्रसादित केशवेन सम्रमनेन।
त नरदेवं दन्तद्युतिखचितसुरेन्दव. पदेऽवन्दन्त ॥ ९४ ॥

अनुवाद—सम्रमनवाले श्रीकृष्ण के द्वारा, दुःखी धृतराष्ट्र को आश्वस्त हुआ जानकर, दन्त-कान्ति से युक्त सुए चन्द्रवाले पाण्डवों ने, राजा के चरणों में प्रणाम किया ॥ ९४ ॥

कपटापादनमस्यन्नालिङ्गय युधिष्ठिर सपादनमस्यम्।
संमर्दायादान्त राजा मारुतिमिव प्रायादान्तम् ॥ ९५ ॥

अनुवाद—अपने कपट-विधान को त्याग कर पैरों में नमस्कार करते हुए

युधिष्ठिर का आलिंगन करके राजा धृतराष्ट्र ने, अपने पुत्रों का अन्त करनेवाले भीम को चूर्ण कर देने की इच्छा की ॥ ९५ ॥

अथ हषिततमायायः स्थापितमददान्नृपाय ततमायाय।
भीमं नरकारिरजः स चामुना श्लिष्यता पुनरकारि रजः॥ ९६॥

अनुवाद—इसके बाद नरकारि भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त क्रुद्ध तथा कपटी राजा धृतराष्ट्र को लोहमय भीम प्रदान किया। फिर उन्होंने (धृतराष्ट्र) आलिंगन करते हुए उसे वास्तविक भीम समझकर चूर्ण कर दिया ॥ ९६ ॥

व्याख्या—धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने के बाद अपने पुत्रों का वध करनेवाले भीमसेन को, भेंट करने के लिये, कपट से, बुलाया किन्तु श्रीकृष्ण ने उनके मन के कपट को पहले से ही जानकर लोहे का भीम बनाकर रखा था। उसी को धृतराष्ट्र के सन्मुख किया तब धृतराष्ट्र ने भीम के भ्रम से उस लोहमय भीम को बलपूर्वक हृदय लगाकर चूर्ण कर दिया और फिर रुधिर का वमन करते हुए पृथ्वी पर गिरकर कपट से रुदन करने लगे कि 'हाय! मुझ से बड़ा अनर्थ हुआ जो मोह के कारण मैंने भीमसेन को चूर्ण कर दिया, यह मुझे अपने पुत्रों के मरने से भी अधिक शोक हुआ'। इस प्रकार विलाप करते हुए धृतराष्ट्र से श्रीकृष्ण बोले 'हे राजन्! आप कुछ चिन्ता न कीजिए, भीमसेन मरे नहीं है। मैंने प्रथम ही लोहे का भीम बना रखा था। उसी को आपसे मिलाया है और उसी को आपने चूर्ण किया है। यह सुनकर धृतराष्ट्र कपटपूर्वक हर्षित हुए। विस्तार के लिये स्त्री-पर्व देखें ॥ ९६ ॥

दुःखायासहतेन क्षितिभर्त्रा तदनु हतधिया सह तेन।
गङ्गावप्रे तेभ्यः प्रददुस्ते सलिलमाहवप्रेतेभ्यः॥ ९७॥

अनुवाद—इसके पश्चात् महान् दुःख के कारण दुःखी तथा मोहित बुद्धि-वाले राजा धृतराष्ट्र के साथ, उन पाण्डवों ने गंगा के तट पर, युद्ध में मरे हुए वीरों के लिये जलाञ्जलि-दान किया ॥ ९७ ॥

तत्र च तापनिमग्नाविद्धेव जवात्पृथा जगाद तापनिमग्ना।
स्मृतकर्तव्या जातं वैकर्तनिमात्मनो गतव्याजा तम्॥ ९८॥

अनुवाद—वहाँ पर सन्ताप में डूबी हुई कुन्ती ने मानो अग्नि में निर्मल होकर, शीघ्र ही अपने कर्तव्य का स्मरण करके बिना छल-कपट के युधिष्ठिर को, अपने से उत्पन्न हुए कर्ण (वैकर्तनम्) को सूर्य का पुत्र (तापनिम्) बतलाया ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—सन्ताप में डूबी हुई कुन्ती ने युधिष्ठिर को, 'सूर्य से कर्ण की

उत्पत्ति' का सारा वृत्तान्त सुनाया, तब कर्ण को अपना ज्येष्ठ भ्राता जान युधिष्ठिर ने बहुत पश्चात्ताप किया ॥ ९८ ॥

स च राजा तापनये कृतपरितापो वधेऽस्य जाततापनये ।
स्वगुणैर्भास्वरिताय प्रददौ सलिलं निरस्तभाः स्वरिताय ॥ ९९ ॥

अनुवाद—कुनीति के कारण होनेवाले कर्ण के वध पर सन्ताप करते हुए राजा युधिष्ठिर ने, अपने गुणों से सुशोभित तथा दिवंगत कर्ण (तापनये) को (दुःख के कारण) कान्तिविहीन होकर जल प्रदान किया ॥ ९९ ॥

कृतपितृजनकार्येण त्यक्तशुचा धर्मजेन जनकार्येण ।
प्रापे पूर्वार्यानां नादैः पूर्णा पुरेव पूर्वार्यानाम् ॥ १०० ॥

अनुवाद—पितरों के (तर्पणरूप) कार्य को करनेवाले तथा जनक के समान आर्य, धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने शोक त्याग कर (शंख, दुन्दुभि, मृदङ्गादि) वाद्यों के नाद से पूर्ण पूर्वजों की नगरी को, पहले की तरह ही प्राप्त किया ॥ १०० ॥

स निहतचार्वाककारी राजा राज्यं समेत्य चार्वाकारो ।
विधिवत्त्यक्तपरागः पृथ्वीं नृपमौलिपतितपादपरागः ॥ १०१ ॥

अनुवाद—चार्वाक-पथगामी अर्थात् नास्तिक शत्रुओं को मारकर, सुन्दर आकार (शरीर) वाले तथा राजाओं के मस्तक पर गिरती हुई चरण-रेणुवाले राजा युधिष्ठिर ने, राज्य पाकर विषयासक्ति का त्याग करके, विधिवत् पृथ्वी की रक्षा की ॥ १०१ ॥

साम्नो वक्ता महतः सकलं ज्ञानं कुरोः कुलपितामहतः ।
स कनीयो गोविन्दद्योतितकृत्यः कृतानुयोगोऽविन्दद् ॥ १०२ ॥

अनुवाद—महान् साम (शान्ति) के वक्ता—अथवा महान् सामवेद के अध्येता—तथा श्रीकृष्ण के द्वारा संदर्शित कृत्योंवाले युधिष्ठिर ने प्रश्नों के द्वारा कुरुकुल के पितामह भीष्मपितामह से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—युद्ध के बाद शोक के कारण राज्य करने की इच्छा से विरक्त हुए युधिष्ठिर को रणभूमि में शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मपितामह ने राजनीति, चतुर्वर्ग-प्राप्ति एवं मोक्षादि का उपदेश दिया था जो कि शान्तिपर्व में सविस्तार देखा जा सकता है ॥ १०२ ॥

पदमत्र च मुक्ततनावसुभिर्वसुभिः समुपेयुषि शान्तनवे ।
धृतराष्ट्रमुखैर्गुरुभिः सह तां स हलांढसमन्वशिषद्वसुधाम् ॥ १०३ ॥

अनुवाद—प्राणों से रहित शरीरवाले भीष्मपितामह के, (आठ) वसुओं

के साथ परमपद को प्राप्त कर चुकने पर, राजा युधिष्ठिर ने पापरहित पृथ्वी पर धृतराष्ट्र-प्रभृति कुलगुरुओं के साथ शासन किया ॥ १०३ ॥

वसुधान्यवर्ती वशयन् वसुधां परम हयमेधमनल्परसम् ।
सहितो यजनाभिमुखैः सहितो महितं विततान निकामहितम् ॥ १०४ ॥

अनुवाद—धनधान्यपूर्ण पृथ्वी को दिग्विजय के द्वारा वश में करते हुए, यजनादि कर्मों से युक्त युधिष्ठिर ने, (महान् भक्तिभावना के साथ अत्यन्त हितकारी, श्रेष्ठ और पूज्य अश्वमेधयज्ञ सम्पादित किया ॥ १०४ ॥

सुखेन नागसाह्वये पुरे वसन्सभारतः ।
ररक्ष गां पुरूरवाः पुरेव सन्स भारतः ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाकविवासुदेवविरचिते युधिष्ठिरविजये
महाकाव्येऽष्टम आश्वासः ।

अनुवाद—सज्जनों की सभा में तल्लीन भरतवंशी युधिष्ठिर ने, सुखपूर्वक हस्तिनापुर में निवास करते हुए, प्राचीनकाल में पुरूरवा के समान, पृथ्वी की रक्षा की ॥ १०५ ॥

टिप्पणी—पुरूरवा एवं उर्वशी का आख्यान वेद, पुराण और महाभारत में आया हुआ है। उसकी वीरता और यशस्विता का परिचय उसके निष्कलंक चरित के पढ़ने से पता लगता है। कवि ने युधिष्ठिर की उपमा पुरूरवा से देकर उनके चरित को और भी अधिक ऊँचा उठा दिया है साथ ही पुरूरवा के राज्य से उनके राज्य की तुलना करके कवि ने हस्तिनापुर की तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का भी सम्यक् परिचय प्रस्तुत किया ॥ १०५ ॥

इति अष्टम आश्वासः ।

समाप्तश्चैष युधिष्ठिरविजयाख्यो ग्रन्थः ।

श्लोकानुक्रमणिका

पाठान्तराणि

आश्वासे	श्लोके	मूलम्	पाठान्तराणि
१	५२	'निवबु'	'निर्ववु'
,,	५६	'यथापदव्याज'	'यथावदव्याज'
,,	७२	'शास्त्रबाधी'	'शस्त्राबाधी' 'शत्रुबाधी'
,,	९१	'वस्त्राण्यावेद्य,	'वस्त्राण्यावेष्ट्य'
२	१६	'पुरोदरवस्तु'	'पुरवरोदरवस्तु'
,,	२४	'पश्यन्नलिनी'	'गच्छन्नलिनी'
,,	३२	'पाणिमुपेत'	'तत्पाणि'
३	१७	'तेन'	'तच्च'
,,	८५	'नयिष्यामि'	'न नेष्यामि'
५	१	'पराभवं'	'परिभव'
६	११	'ज्वालानि'	'जातानि'
,,	२४	'राज्ञ'	'पुत्रः'
,,	३२	'लंघनीयजव'	'लंघनीयतुरगजवं'
,,	३९	'सोऽप्यभिया'	'सोऽप्यभिया'
,,	१०९	'गृहपनाना'	'गृहधनाना'
७	७२	'यातेपु'	'यानेपु'
,,	१३४	'मरणावस्था'	'मरणावेक्षा'
,,	१४१	'दशमहा'	'दशा महा'
८	७४	'विचित्य'	'विचिन्त्य'
,,	१०४	'मनल्परसम्'	'मनल्परमम्'

पाठान्तराणि

आश्वासे	श्लोके	मूलम्	पाठान्तराणि
१	५२	'निवबु'	'निर्वबु'
,	५६	'यथापदव्याज'	'यथावदव्याज'
,,	७२	'शास्त्रबाधी'	'शस्त्राबाधी' 'शत्रुबाधी'
,,	९१	'वस्त्राण्यावेद्य,	'वस्त्राण्याविष्टय'
२	१६	'पुरोदरवस्तु'	'पुरवरोदरवस्तु'
,,	२४	'पश्यन्नल्गिनी'	'गच्छन्नल्गिनी'
,	३२	'पाणिमुपेत'	'तत्पाणि'
३	१७	'तेन'	'तच्च'
,,	८५	'नयिष्यामि'	'न नेष्यामि'
५	१	'पराभव'	'परिभव'
६	११	'ज्वालानि'	'जातानि'
,,	२४	'राज्ञ'	'पुत्र'
,,	३२	'लघनीयजव'	'लघनीयतुरगजव'
,,	३९	'सोऽप्याभिया'	'सोऽप्यभिया'
,,	१०९	'गृहपनाना'	'गृहधनाना'
७	७२	'यातेपु'	'यानेषु'
,,	१३४	'मरणावस्था'	'मरणावेक्षा
,	१४१	'दशमहा'	'दशा महा'
८	७४	'विचित्य'	'विचिन्त्य'
,	१०४	'मनल्परसम्'	'मनल्परमम्'